

अनेकान्त 67/1, जनवरी-मार्च 2014

1

Year-67, Volume-1
RNI No. 10591/62

Jan.- March. 2014
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANT

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना

Pt. Nihal Chand Jain- Bina

(निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली)

Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi

प्रो. डॉ. राजाराम जैन-नौयडा

Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida

प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ

Prof. Dr. Vrashabh Prasad Jain, Lucknow

प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर

Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur

प्रो. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत

Prof. Dr. Shreyans Kr. Jain, Baraut

श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली

Sh. Roop Chand Kataria, New Delhi

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

जीवन की सार्थकता

आत्मा इस संसार में, तड़पे यों दिन-रैन।
जल बिन तड़पे मीन ज्यों, जल में भी बेचैन॥१॥
अष्टापद, जलचर, मकर, अनगिन बैरी और।
धर्म बिना भव सिंधु में, मिले न सुख का ठौर॥२॥
पीछे खाई में गिरें, आगे गहरा कूप।
जन्म-मरण का बंध है, कर्मों के अनुरूप॥३॥
त्याग बिना जीवन नहीं, ज्ञान बिना न उपाय।
धर्म बिना संसार में, जून अकारथ जाय॥४॥
कितने बैरी जान के, जीवन है बेहाल।
काम-क्रोध-मद-लोभ या, मोह फँसाये जाल॥५॥
आगा-पीछा सोच लो, जग की चाह अथाह।
नश्वर-तन की मुक्ति हित, पकड़ धर्म की राह॥६॥
बचपन खोया खेल में, यौवन विषयों हेत।
ढले बुढापा खाँसते, चेत सके तो चेत॥७॥
तीर्थकर भगवान का, मन में करके ध्यान।
जिनराजों की राहचल, जडमति होय सुजान॥८॥
पूज्य शिखरजी तीर्थ पर, बहे धर्म की व्यार।
जिनवाणी के मनन से, हो भवसागर पार॥९॥

- सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन)
नई दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

<u>विषय</u>	<u>लेखक का नाम</u>	<u>पृष्ठ संख्या</u>
जीवन की सार्थकता- दोहे	सुभाष जैन	3
अनुक्रमणिका		4
१. अजीवतत्त्व एवं अन्य दर्शनों से तुलना (गतांक से आगे)	डॉ. जयकुमार जैन	5-18
२. धर्मध्यान और उसका फल	डॉ. श्रेयांश कुमार जैन	19-31
३. सल्लेखना, समाधिमरण व तत्संबन्धित पारिभाषिक	डॉ. वृषभप्रसाद जैन	32-41
४. जैनदर्शन में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की अवधारणा	डॉ. मारूफ उर रहमान	42-49
५. Anekant A way of Peace	Samani Rohit Prayga	50-56
६. जिन प्रतिमाओं की स्थापना का आधार	डॉ. संगीता सिंह	57-64
७. प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं अर्धमागधी भाषा एक अध्ययन	पद्ममुनि	65-80
८. जैन दार्शनिकेषु देवसेनाचार्यस्य वैशिष्ट्यम्	सुनील जैन 'संचय'	81-89
९. एक विस्मृत गाँधी	डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री	90-95
१०. पुस्तक समीक्षा		96

गतांक से आगे.....

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में अजीव तत्त्व एवं अन्य दर्शनों से तुलना

• डॉ. जयकुमार जैन

१. पुद्गल द्रव्य :

भट्ट अकलंक देव ने तत्त्वार्थवार्तिक में पुद्गल की अन्वर्थ निरुक्ति करते हुए कहा है - 'पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः।' ^{१४} अर्थात् जो पूरण और गलन को प्राप्त हों वे पुद्गल हैं। यतः यह मूर्त द्रव्य भेद और संघात के कारण पूरण और गलन को प्राप्त होता है, अतः इसकी पुद्गल अन्वर्थ संज्ञा है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने भी 'त्रिकालपूरणगलनात् पुद्गला इति' ^{१५} पुद्गल का निर्वचन किया है। अर्थात् तीनों कालों में इसमें पूरण या गलन होता रहता है, अतः यह पुद्गल है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जे.एस. जवेरी ने पुद्गल की परिभाषा करे हुए लिखा है -

'पुद् Means to combine and गल Means to separate, hence the meaning of the word पुद्गल is that which undergoes modifications by combination and separation. In the word of modern science we can say that which is fissionable and fusionable is पुद्गल।' ^{१६}

गुणों की अपेक्षा पुद्गलों का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य उमास्वामी ने कहा है- 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।' ^{१७} अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं। पुद्गल की परिभाषा को प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है -

'उपभोज्जमिंदिएहि य इंदियकाया मणो य कम्माणि।

जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पोग्गलं जाणं।' ^{१८}

अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा उपभोग्य विषय, पाँचों इन्द्रियाँ, पाँचों शरीर, मन, कर्म तथा जो कुछ भी मूर्त है, वह सब पुद्गल भेद समझना चाहिए।

आचार्य उमास्वामी ने रूपी पदार्थ को पुद्गल कहा है- 'रूपिणः पुद्गलाः।' रूप शब्द के यद्यपि स्वभाव, तादात्म्य आदि अनेक अर्थ हैं, किन्तु

यहाँ रूप का अर्थ मूर्ति है। यतः स्पर्श, रस, गन्ध और रूप सदा एक साथ ही पाये जाते हैं, अतः रूपी कहने से स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण वाले पदार्थों का बोध होता है। यहाँ रूप शब्द उपलक्षण है, अतः उसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध वाले स्पर्श, रस एवं गन्ध का भी ग्रहण अभीष्ट है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने कहा है -

‘अरूपित्वापवादोऽयं रूपिणः पुद्गला इति।
रूपं मूर्तिरहि ज्ञेया न स्वभावोऽखिलार्थभाक्॥
रूपादिपरिणामस्य मूर्तित्वेनाभिधानतः।
स्पर्शादिमत्त्वमेतेषामुपलक्ष्येत तत्त्वतः॥^{१०}

वे आगे स्पष्ट करते हैं कि स्पर्श आदि गुण वाले पुद्गल होते हैं- ऐसा कहने से वैशेषिकों द्वारा मान्य पृथिवी, जल, अग्नि, वायु द्रव्यों का निराकरण हो जाता है। क्योंकि ये पुद्गल द्रव्य की ही पर्यायें हैं। यतः स्पर्श आदि चारों गुण एक दूसरे के अविनाभावी हैं, अतः किसी के दिखाई न देने/ अनुपलब्ध होने पर उसका अभाव नहीं मान लेना चाहिए। अनुमान प्रमाण से उनकी सिद्धि कर लेना चाहिए। कहा भी गया है -

‘अथ स्पर्शादिमन्तः स्युः पुद्गला इति सूचनात्।
क्षित्यादिजातिभेदानां प्रकल्पननिराकृतिः॥
नाभावोऽन्यतमस्यापि स्पर्शादीनामट्टष्टितः।
तस्यानुमानसिद्धत्वात्स्वाभिप्रेतार्थतत्त्ववित्॥^{११}

अनुपलब्धि प्रत्यक्ष प्रमाण की निवृत्ति साधक तो हो सकती है, किन्तु इससे अनुमान एवं आगम प्रमाण की निवृत्ति सिद्ध नहीं होती है। स्वयं नैयायिक-वैशेषिक अनेक अनुपलब्ध बातों की सिद्धि अनुमान एवं आप्तवचन (आगम) प्रमाण से करते हैं।

पुद्गल की पर्यायें :

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता संस्थान (आकृति), भेद (टुकड़ा होना), अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत (अनुष्ण प्रभा) को पुद्गल की पर्यायें कहा है।^{१२}

यहाँ यह विशेषता है कि स्पर्शादि तो परमाणुओं के भी होते हैं और स्कन्धों के भी होते हैं, जबकि शब्द आदि व्यक्त रूप से स्कन्धों के ही होते

हैं। सूक्ष्म पर्याय अणु में ही होती है, स्कन्धों में तो सूक्ष्म पर्याय सापेक्ष है।^{३३}

पुद्गल के कार्य या उपकार :

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में 'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् एवं 'सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च'^{३४} कहकर जीवों के उपयोग में आ रहे पाँचों के शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास को पुद्गल कार्य कहा है तथा सुख, दुख, जीवन एवं मरण को पुद्गल का कार्य कहा है। शरीर, वचन, मन एवं श्वासोच्छ्वास पुद्गल वर्गणाओं द्वारा निर्मित हैं ही, सुख-दुख एवं जीवन-मरण भी पुद्गलकृत कार्य हैं, क्योंकि पुद्गल-मूर्त कारणों के रहने पर ही इनकी उत्पत्ति होती है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं- 'एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकारः, मूर्तिमद्देहेतुसन्निधने सति तदुत्पत्तेः।'^{३५} आचार्य विद्यानन्दि स्वामी का कथन है कि जीव में विपाक को करने वाली सातावेदनीय, असाता वेदनीय आदि कर्म स्वरूप पुद्गलों का उपकार जीव के लिए सुख आदि अनुग्रह करना है। इन सुख आदि उपग्रहों से उनके कारणभूत अतीन्द्रिय पुद्गलों का अनुमान कर लिया जाता है -

'सुखाद्युपग्रहाश्चोपकारो जीवविपाकिनाम्।

सातावेद्यादिकर्मात्मपुद्गलानामितोऽनुमा।।'^{३६}

पुद्गल के भेद :

तत्त्वार्थसूत्र में पुद्गल के दो भेद किये गये हैं - अणु और स्कन्ध। अणुओं की उत्पत्ति भेद से होती है, जबकि स्कन्धों की उत्पत्ति भेद और संघात दोनों से होती है। एक ही समय में हुए भेद और संघात से स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय का विषय बन जाते हैं।^{३७} स्कन्ध तीन प्रकार का होता है- स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्ध प्रदेश। अनन्तानन्त परमाणुओं से निर्मित होने पर जो एक हो वह स्कन्ध है। एक स्कन्ध के आधे को स्कन्धदेश तथा उसके आधे को स्कन्ध प्रदेश कहा जाता है। परमाणु स्कन्ध का अविभागी पुद्गलांश है। यह एक प्रदेशी है, आदि - मध्य-अन्त से रहित है तथा विभाग विहीन होता है। परमाणु को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

(२) धर्म द्रव्य और (३) अधर्म द्रव्य :

जैन दर्शन में धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य में धर्म और अधर्म शब्द

पारिभाषिक है। इनका प्रयोग स्वभाव-विभाव या पुण्य-पाप के अर्थ में नहीं हुआ है। अपितु गति में कारणभूत द्रव्य को धर्म और स्थिति में कारणभूत द्रव्य को अधर्म कहा गया है। धर्मद्रव्य स्वयं गति करने वाले जीव एवं पुद्गलों की गति में उदासीन निमित्त है, यह प्रेरक नहीं है। उसी प्रकार अधर्म द्रव्य स्थिति करने वाले जीव एवं पुद्गलों की स्थिति में उदासीन निमित्त है, यह प्रेरक नहीं है। अन्य किसी भी जैनेतर भारतीय दर्शन ने गति एवं स्थिति क्रिया के निमित्त रूप में किसी स्वतंत्र द्रव्य को स्वीकार नहीं किया है। जबकि विज्ञान ईथर और स्पेस नामक पदार्थों को स्वीकार करता है, जो अमूर्तिक, व्यापक, निष्क्रिय और अदृश्य हैं तथा गति एवं स्थिति में आवश्यक माध्यम हैं।³⁶ जैन दर्शन के अनुसार धर्म और अधर्म द्रव्य में नित्यता, अरूपिता एवं अवस्थिता आकाश द्रव्य के समान है।³⁷ जिस प्रकार मछली के गमन में जल साधारण उदासीन निमित्त है, उसी प्रकार जीव एवं पुद्गलों के गमन में धर्म द्रव्य साधारण उदासीन निमित्त है। इसी तरह जिस प्रकार अश्व आदि के ठहरने में भूमि एवं राहगीर के ठहरने में पेड़ की छाया साधारण उदासीन निमित्त है, उसी प्रकार जीव एवं पुद्गलों के ठहरने में अधर्म द्रव्य साधारण उदासीन निमित्त है। जैसे जल, भूमि या वृक्ष की छाया चलने या ठहरने की स्वयं प्रेरणा नहीं देते हैं, उसी प्रकार धर्म एवं अधर्म द्रव्य भी स्वयं चलने या ठहरने की प्रेरणा नहीं देते हैं।

भट्ट अकलंक देव ने स्वयं क्रिया में परिणत जीव एवं पुद्गलों को सहायक द्रव्य को धर्म तथा उससे विपरीत अर्थात् स्वयं क्रिया से विरत जीव एवं पुद्गलों की स्थिति में सहायक द्रव्य को अधर्म कहा है- 'स्वयं क्रिया परिणामिनां साचिव्यधानाद्धर्मः। तद्विपरीतोऽधर्मः'।³⁸ धर्म द्रव्य ही सर्वदा जीव एवं पुद्गलों की गति का तथा अधर्म द्रव्य ही सदा जीव पुद्गलों की स्थिति का कारण है। आचार्य उमास्वामी का कहना है कि स्वाभाविक गति वाला कर्ममुक्त जीव भी धर्म द्रव्य के अभाव के कारण लोकाकाश से आगे अलोकाकाश में गति नहीं कर पाता है।³⁹ लोक एवं अलोक का विभाजन भी धर्मादि द्रव्यों (आकाश को छोड़कर) की सत्ता एवं असत्ता के आधार पर ही किया गया है।

लोक की व्यवस्था में धर्म एवं अधर्म द्रव्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं -

‘उदयं जह मच्छाणं गमणाणुगहकरं हवदि लोए।

तह जीव पोग्गलाणं धम्मं दव्वं विदाणीहि॥^{१२}

अर्थात् जिस प्रकार लोक में पानी मछलियों के गमन में अनुग्रह पूर्वक सहायता करता है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीवों एवं पुद्गलों के गमन करने में अनुग्रहपूर्वक सहायता करता है।

‘ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।

हवदि गदिस्स य पसरो जीवाणं पोग्गलाणं च॥^{१३}

अर्थात् धर्मास्तिकाय (धर्म द्रव्य) गमन नहीं करता है और अन्य किसी द्रव्य को भी वह बलात् गमन नहीं कराता है। वह तो जीवों तथा पुद्गलों की गति का उदासीन प्रसारक है। धर्म द्रव्य की जैसी गति में स्थिति है, वैसी ही अधर्म द्रव्य की स्थिति में स्थित है।

वास्तव में धर्म और अधर्म दोनों ही द्रव्यों की लोकव्यवस्था के लिए अत्यन्त महत्ता है। विश्व में धर्म द्रव्य के बिना कोई भी गतिशीलता नहीं बन सकेगी, गमनागमन सर्वथा रुक जायेगा तथा जड़ता एवं स्थिरता व्याप जायेगी। यदि अधर्म द्रव्य न होता तो लोक में जीव एवं पुद्गल चलायमान ही बने रहते तथा स्थायित्व नहीं बन सकता। अतः दोनों की अपनी-अपनी महत्ता असंदिग्ध है।

आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने धर्म द्रव्य एवं अधर्म द्रव्य में प्रयुक्त धर्म एवं अधर्म शब्दों का निर्वचन करते हुए लिखा है - ‘सकृत्सकलगतिपरिणामिनां सान्निध्याद्धर्मः’ सकृत्सकलगतिपरिणामिनां सान्निध्याद्गति विपर्ययाद् धर्मः।^{१४} अर्थात् गमन परिणाम वाले संपूर्ण जीव या पुद्गलों के युगपद् सहकारिपने को धारण करने से धर्म कहा गया है तथा स्थिति परिणाम वाले सम्पूर्ण द्रव्यों के एक साथ सान्निध्य को धारण करने के कारण अधर्म द्रव्य कहा गया है। अधर्म द्रव्य धर्म द्रव्य का विपरीत है क्योंकि धर्म द्रव्य गति में कारण है, जबकि अधर्म द्रव्य स्थिति में कारण है।

धर्म एवं अधर्म की एक द्रव्यता :

‘आ आकाशादेकद्रव्याणि’^{१५} कहकर आचार्य उमास्वामी ने धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं आकाश द्रव्य को एक-एक कहा है तथा परिशेषन्याय से शेष द्रव्यों को अनेक कहा है। वे धर्म एवं अधर्म द्रव्य की एक होने की सिद्धि करते

हुए कहते हैं -

‘एकद्रव्यमयं धर्मः स्यादधर्मश्च तत्त्वतः।

महत्त्वे सत्यमूर्तत्वात्खवत् सिद्धिवादिनाम्॥^{४६}

वास्तव में धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य एक द्रव्य है। क्योंकि ये आकाश के समान महापरिमाण वाले एवं अमूर्त हैं। आकाश को एक मानने वाले नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य आदि को धर्म एवं अधर्म द्रव्यों को एक स्वीकारना चाहिए।

धर्म एवं अधर्म द्रव्य का अवगाह :

धर्म एवं अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में ठसाठस अन्तराल से रहित होकर विद्यमान है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी लिखते हैं -

‘धर्माधर्मौ मतौ कृत्स्नलोकाकाशावगाहिनौ।

गच्छतिष्ठत्यदार्थानां सर्वेषामुपकारतः॥^{४७}

अर्थात् सम्पूर्ण लोकाकाश में गमन कर रहे पदार्थों का उपकार धर्म द्रव्य से होता है और ठहर रहे पदार्थों का ठहरा देना रूप उपकार अधर्म द्रव्य से होता है। अतः ये दोनों द्रव्य पूरे लोकाकाश में अवगाह किये हुए माने गये हैं। यद्यपि धर्म एवं अधर्म द्रव्य इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, तथापि इन्द्रियग्राह्य अविनाभावी कार्य हेतु से अतीन्द्रिय कारण का ज्ञान हो जाता है।^{४८}

(४) आकाश द्रव्य :

जीव, पुद्गल आदि द्रव्य जिसमें एक साथ अवगाह - स्थान पाते हैं, उस द्रव्य का नाम आकाश है। यह निष्क्रिय है और यह रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श से रहित होने के कारण अमूर्तिक है। अवगाह या अवकाश देना आकाश का असाधारण गुण है। तत्त्वार्थसूत्र में आकाश द्रव्य का वर्णन करते हुए ‘आकाशस्यावगाह’ कहकर अवगाह देना इसका कार्य या उपकार कहा गया है।^{४९} सर्वार्थसिद्धि में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है - ‘जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानमवगाह आकाशस्योपकारो वेदितव्यः’^{५०} अर्थात् अवगाहन करने वाले जीव और पुद्गलों को अवकाश देना आकाश का उपकार जानना चाहिए। आकाश का निर्वचन करते हुए आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने कहा है - ‘आकाशन्तेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं वाकाशते इत्याकाशः’^{५१}

अर्थात् जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य युगपत् अवकाश पाते हैं अथवा स्वयं आकाश भी जिसमें अवगाह पाता है, वह आकाश है।

द्रव्यों की संख्या की विचारणा में यह पहले ही कहा जा चुका है कि दिशा कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। आकाश के प्रदेशों की पंक्तियाँ सर्वतः वस्त्र में धागों की तरह श्रेणीबद्ध है। एक परमाणु के द्वारा घेरे गये आकाश को एक प्रदेश कहते हैं। इसलिए आकाश में अनन्त प्रदेश कहे गये हैं। यदि पूर्व आदि दिशाओं को पृथक् स्वतंत्र द्रव्य माना जायेगा तो प्रदेश, जनपद, नगर आदि अनेक स्वतंत्र द्रव्यों की कल्पना करना पड़ेगी। चार्वाक मतानुयायी आकाश को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर मूर्त द्रव्यों का अभाव स्वीकार करते हैं, जो उचित नहीं है। क्योंकि गुण एवं पर्याय वाला होना (गुणपर्यायवद् द्रव्यम्) या सत्ता वाला होना (सद्द्रव्यलक्षणम्) द्रव्य का लक्षण आकाश में घटित होता है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने 'तथाकाशमतो नैषां गुणाभावस्वभावता'^{५२} कहकर स्पष्ट किया है कि अन्य द्रव्यों के समान आकाश भी गुणों वाला है, अतः आकाश को अभावात्मक स्वभाव वाला नहीं माना जा सकता है। धर्म एवं अधर्म द्रव्य की तरह आकाश भी एक द्रव्य है।^{५३} धर्म एवं अधर्म द्रव्यों की तरह आकाश भी परिस्पन्द रूप क्रिया से रहित निष्क्रिय द्रव्य है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के 'निष्क्रियाणि च' (५.७) पर वार्तिक लिखा है -

'निष्क्रियाणि च तानीति परिस्पन्दविमुक्तिः।

सूत्रितं त्रिजगद्व्यापिरूपाणां स्पन्दहानितः॥'^{५४}

देश से देशान्तर होना रूप परिस्पन्द न होने से सूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने उन धर्म, अधर्म और आकाश को निष्क्रिय कहा है। क्योंकि ये तीनों जगत् में सर्वत्र व्यापक स्वरूप वाले हैं तथा इनमें हलन-चलन आदि नहीं हो सकता है। जब ये जगत् में सर्वत्र ठसे हुए हैं तो इनमें परिस्पन्द रूप क्रिया हो ही नहीं सकती है।

आकाश की एक द्रव्यता एवं उसकी निरंशता का निरसन :

जैन दर्शन धर्म एवं अधर्म द्रव्य के समान आकाश को भी एक द्रव्य मानता है। आकाश की एक द्रव्यता तो वैशेषिकों को भी मान्य है। उन्होंने 'तत्त्वं भावेन' एवं 'शब्दलिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च'^{५५} इन दो सूत्रों से आकाश का एक द्रव्यपना सिद्ध किया है। वे आकाश को व्यापक तो मानते हैं,

किन्तु निरंश मानते हैं। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी का कथन है कि जो निरंश होगा, वह सम्पूर्ण स्थानों में व्याप्त कैसे हो सकता है ? अथवा जो व्यापक है, वह निरंश कैसे हो सकता है ? अतः वैशेषिकों के द्वारा आकाश को व्यापक मानते हुए भी निरंश मानना समीचीन नहीं है। निरंश व्यापक नहीं हो सकता है। जैसे परमाणु निरंश है, इसलिए व्यापक नहीं है। वैशेषिक आकाश के निरंशपने को सिद्ध करने में सर्वजगद्व्यापकपना हेतु देते हैं वह, कालात्यापदिष्ट या बाधितविषय हेत्वाभास है। क्योंकि आकाश को निरंशता अनुमान एवं आगम प्रमाण से बाधित है। यथा आकाश अंशों सहित है। एक ही बार में भिन्न-भिन्न देशवर्ती द्रव्यों के साथ संबन्ध होने से। भित्ति आदि के समान। इस प्रतिज्ञा, हेतु एवं अन्वय दृष्टान्त से आकाश के सांशपने की सिद्धि हो जाती है।^{१६}

शब्द आकाश का गुण नहीं :

वैशेषिक शब्द गुण वाले द्रव्य का नाम आकाश मानते हैं, वह एक विभु एवं नित्य है।^{१७} उनके अनुसार आकाश का लक्षण है - 'शब्दसमवायिकारणम् आकाशत्वम्' अर्थात् जो शब्द का समवायिकारण है, वह आकाश है। विभु का लक्षण है- 'सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्' अर्थात् जो सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों का संयोगी है, उसे विभु कहते हैं। विभु चार माने गये हैं- आकाश, काल, दिक् और आत्मा। मूर्त का लक्षण है- 'क्रियावत्त्वं मूर्तत्वम्' अर्थात् जिसमें क्रिया रहती है, उसे मूर्त कहते हैं। मूर्त द्रव्य पाँच माने गये हैं- पृथिवी, अप्, तेज, वायु और मन।^{१८}

वैशेषिकों द्वारा शब्द को आकाश का गुण माना जाना पहले ही खण्डित किया जा चुका है। क्योंकि शब्द तो पुद्गल की पर्याय है। पुद्गल द्रव्य के वर्णन में शब्द को पौद्गलिक सिद्ध किया जा चुका है। शब्द इन्द्रियग्राह्य है, उसे पकड़ा जा सकता है- यह वैज्ञानिक प्रयोगों से भी सिद्ध किया जा चुका है।

आकाश के भेद :

आकाश दो भागों में विभक्त है - लोकाकाश और अलोकाकाश।^{१९} आचार्य पूज्यपाद ने इनका लक्षण करते हुए कहा है - 'धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि

यत्र लोक्यन्ते स लोक इति। स यत्र तल्लोकाकाशम्। ततो बहिः सर्वतोऽनन्तालोकाकाशम्।^{६०} अर्थात् जहाँ पर धर्म आदि द्रव्य देखे जाते हैं वह लोक है, वह लोक जहाँ है वह लोकाकाश है। उससे बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है। अलोकाकाश में आकाश को छोड़कर अन्य कोई द्रव्य नहीं है। यदि लोक से बाहर अलोकाकाश में भी कुछ द्रव्यों का अवगाह माना जायेगा तो उसे लोकपने का ही प्रसंग हो जायेगा। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने कहा है -

‘लोकाकाशेऽवगाहः स्यात्सर्वेषामवगाहिनाम्।
बाह्यतोऽसंभवात्तस्माल्लोकत्वस्यानुषंगतः॥
लोकाकाशस्य नान्यस्मिन्नवगाहः क्वचिन्मतः।
आकाशस्य विभुत्वेन स्वप्रतिष्ठत्वसिद्धितः॥

स्पष्ट है कि आकाश विभु होने से स्वप्रतिष्ठित है, अन्य द्रव्यों का उस आकाश में अवगाह है। तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि यदि आकाश से अधिक प्रमाण वाला कोई द्रव्य होता तो वह आकाश का आधार हो सकता था। ऐसा नहीं है अतः आकाश का कोई आधार नहीं है, वह स्वप्रतिष्ठित है।^{६१}

(५) काल द्रव्य :

तत्त्वार्थसूत्र के पञ्चम अध्याय के प्रथम सूत्र में ‘अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः’ कहकर धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चार अस्तिकाय अजीव द्रव्यों का उल्लेख किया गया था। इन चारों के अतिरिक्त काल नामक एक अनस्तिकाय अजीव द्रव्य भी है, जिसका उल्लेख आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में ‘कालश्च’ सूत्र द्वारा किया है। इसके पूर्व द्रव्यों के कार्य/उपकार के प्रसंग में काल द्रव्य के कार्य/उपकारों का कथन भी तत्त्वार्थसूत्र में आया है।

श्वेताम्बर जैन परम्परा में कतिपय आचार्य काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते हैं, किन्तु उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य रूप द्रव्य का लक्षण घटित होने के कारण अधिकांश श्वेताम्बर जैन परम्परा तथा सम्पूर्ण दिगम्बर जैन परम्परा काल को द्रव्य स्वीकार करती है। काल में ध्रौव्य तो स्वप्रत्यय है ही, उत्पाद-व्यय पर द्रव्यों में वर्तना का कारण होने से पर प्रत्यय तथा अगुरुलघु गुण की हानि-वृद्धि की अपेक्षा काल में उत्पाद व्यय स्वप्रत्यय भी है। अतः काल द्रव्य

की सत्ता सिद्ध होती है।^{६२} इसका लक्षणा वर्तना है- 'वर्तनालक्षणः कालः।'^{६३}

काल द्रव्य अन्य द्रव्यों के समान असंख्यातप्रदेशी या अनन्तप्रदेशी नहीं है, अपितु लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने काल द्रव्य हैं। प्रत्येक काल द्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित है। काल द्रव्य अनन्त समय पर्याय वाला है। अनन्त समय का निर्देश व्यवहार काल का है। वर्तमान काल एक समय का है पर भूत एवं भविष्यत् काल अनन्त समय वाले हैं। अथवा मुख्य ही कालाणु अनन्त पर्यायों की वर्तना में कारण होने से अनन्त कहा जाता है। अतिसूक्ष्म अविभागी कालांश को समय कहते हैं।

काल द्रव्य में मुख्य या उपचार से प्रदेश प्रचय की कल्पना नहीं बनती है, इसलिए वह अकाय है और धर्मादि द्रव्यों के प्रदेश के समान असंख्यात प्रदेशी है। कालाणु एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान विद्यमान है।^{६४} ये परमाणु रूपादि गुणों से रहित अरूपी हैं।

काल द्रव्य के गुण :

आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने काल द्रव्य के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है -

‘निःशेष द्रव्यसंयोगविभागादिगुणाश्रयः।

कालः सामान्यतः सिद्धः सूक्ष्मत्वाद्याश्रयो भिदा।

क्रमवृत्तिपदार्थानां वृत्तिकारणतादयः।

पर्यायाः सन्ति कालस्य गुणपर्यायवानतः॥’^{६५}

अर्थात् सामान्य रूप से सभी द्रव्यों के साथ संयोग होना या विभाग होना एवं संख्या, परिमाण आदि गुणों का आश्रय होना काल द्रव्य को सिद्ध करता है। विशेष रूप से कथन करने पर सूक्ष्मत्व, वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व, अरूपित्व आदि गुणों का आधार काल द्रव्य है। क्रमशः वर्तन कर रहे पदार्थों की वर्तना कराने में कारणपना अर्थात् पदार्थ को जीर्ण-शीर्ण करना तथा स्वयं अचेतन बने रहना काल द्रव्य की पर्यायें हैं।

काल द्रव्य के कार्य :

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार या कार्य हैं।^{६६} धर्मादिक द्रव्य जब स्वयं अपनी नवीन पर्याय में प्रवृत्त होते हैं,

तब उनके प्रवर्तने में काल द्रव्य सहकारी कारण बनता है, इसलिए वर्तना को काल का उपकार कहा गया है। एक धर्म की निवृत्ति करके दूसरे धर्म के पैदा करने रूप और परिस्पन्द से रहित द्रव्य की पर्याय को परिणाम कहते हैं। द्रव्य में होने वाले परिस्पन्द रूप परिणमन का नाम क्रिया है। कालकृत पूर्वापरता को परत्व-अपरत्व कहते हैं। ये सब कालकृत उपकार या कार्य हैं।

निश्चय और व्यवहार काल :

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त असंख्य अविभागी परमाणु निश्चय काल तथा परमाणु का अन्य परमाणु तक पहुँचने का काल व्यवहार काल कहलाता है। घटी, घण्टा, दिन आदि सब व्यवहार काल के रूप हैं। विश्व-व्यवस्था के लिए काल द्रव्य की स्वीकृति अनिवार्य है।

वैशेषिकों की कालविषयक मान्यता :

वैशेषिक भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान व्यवहार के कारण को काल कहते हैं। उनकी दृष्टि में काल एक है, विभु और नित्य भी है।^{६८} अन्यत्र उन्होंने विभु होकर जो अतीत आदि व्यवहार का निमित्त कारण है, उसे काल कहा है।^{६९} परन्तु प्रश्न उठता है कि नित्य और एक द्रव्य में जब स्वयं भूत, भविष्यत्, वर्तमान आदि भेद नहीं हो सकते हैं, तब उसके निमित्त से अन्य पदार्थों में भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान भेद कैसे हो सकेंगे ? अतः वैशेषिकों द्वारा काल को एक मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने लिखा है -

‘सोऽनन्तसमयः प्रोक्तो भावतो व्यवहारतः।

द्रव्यतो जगदाकाश प्रदेशपरिमाण कः॥

लोकाकाशबहिर भावे स्याल्लोकाकाशस्य वर्तनम्।

तस्यैकद्रव्यतासिद्ध्युक्तं कालोपपादितम्॥^{६९}

वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है। व्यवहार से पुद्गल आदि की भिन्न-भिन्न वर्गणाओं की प्रयोजक अनन्त शक्तियों को धारण करने से एक कालाणु भी अनन्त समय-शक्ति वाला कहा जाता है, द्रव्य रूप से काल अनन्त नहीं है। वह लोकाकाश प्रदेश परिमाण वाला है। अलोकाकाश में जो अतीत आदि व्यवहार होता है, वह लोकाकाशवर्ती काल के कारण ही है।

यह: लोकाकाशवर्ती एवं अलोकाकाशवर्ती आकाश एक अखण्ड आकाश में होता है।

कतिपय श्वेताम्बर आचार्यों की मान्यता :

काल के विषय में कुछ श्वेताम्बर आचार्य कहते हैं कि सूर्य, चन्द्रमा आदि की गति वर्तना की प्रयोजक हेतु हो सकती है, अतः काल द्रव्य को मानना आवश्यक नहीं है। इस विषय में आचार्य विद्यानन्दि जी का कहना है-

‘आदित्यादिगतिस्तावन्न तद्हेतुविभाव्यते।

तस्यापि स्वात्मसतानुभूतौ हेतुव्यपेक्षणात्॥^{१०}

अर्थात् सूर्य आदि की गति की प्रतीति भी तब तक नहीं हो सकती है, जब तक उनको जानने के लिए अन्य हेतु उपस्थित न हो। क्योंकि उनके गमन की भी स्वासत्ता की अनुभूति में अन्य हेतु की अपेक्षा होती है। अतः सभी श्वेताम्बरों को काल द्रव्य मानना अनिवार्य है।

कालविषयक बौद्ध मान्यता :

बौद्ध परम्परा में काल द्रव्य की स्वीकृति केवल व्यवहार के लिए कल्पित है। वह कोई स्वभाव सिद्ध द्रव्य नहीं है, प्रज्ञप्तिमात्र है।^{११} किन्तु भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य काल के बिना नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार किसी बालक में सिंह का व्यवहार मुख्य सिंह की सत्ता के बिना संभव नहीं है, उसी प्रकार समस्त काल विषयक व्यवहार मुख्य काल द्रव्य को माने बिना नहीं बन सकता है।

बौद्ध वर्तमान काल को स्वीकार ही नहीं करते हैं, क्योंकि निर्विकल्प दर्शन द्वारा वर्तमान की दृश्यमानता नहीं बन पाती है। उनके लिए आचार्य विद्यानन्दि का कहना है कि वर्तमान को मध्यवर्ती मानकर ही भूत एवं भविष्यत् काल माने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। बौद्धों को वर्तमान काल अवश्य मानना पड़ेगा। यदि वे वर्तमान काल नहीं मानेंगे तो, क्षणिकवाद में एक क्षणवर्ती सत्ता भी पदार्थ की सिद्ध नहीं हो सकेगी। बौद्ध स्वसंवेदनाद्वैत स्वीकारते हैं किसी की भी स्वीकृति वर्तमान काल के स्वीकार कर लेने पर ही सिद्ध होती है। यदि वर्तमान काल का अपहव किया जायेगा, तो फिर स्वसंवेदन का भी अभाव हो जायेगा।^{१२} कहा भी गया है-

‘इति स्वसंविदादीनामभावः केन वार्यते।

वर्तमानस्य कालस्यापह्नवे स्वात्मविद्विषाम्॥^{१७३}

अर्थात् वर्तमान काल का अपह्नव मान लेने पर अपनी आत्मा के साथ विद्वेष करने वाले अनात्मवादी बौद्धों में स्वसंवेदन आदि का अभाव कैसे रोका जा सकेगा। अभिप्राय यह है कि वर्तमान काल न मानने पर स्वसंवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत आदि का अभाव हो जावेगा तथा कुछ भी नहीं जाना जा सकेगा। अतः बौद्धों की कालविषयक मान्यता समीचीन नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच अजीव द्रव्यों के विवेचन द्वारा परमत समीक्षा पूर्वक स्वमत की सयुक्तिक प्रस्थापना की है। आधुनिक विज्ञान के साथ जैनदर्शन सम्मत द्रव्य विवेचना का आश्चर्यजनक साम्य है। अतः दोनों का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

संदर्भ :

१. सवार्थसिद्धि, १.४.१४ २. वही, ५.२.२६६ ३. तत्त्वार्थवार्तिक, ५.१.६
४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ५.१.२ ५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१.२ पुस्तक ६, पृष्ठ २
६. वही, पृष्ठ ३ ७. वही, पृष्ठ ३ ८. वही, ५.१.३
८. सांख्यकारिका, २२ ९. तर्कसंग्रह, सूत्र १, ८
१०. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१.२ पृष्ठ ३ (पुस्तक ६)
११. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१.२
१२. 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। कालश्च।' - तत्त्वार्थसूत्र, ५.१.५.३९
१३. नियमसार, गाथा ३४ १४. सवार्थसिद्धि, ५०३९.२१२
१५. 'असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्। आकाशस्यानन्ताः। संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।' - तत्त्वार्थसूत्र, ५.८-१०
१६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१, पुस्तक ६, पृष्ठ ३
१७. 'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवायवाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव। -तर्कसंग्रह, २
१८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१, पुस्तक ६ पृष्ठ ९
१९. 'सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः।' - तर्कसंग्रह
२०. वैशेषिकसूत्र - कणाद २१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१ पुस्तक ६ पृष्ठ ९
२२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१ पुस्तक ६ पृष्ठ ११-१२
२३. वही, पृष्ठ १५ २४. तत्त्वार्थवार्तिक, ५.१.२४
२५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१. पुस्तक ६ पृष्ठ ६
२६. The Theory of Atom in Jaina Philosophy, Pg. 5051
२७. तत्त्वार्थसूत्र, ५.२३ २८. पञ्चास्तिकाय, गाथा ८२ २९. तत्त्वार्थसूत्र, ५.५
३०. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.५.१-२, पुस्तक ६ पृष्ठ-३४

३१. वही, ५.२३.१.२ पुस्तक ६ पृष्ठ २११-२१२
३२. 'शब्दबन्धसौक्ष्म्य स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च'। - तत्त्वार्थसूत्र, ५.२४.
३३. तत्त्वार्थवार्तिक, ५.२४.२४ ३४. तत्त्वार्थ, ५.१९-२० ३५. सर्वार्थसिद्धि, ५.२०.२८९ ३६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.२०.१ पुस्तक ६ पृष्ठ १५२
३७. 'अणवः स्कन्धाश्च। भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते।
भेदाणुः। भेदसंघाताभ्यां चासुषः। - तत्त्वार्थसूत्र, ५.२५-२८
३८. The Nature of the physical world] pg. 31
३९. 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि।' - तत्त्वार्थसूत्र, ५.४
४०. तत्त्वार्थवार्तिक, ५.१.१९-२० ४१. 'धर्मास्तिकायाभावात्।' - तत्त्वार्थसूत्र, १०.८
४२. पंचास्तिकाय, गाथा ८५ ४३. वही, गाथा ८८ ४४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१ पुस्तक ६ पृष्ठ ६. ४५. तत्त्वार्थसूत्र, ५.६ ४६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ५.१.३ पुस्तक ६ पृष्ठ ६ ४७. वही, ५.१३.१, पुस्तक ६ पृष्ठ ६
४८. वही, ५.१७.१-२, पुस्तक ६ पृष्ठ ६ ४९. तत्त्वार्थसूत्र, ५.१८
५०. सर्वार्थसिद्धि, ५.१८.१८४ ५१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.१ पुस्तक ६ पृष्ठ ६
५२. वही, ५.२ पुस्तक ६ पृष्ठ २० ५३. 'आ आकाशदेकद्रव्याणि।' - तत्त्वार्थसूत्र, ५.६
५४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.७.१ पुस्तक ६ पृष्ठ ६
५५. वैशेषिकसूत्र, २९-३० ५६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.९ पुस्तक ६ पृष्ठ ८१-८६
५७. तर्कसंग्रह 'शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च।'।
५८. तर्कसंग्रह, आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी कृत व्याख्या पृष्ठ १२
५९. सर्वार्थसिद्धि, ५.१२.२७८ ६०. वही ६१. तत्त्वार्थवार्तिक, ५.१२.२-४
६२. 'ध्रौव्यं तावत् कालस्य स्वप्रत्ययं स्वभावव्यवस्थानात्, व्ययोदयौ परप्रत्ययौ, अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षमा स्वप्रत्ययौ च।' तत्त्वार्थवार्तिक, ५.३९.२
६३. सर्वार्थसिद्धि, ५.३९, ६४. तत्त्वार्थवार्तिक, ५.४०
६५. 'लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्किक्का।
रयणाणं रासिमिव ते कालाणू असंखदव्वणि।' - द्रव्यसंग्रह, गाथा २२
६६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.३९.२ पुस्तक ६ पृष्ठ ४०६
६७. 'वर्तनापरिणाम क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्यां - तत्त्वार्थसूत्र, ५.२२
६८. 'अतीतादिव्यवहारहेतु कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।' - तर्कसंग्रह, पृ. १२
६९. वही, रेग्मीकृत व्याख्या, पृ. १२
७०. वही, ५.२२.११ पुस्तक ६ पृष्ठ १६० ७१. अद्वशाालिनी, १.३.१६
७२. द्रष्टव्य - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.२२. १४-२३ पुस्तक ६ पृष्ठ १६१-१६३
७३. वही, ५.२२.२४ पुस्तक ६ पृष्ठ १६३.

- अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

एस. डी. (पी.जी.) कालेज, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

धर्मध्यान और उसका फल

• डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

वस्तु तत्त्व अथवा सत्यता को खोजने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया का नाम धर्मध्यान है। यह कोई धर्म अधर्म का ध्यान नहीं है। किन्तु वस्तु धर्मों का ध्यान है। वस्तु की पर्यायों का ध्यान है। इससे तत्त्व का अन्वेषण किया जाता है। वस्तु तत्त्व का अन्वेषण करते-करते साधक सत्यता की प्राचीर को प्राप्त कर लेता है। धर्मध्यान से चित्त की वृत्तियाँ शान्त होती हैं, जिन्हें चित्त की वृत्तियाँ कहा जाता है, वे सब यथार्थ में आत्मा की ही वृत्तियाँ हैं। रागी-द्वेषी आत्मा ही मन के द्वारा उन व्यापारों में प्रवृत्त होता है। अतः जब तक राग-द्वेष पर नियंत्रण नहीं होता तब तक चित्त की चंचलता पर नियंत्रण नहीं हो सकता है। ध्यान के द्वारा ही वस्तु तत्त्व को जानना संभव है, अतः इसका सर्वातिशानयि माहात्म्य है।

ज्ञानार्णव में धर्मध्यान को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो तत्त्व जिस रूप से अवस्थित है उसका उसी स्वरूप से प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए तथा आत्मा की विशुद्धि का भी अनुभव करने के लिए निरंतर स्वरूप में स्थित रहना ही धर्मध्यान है।^१

“धर्मादनपेतं धर्म्यम्” अर्थात् जो धर्म से युक्त होता है, वह धर्मध्यान है तथा संसार शरीर भोगों से विरक्त होने के लिए अर्थात् विरक्त होने पर उस भाव को बनाये रखने पर जो प्रणिधान होता है, उसे धर्मध्यान कहते हैं। यह उत्तम क्षमादि धर्मयुक्त होता है।^२ धर्मनाम स्वभाव का है। जीव का स्वभाव आनन्द है न कि पञ्चेन्द्रिय सुख। अतः यह अतीन्द्रिय आनन्द जीव का धर्म है, जिससे धर्म का परिज्ञान होता है, वही धर्मध्यान^३ है अथवा जो धर्म से युक्त है, वह धर्म है और इससे जो ध्यान किया जाय वह धर्मध्यान है।^४ आचार्य रामचन्द्र ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य को धर्म कहकर उस धर्म के चिंतन से युक्त ध्यान को धर्मध्यान कहा है।^५ यह प्रशस्त/शुभ या सद्ध्यान माना गया है क्योंकि इस ध्यान से जीव का

रागभाव मन्द होता है और वह आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है। यह धर्मध्यान आत्मविकास में विशेष सहयोगी होता है। ज्ञानार्णव में सर्वत्र भव्य को धर्मध्यान करने की प्रेरणा दी गई है अतीन्द्रिय सुख के अभिलाषी चतुर गणधरादि प्रथमतः रागादि रूप तीव्र रोग समूह से संयुक्त और सन्देह से चञ्चल होकर समस्त इन्द्रियों के विषयरूप वन में मुग्ध हुए मन को स्थिर करके तत्पश्चात् सांसारिक दुःखों की परम्परा को नष्ट करने वाले एवं मुक्ति की क्रीड़ा के स्थान भूत धर्मध्यान को कहा गया है। अभिप्राय यह है कि अन्तःकरण से रागद्वेषादि को दूर करके ही धर्मध्यान में प्रवृत्त होना चाहिए तब ही उसके आश्रय से दुःखों की परम्परा नष्ट की जा सकती है अन्यथा नहीं।^{१६} हे भव्य ! तू प्रथमतः आत्मारूप उपादेय पदार्थ का आश्रय लेकर मोह रूप वन को छोड़, विवेक को मित्र बना। वैराग्य का आराधन कर और शरीर व आत्मा की भिन्नता का बार-बार चिन्तन कर। इस प्रकार से अन्त में तू धर्मध्यान रूप अमृत समुद्र के मध्य में स्नान करके अनन्त सुख रूप स्वभाव से संयुक्त मुक्ति के उत्कृष्ट सुखरूप कमल का दर्शन कर सकता है।^{१७}

धर्मध्यान के ध्याता के लक्षण :

ज्ञानार्णव में - विषय लम्पटता का न होना, शरीर का निरोग होना, चित्त का प्रसन्न होना, आगम उपदेश और जिनाज्ञा का अनुसरण करने वाला विनयी, दानी, धर्म से प्रेम करने वाला, सदाचारी होना धर्मध्यान के ध्याता के लक्षण कहे गये हैं।^{१८} अन्य धवल, आदिपुराण, मूलाचार प्रदीप आदि ग्रन्थों में इन्हीं का अनुसरण किया गया है। भगवती आराधना में आर्जव लघुता, मार्दव और उपदेश ये चार प्रकार के लक्षण कहे हैं।

धर्मध्यान के भेद :

आज्ञाविचय धर्मध्यान, अपायविचय धर्मध्यान, विपाकविचय धर्मध्यान और संस्थान विचय धर्म ध्यान ये चार भेद धर्मध्यान के कहे गये हैं।^{१९} नय की दृष्टि से धर्मध्यान को निरालम्ब और सालम्बन। सालम्बन अर्थात् जिसमें किसी वस्तु का आश्रय लिया जाता है। निरालम्बन ये आत्मा में लीनता होती है। सालम्बन ध्यान भेदात्मक होता है और निरालम्बन ध्यान में अभेदात्मकता मानी गई है। कई ग्रन्थों में धर्मध्यान के १० भेद कहे हैं।^{२०} हरिवंशपुराण में प्रतिपादित धर्मध्यान के (१) अपाय विचय (२) उपाय विचय (३) जीव विचय

(४) अजीव विचय (५) विपाक विचय (६) विराग विचय (७) भवविचय (८) संस्थान विचय (९) आज्ञाविचय (१०) हेतु विचय नामक दश भेद कहे हैं।^{११} यहां पर ज्ञानार्णव में वर्णित धर्मध्यान के चार भेदों को स्पष्ट करना आवश्यक होने से उन्हीं का वर्णन किया जा रहा है - आज्ञाविचय धर्मध्यान - सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रधान मानकर उसके बताये गये पदार्थों का इस ध्यान में चिंतन किया जाता है। जो इन्द्रियों से दिखाई नहीं देते ऐसे बन्ध मोक्ष आदि पदार्थों में जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा के अनुसार ध्यान करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है।^{१२}

अपायविचय धर्मध्यान - अपाय का अर्थ है दोष अथवा दुर्गुण। जिनसे सांसारिक जीव परेशान होता है और रागद्वेष क्रोधादिक कषाय मिथ्यात्वादि ये सब दोषों के अंतर्गत आते हैं। साधक इनसे छूटने का प्रयत्न करता है और चिंतन करता है ऐसे चिंतन करने को ही अपाय विचय धर्मध्यान कहते हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है कि कर्मों के नाश का मुख्य साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की त्रिपुटी अर्थात् रत्नत्रय ही है। इनका चिंतन करना क्योंकि इस ध्यान में कर्मों के आस्रव को रोकने का चिंतन किया जाता है।^{१३} इस ध्यान में यह भी विचार किया जाता है कि मिथ्यात्व के वशीभूत होकर रागद्वेष में लिप्त हुए प्राणी जो दुःख या कष्ट उठा रहे हैं और जन्म-मरण के भव में पड़े हुए हैं उन्हें कैसे छुटकारा हो सकता है।^{१४} ज्ञानार्णवकार ने और भी कहा है कि साधक इस ध्यान में सभी दोषों को जानता है, और उनसे बचने का उपाय निरंतर करता रहता है। नये कर्मों का बन्ध किन उपायों से नहीं होगा, ऐसे उपायों को भी सोचता और करता है। आत्मा की सिद्धि के लिए निश्चय कर लेता है।^{१५}

विपाक विचय धर्मध्यान - विपाक का अभिप्राय कर्म फल से है। कर्म फल शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं इन्हीं कर्म फल के चिन्तन को विपाक विचय कहते हैं। आचार्य श्री शुभचन्द्र ने विपाक विचय धर्मध्यान को इस प्रकार से समझाते हुए कहा है कि कर्मों की विचित्रता पर विचार करके उनके क्षण-प्रतिक्षण उदय होने की प्रक्रिया पर चिन्तन करना विपाक विचय धर्मध्यान कहलाता है।^{१६} इस ध्यान के माध्यम से साधक विचार

करता है कि कर्म ही उदय में आने परद्रव्य क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय पाकर ज्ञान को परिष्कृत करके शुभ और अशुभ फल देते हैं।^{१७} कर्मों के शुभ-अशुभ फल के साथ ही साथ उदय, उदीरणा, संक्रमण, बन्ध और मोक्ष का विचार करना भी विपाक विचय धर्मध्यान है।^{१८} इस ध्यान के द्वारा साधक शुभ-अशुभ कर्मों को या द्रव्य-भाव कर्मों को अच्छी तरह समझकर कर्मों के बन्ध से छुटकारा पाने का प्रयास करता है। विपाक को ध्येय बनाकर वह अपने स्वभाव से उसे भिन्न जानकर साधना करता है। इस ध्यान से साधक का चित्त शान्त और निर्मल होता है और वह कर्मों के नाश करने की दिशा को समझ लेता है। इस प्रकार स्वात्मोपलब्धि रूप ध्यान के फल को पा लेता है।

संस्थान विचय धर्मध्यान - संस्थान का अभिप्राय आकार से है। आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार इस ध्यान में द्रव्यों के लक्षण, आकार, आसन भेद मान आदि का विचार किया जाता है।^{१९} पर्याय की दृष्टि से पदार्थों का उत्पाद और व्यय होता ही रहता है लेकिन द्रव्य की दृष्टि से देखा जाय तो पदार्थ नित्य ही रहता है। भगवती आराधना में भेदों से युक्त तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान आकार के साथ अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक के चिंतन को संस्थान प्रमाण और आयु के चिंतन को संस्थान विचय धर्मध्यान कहा है।^{२०} अधिकतर ग्रन्थकारों ने तीनों लोकों के संस्थान, प्रमाण और आयु के चिंतन को संस्थान विचय धर्मध्यान माना है। इस ध्यान को करने से जीव या साधक की नित्य-अनित्यादि पर्यायों का विचार करने से वैराग्य की भावना प्रशस्त और सुदृढ़ हो जाती है। इसमें तीनों लोकों के स्वरूप आदि का विस्तार से चिंतन होता है, जिसको ज्ञानार्णव में बहुत विस्तार से समझाया है।

धर्मध्यान के उक्त चारों भेदों के अलावा छह भेद और भी बतलाये हैं। जो इस प्रकार हैं - उपाय विचय, जीव विचय, अजीव विचय, विराग विचय, भव विचय, हेतु विचय। इनका वर्णन सभी ग्रन्थों में नहीं मिलता किन्तु ऐसे कुछ ही ग्रन्थ हैं जिनमें इनके स्वरूप को दर्शाया गया है।^{२१}

आगमों के उत्तरवर्ती साहित्य में धर्मध्यान का एक दूसरा वर्गीकरण भी प्राप्त होता है। किसी भी साधक का ध्यान एकाएक निरालम्ब वस्तु में

नहीं लग सकता है, इसलिए स्थूल एवं इन्द्रियगोचर पदार्थों से सूक्ष्म इन्द्रिय के अगोचर पदार्थों का चिन्तन करना आवश्यक माना है।^{१२} आलम्बन का पर्याय ध्येय माना जाता है। इसी ध्येय को चार भेदों वाला कहा है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत। आचार्य शुभचन्द्र ने इन चार भेदों का ही वर्णन किया है।^{१३}

पिण्डस्थ ध्यान - “पिण्डस्थ स्वात्मचित्तिन्तनम्” अर्थात् आत्म स्वरूप का निजात्मा का चिन्तन करना ही पिण्डस्थ ध्यान है। “पिण्ड” अर्थात् शरीर और उस शरीर में रहने वाली आत्मा है। अतः पिण्ड सहित या शरीर सहित आत्मा का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान कहा गया है। आचार्य देवसेन अपने शरीर में स्थित अच्छे गुण वाले आत्म प्रदेशों के समूह के चिन्तन करने को पिण्डस्थ ध्यान कहा है लेकिन ज्ञानसार में अपने नाभि के मध्य स्थित अरिहन्त के स्वरूप का विचार करने को पिण्डस्थ ध्यान कहा गया है। आचार्य शुभचन्द्र ने पिण्डस्थ ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिस ध्यान में निर्मल, नवीन अमृत से सघन चन्द्रमा के समान पवित्र, ज्ञानलक्ष्मी से आलिंगित सर्वज्ञ के समान, सुवर्णमय मेरु पर्वत पर अवस्थित होकर समस्त प्रपञ्च से रहित हुए विश्वरूप समस्त पदार्थों के आकार से परिणत और महान् देवों के समूह से भी अचिन्त्य प्रभाव वाले आत्मा का स्मरण किया जाता है उसे जिनागम रूप महासमुद्र के पार को प्राप्त हुए गणधर देवों ने पिण्डस्थ ध्यान कहा है।^{१४} श्वेत किरणों से विस्फुटित होते हुए एवं अष्ट महाप्रातिहार्यों से परिवृत्त जो निजरूप है, उसका ध्यान भी पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है। इसका महत्व प्रतिपादित करते हुए शुभचन्द्राचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य की समीपता पाकर उल्लू निरर्थकता का अनुभव करते हुए दुर्वासना को छोड़ दिया करते हैं उसी प्रकार इस पिण्डस्थ ध्यान रूप धन से संपन्न योगी की समीपता को पाकर विद्यामण्डल, यन्त्र, मन्त्र, इन्द्रजाल व दूसरे के घात लिए किया जाने वाला क्रूर कर्म तथा सिंह, अशी विष, सर्प, दैत्य, हाथी और शारभ ये सब निरर्थकता को प्राप्त होते हैं। निष्प्रभ हो जाते हैं। साथ ही शाकिनी, दुष्टग्रह और राक्षस आदि भी दुर्वासना अर्थात् अपने दुष्ट स्वभाव को छोड़ देते हैं।^{१५} इस पिण्डस्थ में महान् शक्ति है। इस ध्यान का ध्याता योगी अपने दृढ़तर अभ्यास के फलस्वरूप थोड़े समय में

अन्य के द्वारा असाध्य मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानार्णवकार ने इस ध्यान की पांच धारणाओं का निरूपण किया है। जो इस प्रकार है - १. पार्थिवी धारणा, २. आग्नेयीधारणा, ३. श्वसना या वायवी धारणा, ४. वारुणी धारणा, ५. तत्त्वरूपवती धारणा।^{१६} योगशास्त्र में भी इन्हीं पांच धारणाओं का वर्णन किया गया है।^{१७} तत्त्वानुशासन में इन पांचों में से तीन धारणाएं मिलती हैं वहां श्वसना, आग्नेयी और वारुणी के पर्याय रूप में क्रमशः मारुती, तेजस्वी और अप्यानाम हैं।

पार्थिवी धारणा -

पद्मासन या सुखासन में बैठकर साधक मेरुदण्ड को सीधा करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर ध्यान करता है कि मध्यलोक के बराबर निःशब्द, कल्लोल रहित तथा बर्फ के समान सफेद समुद्र है, उसमें जम्बद्वीप के बराबर एक लाख योजन वाला तथा हजार पांखुड़ी वाला कमल है, जो सोने के समान पीला है और उसके मध्य केसर है जो बहुत अधिक सुशोभित है। उन केसरों में स्फुरायमान करने वाली देदीप्यमान प्रभा से युक्त सुवर्णाचल के समान एक ऊँची कर्णिका है, उस कर्णिका पर चन्द्रमा के समान श्वेत रंग का एक ऊँचा सिंहासन है और सिंहासन पर मेरी आत्मा विराजमान है। साथ ही साथ यही भी विचार करे कि मेरा आत्मा रागद्वेष से रहित है और समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ है। इन चीजों को ध्यान में लाने के बाद सूक्ष्म वस्तु में ध्यान केन्द्रित करने से समस्त चिन्ताओं पर रोक लग जाती है।^{१८} इस पार्थिवी धारणा के बाद साधक आग्नेयी धारणा की साधना करता है।

आग्नेयी धारणा -

इस धारणा में साधक को ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि मेरे नाभिकमल में सोलह पांखुडियों से सुशोभित एक मनोहर कमल है।^{१९} उस कमल की सोलह पांखुडियों में क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ल, ए, ऐ, ओ, औ, अं. अः ये सोलह बीजाक्षर हैं तथा उस कमल की कर्णिका पर “ह्रं” महामंत्र स्थापित है।^{२०} इस महामंत्र रूप “ह्रं” के रेफ से धीरे धीरे ध्रुएं की रेखा निकल रही है। पश्चात् अग्नि के स्फुलिंग निकल रहे हैं। ये पंक्तिबद्ध चिन्तारियाँ क्रमशः शनैः शनैः अग्नि ज्वाला के रूप में परिणमित

हो रही हैं फिर वह अग्नि प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है और हृदय में स्थित कमल को जला देती है।^{३३} जिस कर्मचक्र को रेफ की अग्नि जलाती है, वह हृदय में स्थित कमल अधोमुख वाला और आठ पत्रों का होता है। इसके आठों पत्रों पर क्रमशः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय नामक आठ कर्म अंकित हैं जो आत्मा को घेरे हुए हैं। इस कमल के आठों दलों को कुंभक पवन के बल से खोलकर/ फैलाकर उक्त “हं” बीजाक्षर के रेफ से उत्पन्न प्रबल अग्नि से भस्म किया जाता है।^{३३} यह अग्नि मस्तक तक पहुँच जाती है और वहाँ से अग्नि की एक लकीर बायीं और नीचे और दूसरी दायीं और नीचे की तरफ उस साधक के आसन तक पहुँच जाती है तथा आसन के आधार पर चलकर एक दूसरे से मिल जाती हैं और इस प्रकार से एक त्रिकोण की आकृति बन जाती है। वह अग्नि मण्डल रं रं रं बीजाक्षरों से व्याप्त है तथा उसके अन्त में स्वास्तिक 卐 चिह्न है।^{३३} यह अग्नि धूप से रहि व अत्यधिक दैदीप्यमान है अपनी ज्वालाओं के समूह से नाभि में स्थित कमल और शरीर को भस्म करके जलाने योग्य पदार्थ के न रहने पर अपने आप शान्त हो जाती है।^{३४} कर्मभस्म शेष रह जाती है।

इस प्रकार आग्नेयी धारणा के माध्यम से चिन्तन कर साधक श्वसना (मारुती) धारणा का अवलम्बन ले लेता है।

श्वसना (मारुती) धारणा -

इसके आश्रय पूर्वक विचार करता है कि आकाश में प्रचण्ड वायु उठ रही है।^{३५} और वह इतनी वेगवान् है कि समेरु पर्वत को कम्पित कर रही है और वह देवों की सेना के समूह को चलायमान कर रही है। वह धीरे- धीरे दसों दिशाओं में फैल रही है। पृथ्वी तल को विदीर्ण करके भीतर प्रवेश कर रही है। आग्नेयी धारणा ध्यान द्वारा कर्म भस्म को संचित करके अपने वेग से उड़ा ले जा रही है। वायु के द्वारा समस्त कर्म भस्म उड़ा दी जाती है। आत्मा मात्र शेष रह जाती है। यही चिन्तन इस धारणा के माध्यम से ज्ञानार्णव में बताया जाता है।^{३६}

मारुती (श्वसना) धारणा के साधक कर्म भस्म को उड़ा देता किन्तु उसकी छाया या छाप रह जाती है उसको साफ करने के लिए वारुणी धारणा

का आश्रय ग्रहण करता है।

वारुणी धारणा - इसमें साधक सोचता है कि आकाश काले-काले बादलों से आच्छादित है और चारों ओर घनघोर घटाएँ घिरी हुई हैं। बिजली चमक रही है एवं इन्द्रधनुष दिखाई दे रहा है, बीच-बीच में होने वाली गर्जनाओं से दिशाएँ कम्पित हो रही हैं। जल की धाराएँ हमारे ऊपर गिर रही हैं मेरी आत्मा पर लगी हुई कर्म भस्म की छाप को धोकर साफ कर दिया है। मेरी आत्मा स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और निर्मल हो गयी हैं ऐसा चिन्तन करना वारुणी धारणा है।^{३७} ऐसा ही चिंतन योगशास्त्र में करने को कहा है।^{३८} इसके बाद तत्त्वरूपवती धारणा का चिन्तन है।^{३९}

तत्त्वरूपवती धारणा - इस धारणा के माध्यम से साधक ऐसा चिन्तन करता है कि मेरी आत्मा सात धातु से रहित है और पूर्ण चन्द्रमा के समान निर्मल है, मेरी आत्मा सर्वज्ञ है। मेरी आत्मा अतिशय युक्त सिंहासन पर आरुढ़ है और इन्द्र, धरणेन्द्र और दानवेन्द्र, नरेन्द्र आदि से पूजित है। मेरे समस्त आठों कर्म नष्ट हो गये हैं और मैं कर्म रहित पुरुषाकार हूँ एवं मेरा शरीर ज्ञानमात्र है। ऐसा चिन्तन करना ही तत्त्व रूपवती धारणा है।^{४०}

इस प्रकार पांचों धारणाओं से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाले ध्याता को मन्त्र, माया, शक्ति जादू आदि से कोई हानि नहीं होती है। प्रथम धारणा द्वारा साधक अपने मन को स्थिर करता है, दूसरी से शरीर कर्म को नष्ट करता है, तीसरी से कर्म के सम्बन्ध को भिन्न देखता है, चौथी धारणा से अपने शुद्धात्म तत्त्व का अवलोकन करता है। पांचवी से कर्मरहित शुद्धात्मा का अनुभव करता है। इस प्रकार से साधक इस ध्यान के अभ्यास से मन एवं चित्त को एकाग्र करके शुक्लध्यान में पहुँचने की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

पदस्थ ध्यान - “पदस्थ मन्त्र वाक्यस्थम्” अर्थात् मन्त्र वाक्यों में जो स्थित है, वह पदस्थध्यान है।^{४१} इस ध्यान का मुख्य आलम्बन शब्द या पद है। इस ध्यान के द्वारा साधक अपने को एक ही केन्द्र बिन्दु पर केन्द्रित करते हुए मन को अन्य विषयों से पराभूत कर लेता है और केवल सूक्ष्म वस्तु का ही चिंतन करता है। आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है कि “पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो अनुष्ठान या चिन्तन किया जाता है। वह पदस्थ

ध्यान है।^{४२} इसी बात को योगशास्त्र में कहा गया है।^{४३} एक अक्षर आदि को लेकर अनेक प्रकार के पञ्च परमेष्ठी वाचक मन्त्र पदों का उच्चारण जिस ध्यान में किया जाता है, वह पदस्थ ध्यान कहलाता है।^{४४} अर्थात् ऊँ, ह्रीं नमः, णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं या अ सि आ उ सा, ऊँ ह्रीं अर्ह अ सि आ उ सा नमः अथवा ३५ अक्षरात्मक पूर्ण णमोकार मंत्र का चिंतन इस ध्यान के माध्यम से किया जाता है। मंत्रराज और अनाहत दोनों मंत्रों के ध्यान के पश्चात् 'प्रणव' नामक ध्यान को ध्याने के लिए कहा गया है। प्रणव ध्यान में 'ऊँ' को विशिष्ट स्थान है। "ह्रीं" माया वर्ण है २४ तीर्थकर वाचक है। इस पद का ध्यान सभी करते हैं। "ऊँ अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय साधुभ्यो नमः" मंत्र का ध्यान करने का भी विधान है।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान चित्त को एकाग्र करने के लिए पदों अर्थात् मंत्रों एवं बीजाक्षरों का सहारा लिया जाता है, जो मुक्ति की कल्पना करने वाले हैं, उनके लिए मंत्र रूपी पदों का अभ्यास करने के लिए कहा गया है। इन मंत्रों के अभ्यास से साधक के समस्त कर्मों का क्षय होता है और लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के साथ मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है।^{४६}

रूपस्थ ध्यान - इसमें तीर्थकरों के नाम एवं उनके उज्ज्वल धवल प्रतिबिम्ब का ध्यान किया जाता है। आकाश और स्फटिक मणि के समान स्वच्छ अपने शरीर की प्रभारूपी जल निधि में लीन तथा जिनके चरण देवों तथा मनुष्यों के मुकुट में लगी मणियों से अनुरंजित है एवं जो आठ प्रातिहार्यों से घिरे हुए हैं। ऐसे अरिहन्त भगवान् का ध्यान करना ही रूपस्थ ध्यान है।^{४७} इस ध्यान में वीतरागी का ही ध्यान करना चाहिए क्योंकि जब साधक वीतरागी का ध्यान करता है तो वीतरागी बन जाता है।^{४८} क्योंकि जिन भावों से जीव जुड़ता है, वह उन्हीं भावों से तन्मयता को प्राप्त हो जाता है।^{४९} इस ध्यान से साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसका ध्याता साक्षात् परमेष्ठी के दर्शन लाभ को प्राप्त है।

रूपातीत ध्यान - रूप और अतीत दो शब्दों के योग से रूपातीत बना है। "रूप" का अर्थ है- मूर्तिमान् पदार्थ सहित पुद्गल दृश्यमान पदार्थ और अतीत का अर्थ 'रहित' है। अर्थात् शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द धन स्वरूप आत्मा शुद्धात्मा। इस प्रकार ही आत्मा जो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्म से रहित

हो, उस निरञ्जन स्वरूप आत्मा का ध्यान रूपातीत कहलाता है। इस ध्यान में साधक चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त परमाक्षर आत्मा को आत्मा से ध्याता है।^{१०} यह परमात्मा का शुद्ध रूप ध्यान है। इसमें साधक साधु अपनी आत्मा को परमात्मा समझकर स्मरण करता है। ध्यानी सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान से शक्ति की अपेक्षा से अपने आपको उनके समान जानकर कर्मों का नाश करके व्यक्त रूप परमेष्ठी हो जाता है।^{११} इस ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता हो जाती है और इसी एकता को समरसी भाव कहते हैं।^{१२} यह ध्यान निरालम्ब ध्यान के अंतर्गत आता है क्योंकि इसमें न तो किसी प्रकार का मन्त्र जाप होता है और न ही किसी का आलम्बन।

पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ ध्यान सालम्बन ध्यान है और रूपातीत निरालम्बन ध्यान है और निश्चयनय के आधार पर है। पूर्व में साधक सालम्बन ध्यान करता है फिर निरालम्बन ध्यान में पहुँचकर परमात्मस्वरूप का अनुभव करते हुए परमानन्द को प्राप्त करता है।

धर्मध्यान के स्वामी -

धर्मध्यान के स्वामी के विषय में शास्त्रों में एकरूपता नहीं है। ज्ञानार्णव में अप्रमत्त और प्रमत्त साधु को धर्मध्यान का स्वामी माना है।^{१३} इसी में आगे कहा गया है कि कितने ही आचार्य असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थान वर्ती प्राणियों को धर्मध्यान का स्वामी कहा है। धवल में कहा है कि धर्मध्यान की प्रवृत्ति असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिकरण संयत, सूक्ष्मसांपरायिक क्षपकों और उपशामकों में होती है।^{१४} आदिपुराण में धर्म ध्यान की स्थिति को आगम परम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियों, संयतासंयतो प्रमत्तसंयतों में मानते हुए उसका परम प्रकर्ष अप्रमत्तों में माना गया है। तत्त्वानुशासन में अप्रमत्त (सातवें गुणस्थान) प्रमत्त (चौथे गुणस्थान) ऐसे धर्मध्यान के स्वामी माने गये हैं लेकिन वहाँ एक विशिष्ट बात मिलती है कि वहाँ दो प्रकार का धर्मध्यान कहा है मुख्य और गौण। सातवें गुणस्थानवर्ती को मुख्य धर्मध्यानी व चौथे, पांचवें, छठे गुणस्थान वाला गौण धर्मध्यानी माना गया है।^{१५} अमितगति श्रावकाचार में असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थान में ही धर्मध्यान माना है।^{१६} हरिवंशपुराण

में केवल इतना ही कहा है कि प्रमाद के अभाव से होने वाला वह अप्रमत्तगुणस्थान भूमिक है अप्रमत्तस्थान तक होता है यहाँ इस बात का निर्देश नहीं है कि वह प्रथम से सातवें स्थान तक होता है या केवल सातवें गुणस्थान में।^{५७}

उक्त सभी ध्यान विषयक शास्त्रकारों ने मुख्य रूप से अप्रमत्त मुनि को ही धर्मध्यान का स्वामी माना है और गौण रूप से प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि को स्वामी माना है। चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक के जो धर्मध्यान के ध्याताओं का उल्लेख सर्वार्थसिद्धिकार^{५८} पूज्यपाद स्वामी और तत्त्वार्थवार्तिककार भट्टाकलंक देव ने किया है वह मुख्यतः अज्ञाविचय और अपायविचय धर्मध्यान की विवक्षा से है। इस विषय में यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्मध्यान मुख्य और उपचार के भेद से दो प्रकार का है, उसमें मुख्य धर्मध्यान अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि के ही होता है और अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत के औपचारिक धर्मध्यान होता है। वर्तमान में इसी से कल्याण पथ प्रशस्त हो सकता है।

इस प्रकार धर्मध्यान का विशद विवेचन ज्ञानवृद्धि का प्रमुख कारण है। यह धर्मध्यान आत्मा के विकास अवस्था का द्योतक है। इसके माध्यम से कषाय का पूर्ण नाश नहीं होता है। सकषाय जीवों को तरतमता से विशुद्धि का कारण है। परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करता है।

संदर्भ :

१. साक्षात्कर्तुयतः क्षित्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम्।
विशुद्धि चात्मनः शाश्वद्वस्तुधर्मे स्थिरी भवेत्॥ ज्ञाना. ३०/३
२. सर्वार्थसिद्धि : ९/२८ व ९/३६ का विशेषार्थ
३. भगवती आराधना विजयोदया टीका सहित गाथा १७०४
४. मूलाचार, महापुराण २१/३३ भावपाहुड टीका ६८/२२६/१७
५. तत्त्वानुशासननम् - ५१
६. ज्ञानार्णव ३९/१
७. ज्ञानार्णव ३९/२
८. अलौल्यमारोग्यम निश्चुरत्व गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम्॥
कान्तिः प्रसादः स्वर सौम्यता च योग प्रवृत्तः प्रथम हि चिह्नम्॥३८/१३/१
ज्ञानार्णव में उद्धृत
९. ज्ञानार्णव, आदिपुराण २१/१३४, धवल पु. १३, पृष्ठ ७०

१०. आज्ञापायविपाक संस्थान विचय धर्म्यम्। तत्त्वार्थसूत्र ९/३६
११. योगशास्त्र १०/७ भगवती आराधना मूल १७०८, भावपाहुड १९/२०७/२
१२. हरिवंशपुराण ५६/३८-५०
१३. ज्ञानार्णव ३०/२२
१४. ज्ञानार्णव ३१/२-३
१५. रागद्वेष कषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्त्येत्।
यत्रापायास्तद पायविचय ध्यानमिष्यते॥ योगशास्त्र १०/१०
१६. ज्ञानार्णव ३१/१६
१७. स विपाक इति ज्ञेयो यः सर्व कर्मफलोदयः।
प्रतिक्षण समुद्भूतश्चित्र रूपः शरीरिणाम्॥ ज्ञानार्णव ३१/१
१८. कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम्।
असाद्य नियतं नाम द्रव्यादिक चतुष्टयम्॥ ज्ञानार्णव ३१/२
१९. भगवती आराधना वि. टीका-१७०८
२०. ज्ञानार्णव ३३/२
२१. हरिवंशपुराण ५६/३८-५०, शास्त्रसार-५६
२२. अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्त्येत्।
सालम्बाच्च निरालम्ब तत्त्ववित्तत्त्व मञ्जसा॥ ज्ञानार्णव ३०/४
२३. पिण्डस्थञ्च पदस्थञ्च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्यानमाप्नातः भव्यराजीवभास्कैः॥ ज्ञानार्णव ३४/१
२४. इत्थं यत्रानवद्यं स्मरति नवसुधासान्द्र चन्द्रावदातम्, श्रीमत्सर्वज्ञ कल्पं कनकगिरितटे
वीतविश्व प्रापञ्चम्॥ आत्मानं विश्वरु पं त्रिदशगुरु गणैरप्यचिन्त्य प्रभावं, तत्पिण्डस्थं प्रणीतं
जिनसमय महाभ्योधि पारं प्रयातैः॥ ज्ञानार्णव ३४/३२
२५. ज्ञानार्णव ३४/३३
२६. पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी।
तत्त्वरुपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्॥ ज्ञानार्णव ३४/३३
२७. योगशास्त्र ७/९, तत्त्वानुशासन-१८३
२८. ज्ञानार्णव ३४/४-९
२९. ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात् कमलं नाभिमण्डले।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम्॥ ज्ञानार्णव ३४/१०
३०. प्रतिपत्र समासीनस्वरमाला विराजितम्।
कर्णिकायां महामंत्रं विस्फुरन्तं विचिन्त्येत्॥ ज्ञाना. ३४/११
३१. ज्ञानार्णव ३४/१३-१४
३२. वही, ३४/५ ३३. वही, ३४/१७ ३४. वही, ३४/१९
३५. विमानपथमा पूर्य संचरन्तं समीरणम्।
स्मर त्यविरतं योगी महावेगं महाबलम्॥ ज्ञानार्णव ३४/२०

३६. ज्ञानार्णव ३४/२१-२३ ३७. ज्ञानार्णव ३४/२५ ३८. योगशास्त्र ७/२१-२३
 ३९. सप्तधातुविनिर्युक्त पूर्णचन्द्रामलत्विषम्, सर्वज्ञ कल्पमात्मानं ततः स्मरति शुद्धं घीः।
 मृगेन्द्र विष्टरारुढं दिव्यातिशयसंयुतम्॥ कल्याणमहिमोपेतं दैवदैत्योरगार्चितम्।
 विलीना शेषकर्माणं स्फुरन्तमति निर्मलम्॥ स्व ततः पुरुषाकारं स्वांगर्भगतं स्मरेत्॥ ज्ञाना.
 ३४/२८-३०
 ४०. द्रव्यसंग्रह टीका ४८/२०५, परमात्मप्रकाश टीका १/६/६
 ४१. पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते॥
 तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः॥ ज्ञाना. ३५/१,
 ४२. योगशास्त्र ८/१
 ४३. वसुनन्दिश्रावकाचार ४६४
 ४४. तत्त्वानुशासन-१०२
 ४५. ज्ञानार्णव ३६/१-८
 एष देवः सर्वज्ञः सोऽम् तद्रूपतां गतः
 तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदशीर्ति मन्यते॥ ज्ञाना. ३६/४३
 ४६. येन येन भावेन पुज्यते मन्त्रवाहकः।
 तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा॥ योगशास्त्र ९/१४
 ४७. चिदानन्तमय शुद्धमूर्त ज्ञान विग्रहम्।
 स्मरेद्य त्रात्मनात्मानं तद्रूपातीत मिष्यते॥ ज्ञाना. ३७/१६
 ४८. तद्गुणग्राम संपूर्ण स्वभावैक भावितः।
 कृत्वामान ततो ध्यानीयोत्येत्परमात्मति॥ ज्ञानार्णव ३७/१९
 ४९. योगशास्त्र १०/३-४
 ५०. मुख्योपाचार भेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ।
 अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम्॥ ज्ञानार्णव २६/२५
 ५१. ज्ञानार्णव २६/२८
 ५२. धवल पु. १३, पृष्ठ १४
 ५३. आदिपुराण २१/१५५-१५६
 ५४. तत्त्वानुशासन ४६-४७
 ५५. अमितगति श्रावकाचार १५-१७
 ५६. हरिवंशपुराण ' ५६/५
 ५७. तदविरत देशविरतप्रमत्ताप्रमत्त संयतानां भवति। सर्वार्थसिद्धि ९/३६ की टीका।
 ५८. तत्त्वार्थवार्तिक ९/३६ वार्तिक १३ की टीका

-अध्यक्ष- अ.भा. दि. जैन शास्त्रपरिषद,
 बड़ौत (उ.प्र.)

सल्लेखना, समाधिमरण व भग. आराधना के तत्संबन्धित अन्य पारिभाषिक और आत्मघात

• डॉ. वृषभ प्रसाद जैन

वस्तुतः 'भगवती आराधना' का केन्द्रीय विषय 'सल्लेखना', 'समाधिमरण' या 'मरण-समाधि' है। आचार्य शिवार्य की मान्यता है कि मरते समय की आराधना ही वास्तविक आराधना है और वह ठीक हो जाए, - इसी के लिए जीवन-भर आराधना की जाती है। उस समय यदि आराधना ठीक से न हो पायी या भाव न संभल पाए या सहज न रह पाए, तो जीवन-भर की आराधना और साधना व्यर्थ हो जाती है और उस समय की सम्यक् आराधना से जीवन-भर की आराधना सफल हो जाती है, इसलिए जो मरते समय सम्यक् आराधक होता है, वास्तव में उसी की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप रूप साधना को ही 'भगवती आराधना' में सम्यक् आराधना कहा गया है। इस मरते समय की आराधना के लिए पूर्व में जीवन में अभ्यास करना योग्य है, जो उसका पूर्वाभ्यासी होता है, उसी की मरते समय की आराधना सुखपूर्वक होती है। यदि कोई पूर्व जीवन में अभ्यास नहीं करता है और फिर भी मरते समय आराधक हो जाता है, तो उसे सर्वत्र प्रमाण रूप नहीं माना जा सकता, परन्तु यह भी तथ्य है कि बहुत समय तक दर्शन, ज्ञान और चारित्र का निरतिचार पालन करने के बाद भी यदि मरते समय की आराधना बिगड़ जाए, तो उसका फल अनंत संसार होता है; परन्तु इसके ठीक विपरीत अनादि मिथ्यादृष्टि भी मरते समय चारित्र की आराधना करके क्षण मात्र में मुक्त हो जाते हैं, इसलिए मरते समय की आराधना ही सारभूत है और इस आराधना का वर्णन ही विभिन्न पारिभाषिकों का उल्लेख करते हुए मुख्य रूप से 'भगवती आराधना' में किया गया है।

सामान्यतः 'सल्लेखना' और 'समाधिमरण' इन दोनों पारिभाषिकों

को पर्यायवाची के रूप में लिया जाता है, पर गंभीरता से यदि इन दोनों शब्दों की संरचना और इनकी अवधारणात्मक प्रक्रिया पर विचार किया जाए, तो यह बात स्पष्टतः सामने आती है कि दोनों शब्दों के मूल संरचक तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए ये दोनों पारिभाषिक भिन्न-भिन्न अवधारणों या स्थितियों को अपने में समेटे हैं। 'सल्लेखना' सत् और लेखना के संयोग से बना है, जबकि 'समाधिमरण' समाधि और मरण शब्दों के समसन से। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों शब्द भिन्न प्रकृतिमूल वाले हैं और जब भिन्न प्रकृतिमूल वाले हैं, तो मूलतः या पूर्णतः समानार्थी नहीं हो सकते, जैसाकि समझा जा रहा है या समझा जाता है; हाँ यह जरूर हो सकता है कि स्थितिगत या अर्थगत कुछ साम्य के कारण स्रोतप्रक्रिया व स्रोतकाल भिन्न होने के बावजूद कालांतर में दोनों समानार्थी या पर्यायवाची समझे जाने लगे हों। दोनों शब्दों की ध्वन्यात्मक प्रतिध्वनि से भी ऐसा लगता है कि 'सल्लेखना' प्राकृत मूल से है, जबकि 'समाधिमरण' संस्कृत मूल से। हाँ यह जरूर है कि 'सल्लेखना' के प्राकृत रूप 'सल्लेहण' का प्रयोग 'समाधिमरण' के प्राकृत प्रयोग की तुलना में 'भगवती आराधना' में अधिक बार हुआ है।

अब जब ये दोनों शब्द भिन्न संरचकों व भिन्न संरचना-प्रक्रिया वाले हैं, तो जरूरी यह है कि इन दोनों शब्दों की अर्थप्रकृति पर भी विचार किया जाए। मूल संरचकों के अर्थ को लेकर जब इन दोनों शब्दों की अर्थप्रकृति पर भी विचार किया जाता है, तो दो भिन्न स्थितियाँ या भिन्न बातें उभर कर आती हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि एक प्रमुख रूप से जीवन के अंतिम काल में होने वाली स्थिति का वाचक है, जबकि उसमें भी प्रक्रिया का कुछ अंश समाहित है या उसकी भी अपनी कुछ प्रक्रिया है; जबकि दूसरा पूरी तरह जीवन के लगभग अंतिम काल से पहले जीव के द्वारा करणीय क्रिया की प्रक्रिया को लक्ष्य कर गढ़ा गया है, इसलिए प्रमुख रूप से प्रक्रियामूलक है; इस प्रकार 'समाधिमरण' पहले प्रकार का शब्द है और 'सल्लेखना' दूसरे प्रकार का। इसलिए आलेख-प्रस्तोता का यह स्पष्ट मत है कि ये दोनों शब्द पूरी तरह समानार्थी या पर्यायवाची नहीं हैं व नहीं हो सकते, -जैसाकि अधिकांश लोग मानते हैं।

चित्तं समाहिदं जस्स होज्ज वज्जिदविसोत्तियं वसियं।
 सो वहदि णिरदिचारं सामण्णधुरं अपरिसंतो॥
 चालणिगयं व उदयं सामण्णं गलइ अणिहुदमणस्स॥
 कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू॥

- भगवती आराधना, १३४-१३५

ऐसी समाधि के साथ मरण समाधिमरण है। सर्वार्थसिद्धि में मरण के बारे में लिखा है कि अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इंद्रियों का, मन-वचन-काय रूप तीनों बलों का कारण विशेष के मिलने पर नाश होना मरण है-

स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम्।

- सर्वार्थसिद्धि, ७/२२

‘भगवती आराधना’ की विजयोदया टीका में मरण संबन्ध में उल्लेख आता है कि मरण, विगम, विनाश व विपरिणाम- ये एकार्थवाचक हैं और मरण जीवनपूर्वक होता है अथवा प्राणों के परित्याग का नाम मरण है अथवा प्रस्तुत आयु से भिन्न आयु के उदय में आने पर पूर्व आयु का विनाश होना मरण है अथवा अनुभूयमान आयु नामक पुद्गल का आत्मा के साथ से विनष्ट होना मरण है -

‘मरण विगमो विनाशः विपरिणाम इत्येकोऽर्थः। तच्च मरणं जीवितपूर्वम्।
 अथवा प्राणपरित्यागो मरणम्। अण्णाउगोदये वा मरदि य पुच्चाउणासे वा
 मरणम्।... अथवा अनुभूयमानायुसंज्ञकपुद्गलगलनं मरणम्॥

- भगवती आराधना, विजयोदया टीका, २५

इस प्रकार समाहित चित्त वाले निश्चल मन साधु का अनंतचतुष्टय रूप आत्म-स्वभाव में रमण करते हुए प्राणों के त्यागने की क्रिया का नाम ‘समाधिमरण’ है।

पण्डित आशाधर जी ने ‘सागारधर्मामृत’ के आठवें अध्याय में सल्लेखना को समाधिमरण से भिन्न माना है, क्योंकि वे लिखते हैं कि -
 ‘अथ सल्लेखनाविधिपूर्वकं समाधिमरणोद्योगविधिमाह-

उपवासादिभिः कायं कषायं च श्रुतामृतैः।

संलिख्य गणमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी॥१५॥’

अर्थात् सल्लेखना की विधि के साथ समाधिमरण के उद्योग की विधि कही जाती है- समाधिमरण के लिए यत्नशील साधक को उपवास आदि के द्वारा शरीर को और श्रुतज्ञान रूपी अमृत के द्वारा कषाय को सम्यक् रूप से कृश करके अर्थात् सल्लेखनापूर्वक जहाँ चतुर्विध संघ हो, वहाँ चला जाना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि पण्डित आशाधर जी सल्लेखना और समाधिमरण को समानार्थक नहीं मानते हैं।

‘समाधिमरण’ के लगभग अन्य समानार्थक प्रमुख पारिभाषिकों के रूप में ‘प्रशस्तमरण’ और ‘पण्डितमरण’ का प्रयोग ‘भगवती आराधना’ में आचार्य शिवार्य ने किया है तथा सल्लेखना के अर्वांतर प्रमुख भेदों के रूप में ‘बाह्य सल्लेखना’, ‘आभ्यंतर सल्लेखना’ को माना है व ‘भक्तप्रतिज्ञा’ या ‘भक्तप्रत्याख्यान’, ‘इंगिनीमरण’ और ‘पादोपगमन या प्रायोपगमन मरण’ ‘प्रशस्तमरण’ या ‘पण्डितमरण’ के भेद हैं एवं ‘भक्तप्रतिज्ञा’ या ‘भक्तप्रत्याख्यान’ के ‘सविचार’ व ‘अविचार’ नामक दो भेद कहे गए हैं। यद्यपि सम्पूर्ण ‘भगवती आराधना’ ग्रंथ में इन सभी पारिभाषिकों के स्वरूप, अनुपालन व उनकी अवधारणा प्रक्रिया पर ही विशद रूप में चर्चा हुई है।

‘सल्लेखना’ और ‘समाधिमरण’ इन दोनों पारिभाषिकों के स्वरूप पर विचार करें, तो यह बात भी उभर कर आती है कि ‘सल्लेखना’ में सम्यक् रूप से काया और कषायों को कृश करने अर्थात् कम करने की बात है, जबकि समाधिपूर्वक होने वाली मृत्यु का नाम ‘समाधिमरण’ है और इसीलिए आचार्य पूज्यपाद ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ की अपनी ‘सर्वार्थसिद्धि’ टीका में ‘सल्लेखना’ को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ‘*सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना।*’ इससे स्पष्ट है कि सल्लेखना में एक ओर समुचित रूप से काया को कृश करने की बात है, तो वहीं दूसरी ओर कषायों को कम करने की। इसी कषायों को कम करने की प्रक्रिया को समाहित करने वाली सल्लेखना को भीतरी अर्थात् आभ्यंतर सल्लेखना और समुचित रूप से काया को को को कृश करने वाली को बाह्य सल्लेखना के रूप में निम्नांकित गाथा को उद्धृत करते हुए ‘भगवती आराधना’ में व्याख्यापित किया है आचार्य शिवार्य ने -

सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव।

अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे॥

- भगवती आराधना, २०८

इससे अगली गाथा में इस बाहिरी सल्लेखना को और स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि बल को बढ़ाने वाले सब रसों का त्याग करते हुए रूखे आहार से कोई एक नियम विशेष लेकर अपने शरीर को क्रमिक रूप से कृश करता है बाह्य सल्लेखना को धारण करने वाला व्यक्ति-विशेष, क्योंकि कहा गया है कि-

सव्वे रसे पणीदे णिज्जूहिता दु पत्तलुक्खेण।

अण्णदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो॥

- भगवती आराधना, २०९

इस प्रकार ऐसा लगता है कि जो अनशन व अवमौदर्य आदि बाह्य तप हैं, वे काय कृश करने रूप बाह्य सल्लेखना के कारक हैं तथा प्रायश्चित्त आदि रूप जो आभ्यंतर तप हैं, वे कषाय कृश करने रूप भीतरी सल्लेखना के एवं जिस प्रकार आभ्यंतर तप के बिना बाह्य तप निष्प्रयोज्य या निरर्थक होते हैं, ठीक उसी स्थिति आभ्यंतर सल्लेखना के बिना बाह्य सल्लेखना की होती है, इसलिए लगता तो यह है कि जब बाह्य सल्लेखना आभ्यंतर सल्लेखना की साधन बनती है, तभी काम की होती है और ठीक इसके विपरीत जब तक बाह्य सल्लेखना बाह्य सल्लेखना की क्रियाओं तक सीमित रहती है, तब तक बहुत काम की नहीं होती। बाह्य सल्लेखना के साथ-साथ आभ्यंतर सल्लेखना भी होना चाहिए, तभी क्रमशः चलकर पूर्ण परिणाम-विशुद्धि होगी और इस प्रकार तभी सम्यक् चारित्र रूप अनंत चतुष्टय-संपन्न शुद्ध आत्मिक स्वभाव में आत्मा रमण करने लगेगा। इसीलिए आचार्य शिवार्य कहते हैं कि इस प्रकार नाना प्रकार की शरीर सल्लेखना की विधि को करते हुए भी परिणामों की विशुद्धि को छोड़कर जो उत्कृष्ट भी तप करते हैं, उनकी चित्तवृत्ति तो पूजा-सत्कार आदि में ही लगी रहती है, उनके अशुभ कर्म के आस्रव से रहित शुद्धि नहीं होती। यथा -

एवं सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा व फासेंतो।

अज्झवसाणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज्ज॥

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगुं पि।

कुर्वन्ति बहिलेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी॥
 अविगु पि तवं जो करेइ सुविशुद्धसुक्कलेस्साओ।
 अज्झवसाणविशुद्धो सो पावदि केवलं सुद्धिं॥
 अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहणा भणिदा॥

- भगवती आराधना, २५८-६१

भगवती आराधना में सीधे 'समाधिमरण' या 'मरणसमाधि' शब्दों का बहुशः पारिभाषिकों की तरह उल्लेख कर किसी स्थान विशेष पर आचार्य शिवार्य ने विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है, जबकि प्रकारांतर से पूरा ग्रंथ ही 'समाधिमरण' या 'मरणसमाधि' को व्याख्यायित करने के लिए उन्होंने रचा है। एक स्थान पर वे उल्लेख करते हैं कि जो पाँच प्रकार की शुद्धियों और पाँच प्रकार के विवेक को बिना प्राप्त किये मरण को प्राप्त होते हैं, वे समाधि को नहीं ही पाते हैं और इसके ठीक विपरीत निश्चित मति वाले जो पाँच प्रकार की शुद्धियों और पाँच प्रकार के विवेक को प्राप्त कर चुक हैं, वे निश्चय से परम समाधि को प्राप्त होते हैं -

पंचविहं जे सुद्धिं अपाविदूण मरणमुवणमंति।
 पंचविहं च विवेगं ते खु समाधिं ण पावेंति॥
 पंचविहं जे सुद्धिं पत्ता णिखिलेण णिच्छिदमदीया॥
 पंचविहं च विवेगं ते हु समाधिं परमुवेंति॥

- भगवती आराधना, १६६-१६७

ये पाँच प्रकार की शुद्धियाँ हैं - १. आलोचना, २. शय्या, ३. संस्तर और परिग्रह (उपधि), ४. भक्तपान, तथा ५. वैयावृत्य करने वालों की शुद्धि अथवा १. दर्शन, २. ज्ञान, ३. चारित्र, ४. विनय तथा ५. आवश्यकों की शुद्धि। इसीप्रकार पाँच प्रकार के विवेक हैं- १. इंद्रिय, २. कषाय, ३. उपधि, ४. भक्तपान, तथा ५. देह का विवेक अथवा १. शरीर, २. शय्या, ३. संस्तर और परिग्रह (उपधि), ४. भक्तपान, तथा ५. वैयावृत्य करने वालों का विवेक एवं ये विवेक द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं।^१

अब बात भगवती आराधना के संदर्भ से 'प्रशस्तमरण' और 'पंडितमरण' की, की जानी अपेक्षित है। यद्यपि भगवती आराधना में 'प्रशस्तमरण' का उल्लेख करते हुए सीधे उसकी व्याख्या नहीं प्रस्तुत की गई है, तथापि एक

गाथा में^२ उसका उल्लेख व विजयोदया टीका में गाथा संख्या २६ की व्याख्या करने में अन्य मत को उद्धृत करते पंडितमरण के पर्याय के रूप में मिलता है, क्योंकि जो पंडितमरण के भक्तप्रत्याख्यान आदि भेद हैं, वे ही गाथा में प्रशस्तमरण के भेद दर्शाये गये हैं^३, इस प्रकार चार प्रकार के पंडित कहे गए हैं, उनमें जिसका पांडित्य दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अतिशयशाली है, उसे पंडितपंडित कहते हैं और जिसका पांडित्य प्रकर्ष से रहित है, वह पंडित है तथा जिसमें बालपन और पांडित्य दोनों होते हैं, वह बालपंडित है व उसका मरण बालपंडितमरण है एवं जिसमें चारों प्रकार के पांडित्य में एक भी प्रकार का पांडित्य नहीं होता, वह बाल है व उसका मरण बालमरण है और जो सबसे हीन है, उसका मरण बालबालमरण है।^४ सर्वार्थसिद्धि में प्रशस्त को परिभाषित करते हुए पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि -

कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात् प्रशस्तम्। -सर्वार्थसिद्धि, ९/२८

अर्थात् जो कर्मों के निर्दहन करने में सक्षम है, वह प्रशस्त है। इसलिए प्रशस्त की प्रक्रिया में कर्मों के निर्दहन करने की बात प्रमुख रूप से है, वैसे भी पंडितपंडितमरण होता ही तब है, जब सारे कर्म जलकर राख हो जाते हैं, बाकी पंडित व बालपंडित मरण में क्रमशः कर्मों के निर्दहन करने की अंतिम प्रक्रिया का सुनिश्चय जरूर हो जाता है और इस प्रकार जीव का मुक्ति के पथ पर बढ़ना भी होता है, क्योंकि जब जीव का किसी भी प्रकार का पंडितमरण होता है, तो उसके संसार के भव सीमित रह जाते हैं, इसलिए प्रशस्तमरण बनाम पंडितमरण संसार को सीमित करने व समाप्त करने की प्रक्रिया का नाम है। इसीलिए पंडित की व्याख्या करते हुए परमात्मप्रकाश में कहा गया है -

देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।

परमसमाहि परियुउ पंडिउ सो जि हवेइ॥

- परमात्मप्रकाश, २/१४

जो पुरुष शरीर से भिन्न मानता हुआ परमात्मा को केवलज्ञान कर पूरी तरह जानता, वही परम समाधि में तिष्ठता हुआ पंडित अर्थात् अंतरात्मा है।

यद्यपि भगवती आराधना में मरण के सत्रह भेदों का उल्लेख आचार्य शिवार्य ने किया है, तथापि उन्होंने पांच भेदों यथा - पंडितपंडित मरण, पंडित

मरण, बाल पंडित मरण, बाल मरण तथा बालबाल मरण पर ही संक्षेप में चर्चा करना अभीष्ट माना है⁴ और उनमें भी राग-द्वेषादि अशुभ भावों से रहित समाहित चित्त की दृष्टि से यदि विचार किया जाए, तो वह पूर्ण रूप से तो केवली भगवान के शरीर छोड़ने में अर्थात् पंडितपंडित मरण में ही होता है, पर राग-द्वेषादि अशुभ भावों से रहित आंशिक समाहित चित्त पंडित मरण व बाल पंडित मरण करने वालों के भी होता है, इसलिए मरण-काल में आंशिक समाधि उनकी भी होती है, लेकिन बाल मरण तथा बालबाल मरण में राग-द्वेषादि अशुभ भावों से रहित समाहित चित्त आंशिक रूप से भी नहीं होता, इसलिए मरण-काल में उनकी आंशिक समाधि भी नहीं होती है।

भगवती आराधना की कुछ प्रतियों में उपलब्ध आगे लिखी कारिका में वर्णन आता है कि पंडितपंडित मरण, पंडित मरण, बाल पंडित मरण की जिनेन्द्रदेव ने प्रशंसा की है, जिसका भाव यह है कि उपर्युक्त तीनों मरण जिनपरम्परानुसार प्रशस्तमरण हैं, यथा -

पंडितपंडितमरणं च पंडितं बालपंडितं चैव।

एदाणि तिणिण मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसति॥

आचार्य शिवार्य की मान्यता है कि उपर्युक्त में से पंडितपंडितमरण उन केवली दिव्यात्माओं को होता है, जिनके कषाय नष्ट हो गए हैं व जो विरताविरत जीव हैं, वे तृतीय मरण अर्थात् बाल पंडित मरण से मृत्यु पाते हैं, इसीलिए तो भगवती आराधना में उन्होंने लिखा है कि -

पंडितपंडितमरणे खीणकसाया मरंति केवलिनो।

विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण॥

- भगवती आराधना, २७

ये विरताविरत कौन हैं ? इनके बारे में आचार्य कहते हैं कि जो समस्त असंयम का त्याग करने में असमर्थ है व जो स्थूल हिंसा, स्थूल, झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पांच पापों का त्याग करता है, उसे देशविरत या विरताविरत कहते हैं और जो देशविरति के भी एक देश से विरत होता है अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार हिंसा आदि का त्याग करता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है; इस प्रकार जो समस्त या एकदेश गृहस्थधर्म का पालक श्रावक होता है, उसके मरण को जिनागम

में बालपंडितमरण कहा गया है -

देसेक्कदेसविरदो सम्मादि मरिज्ज जो जीवो।
तं होदि बालपंडितमरण जिणसासणे दिं॥

- भगवती आराधना, २०७२

वहीं आगे यह भी उल्लेख आता है कि सहसा मरण उपस्थित होने पर, जीवन की आशा रहने पर या परिजनों के द्वारा अनुमति न दिए जाने के कारण जो अंतिम सल्लेखना धारण न कर सके हैं, ऐसे उस अपने दोषों की आलोचनापूर्वक माया, मिथ्यात्व और निदान आदि तीनों शल्यों से रहित होकर अपने घर में ही संस्तर पर थिर होकर मरण करने वालो देशविरत श्रावक के मरण को बालपंडितमरण कहा जाता है -

आसुक्कारे मरणे अब्बोच्छिण्णाए जीविदासाए।
णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी॥
आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहितु संथारं।
जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपंडिदयं॥

- भगवती आराधना, २०७७-७८

साधु परमेष्ठी को भगवती आराधना में पंडित माना गया है और पंडित के मरण को पंडितमरण कहा जाता है। विजयोदया टीका में पंडितमरण के चार भेद कहे गए हैं - व्यवहार पंडित, सम्यक्त्व पंडित, ज्ञान पंडित और चारित्र पंडित। जो लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपुण हैं अथवा जो अनेक शास्त्रों के ज्ञाता हैं, सेवा आदि बौद्धिक गुणों से युक्त हैं, वे व्यवहार पंडित हैं। क्षायिक, क्षायोपशमिक या औपशमिक सम्यग्दृष्टि से युक्त व्यक्ति विशेष सम्यक्त्व पंडित या दर्शन पंडित हैं। जो मति, श्रुत आदि ज्ञानों से युक्त हैं, वे ज्ञान पंडित हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र में से किसी एक चारित्र का पालक चारित्र पंडित है। व्यवहार पंडित मिथ्यादृष्टि का मरण तो बालमरण होता है और सम्यग्दृष्टि का दर्शनपंडितमरण। दर्शनपंडितमरण नरक में, भवनवासी, वैमानिक, ज्योतिष्क व व्यंतर देवों में और द्वीपसमूहों में होता है। ज्ञानपंडितमरण भी इन्हीं में होता है, किन्तु केवलज्ञान व मनःपर्ययज्ञानपंडितमरण मनुष्यलोक में ही होता है।^१

पंडितमरण के चारों भेदों की उपर्युक्त चर्चा से यह बात स्पष्टतः

सामने आती है कि लोकव्यवहारज्ञ पंडित को छोड़कर श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र में निपुण पंडित का मरण ही सार्थक मरण है तथा इन श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र की निपुणता में भी यद्यपि बात आत्मस्वरूप पर विश्वास, उसके विचार व उसमें आचरण को लेकर है, तथापि वहाँ प्रमुखता मोक्षोन्मुख चारित्राराधना की ही है, क्योंकि वही मोक्षोपलब्धि में साक्षात् कारण भी है। भगवती आराधना में पंडितमरण के पादोपगमन मरण, भक्तप्रतिज्ञा व इंगिनी मरण आदि तीन प्रकार बताये गए हैं तथा कहा गया है कि वह पंडितमरण शास्त्र में कहे अनुसार आचरण करने वाले साधु के होता है।^७

सन्दर्भ :

१. भगवती आराधना, १६८-१७१
२. वही- ८३
३. पुव्वं ता वण्णेसिं भत्तपइण्णं पसत्थमरणेसु।
उस्सण्णं सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा॥ - भगवती आराधना, ६३
४. भगवती आराधना की विजयोदया टीका, गाथा-२६
५. पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च॥ - भगवती आराधना, २६
६. भगवती आराधना की विजयोदशा टीका गाथा-२५
७. पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स॥ - भगवती आराधना, गाथा-२८

क्रमशः अगले अंक में ...

- प्रो. व अध्यक्ष, भाषा-विद्यापीठ
महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रिय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा (महाराष्ट्र)

जैनदर्शन में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की अवधारणा

• डॉ. मारूफ उर रहमान

मनोविज्ञान के क्षेत्र में भारतीय चिन्तन का विशिष्ट महत्त्व है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन दो धाराओं में विभक्त है आस्तिक, नास्तिक। मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से आस्तिक दर्शनों में योग सांख्य तथा न्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। इनमें भी योग ऐसा व्यावहारिक दर्शन है जिसके महत्त्व तथा प्रायोगिक रूप को सभी आस्तिक दर्शनों ने स्वीकार किया है। तिब्बत-नेपाल-चीन में बौद्ध मत प्रचलित था। इन शान्त पर्वतीय स्थलों में अनेक योगी भी तपस्या रत रहे। सभी जैन तीर्थंकर भी उच्च कोटि के यौगिक साधक हुए और उसी के माध्यम से दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सके। जैन दार्शनिक चिन्तन में मनः शास्त्रीय सामग्री भी यत्र-तत्र विकीर्ण मिलती है।

जैन दर्शन के आधार पर सृष्टि के मूल तत्त्वों को जीव और अजीव दो तत्त्वों में विभाजित किया गया है। जीव, जिसे अन्य दर्शनों में भी वर्णित किया गया है, इसका मुख्य लक्षण चेतना है, यह नित्य है, ज्ञाता है, स्वयं ज्ञान का विषय नहीं बनता है, कर्म करने हेतु स्वतंत्रकर्ता है, अतः शुभ अथवा अशुभ कर्म करके अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करता है तथा सुखदुःखादि रूप फल भोगने के कारण भोक्ता भी है। उसके कर्ता और भोक्ता स्वरूप को छोड़कर अन्य स्वरूपगत विशेषताएँ सांख्य के पुरुष से साम्य रखती हैं। इसी प्रकार जैन मत में मान्य अजीव (जड़) तत्त्व सांख्य के प्रकृति तत्त्व के समान ही है। ये दोनों जीव और अजीव परस्पर सम्पर्क में आते हैं। जिससे जीव को नाना प्रकार की दशाओं का अनुभव कराने वाले बन्धनों तथा शक्तियों का निर्माण होता है। चेतना को जीव का मुख्य लक्षण^१ बताकर जैनों ने अपने मत का सांख्य से साम्य तथा न्याय से वैषम्य स्पष्ट कर दिया है क्योंकि न्याय दर्शन में चेतना को आत्मा का आकस्मिक गुण

माना गया है। जैन मत में यदि जीव और अजीव की यह संपर्क धारा टूट जाये तो जीव अपनी शुद्ध बुद्ध और मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है, किन्तु जैनियों की इस मुक्ति और सांख्य के कैवल्य में अन्तर भी है। जैन विचारकों के अनुसार जीव में चार प्रकार की पूर्णताएँ पाई जाती हैं जिन्हें अनन्त चतुष्टय कहते हैं। (१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त शक्ति, और (४) अनन्त सुख। ऐसी स्थिति में मुक्त जीव की होती है। आत्मा को अस्तिकाय (Extended) द्रव्यों के वर्ग में रखा गया है। स्वयं में अमूर्त होते हुए भी यह शरीर में उसके आकार के अनुरूप स्वरूप वाला हो जाता है यथा चीटी में छोटा और हाथी में विशाल आकार वाला। इससे मिलते-जुलते विचार प्लेटों और अलैक्जेंडर ने भी व्यक्त किये हैं। ऐसे विचारकों के अनुसार आत्मा के आयाम होते हैं और उसमें विस्तार और संकोच की गुजाइश होती है। माता के गर्भ में अत्यन्त लघुआकार में रहने वाला आत्मा शरीर के साथ विस्तृत होता जाता है। इस पृथ्वी पर प्रत्येक जीवन के अन्त में वह भविष्य के जन्म के बीज से सम्बद्ध होता है। यह आत्मा अपने निजी शरीर में स्थित होकर अपनी आभा अपने बुद्धि-चैतन्य को तथा समस्त देह को दे देता है।^१ माहर अपने 'साइकोजॉजी' नामक ग्रन्थ में कहता है कि *"आत्मा सारे शरीर में उपस्थित है, यद्यपि निर्गुण अवस्था में है। इसके अतिरिक्त यह अन्य सब स्थानों पर भी उपस्थित है, भले ही यह सर्वत्र पूर्ण सार रूप में अपने सब गुणों का उपयोग करने में समर्थ न हो।"*^२

जैनदर्शन में सात तत्त्वों को स्वीकार किया गया है- जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। सांख्य के पुरुष, प्रकृति, उनका सम्पर्क, उससे उत्पन्न अविद्या, विवेकज्ञान और कैवल्य जैन मत के उक्त सात तत्त्वों के ही नामान्तर हैं। इन जीव-अजीव आदि तत्त्वों में से जैन आगमशास्त्र के अन्तर्गत कर्म सिद्धान्त आता है जिसमें सम्मिलित है - आस्रव और बन्ध। शेष में से जीव और अजीव तत्त्वज्ञान के विषय है। संवर और निर्जरा आचार शास्त्र के विषय है तथा मोक्ष अन्य दर्शनों की भाँति ही जीवन का अन्तिम ध्येय है।

आस्रव तत्त्व :

जैन दार्शनिकों ने मन और शरीर के द्वैत को माना है। प्रत्येक जीव

का एक शरीर और उसमें पाँच द्रव्य (कर्म) इन्द्रियों तथा पाँच उनके प्रतिरूप भावेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों की सत्ता को भी स्वीकार किया गया है।

इन्द्रियाँ जीव की केवल बाह्यरूप शक्तियाँ अथवा साधक हैं ये वे घटक हैं जो समस्त पदार्थों के सुखानुभावों को सम्भव बनाते हैं। इन्द्रियों में सुखानुभव की योग्यता है और सुखानुभव के विषय बाह्यरूप में भौतिक पदार्थ है। स्पर्श के आठ प्रकारों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के विभाग देखे जा सकते हैं।^४ उष्ण एवं शीत, खुरदुरा और चिकना, नरम और कठोर, हलका और भारी। इसी प्रकार स्वाद के पाँच भेद हैं : चरपरा, या तीखा, खट्टा, कड़वा, मीठा और कसैला, गन्ध के दो भेद हैं - सुगन्ध और दुर्गन्ध। रंग के पाँच भेद हैं- काला, पीला, नीला, सफेद और गुलाबी। इसी प्रकार शब्द के सात भेद- षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद आदि माने गये हैं। द्रव्येन्द्रिय से तात्पर्य पाँच कर्मेन्द्रियों से है। पाँच द्रव्य और भावेन्द्रियों के अतिरिक्त एकादश इन्द्रिय मन की सत्ता अन्य दर्शनों के भाँति जैन दर्शन में मानी गई है। वैसे मनः शास्त्रियों ने इसको एक आन्तरिक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। जैन इसे 'नो इन्द्रिय' कहते हैं। जीव की क्रियाओं में काय, वाक् और मन ये विशेष साधन होते हैं- इनकी क्रियाओं को योग कहा जाता है। इन कालयोग, वाग्योग और मनोयोग के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में एक परिस्पन्द होता है, जिसके कारण आत्मा में एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जिसमें उसके आसपास भरे हुये सूक्ष्माति सूक्ष्म पुद्गल परमाणु आत्मा के संलग्न हो जाते हैं। आत्मा के इन परमाणुओं से सम्पर्क का नाम आस्रव है। वाक् काय और मन की क्रिया द्वारा आये हुए इन परमाणुओं को ही कर्म कहते हैं। इस प्रकार इन पुद्गल परमाणुओं की कर्म संज्ञा लाक्षणिक है।

जैन चिन्तन भी प्रत्यक्ष ज्ञान को इन्द्रिय के साथ पदार्थ के सन्निकर्ष से जन्य मानता है। यह यान्त्रिक सन्निकर्ष मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्ष की सम्पूर्ण परिभाषा नहीं है। ये तो केवल उस आवरण को हटाने में सहायक हो सकता है जो जीवात्मा के ज्ञान को ढके रहता है। प्रमाता जीवात्मा, ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता है, अर्थात् वही जानता, भोग करता और कर्म करता है। चेतना के तीन प्रकार बताये गये हैं- ज्ञान, अनुभव और कर्मों के फलों का उपभोग और

इच्छा।^१ जीव और पुद्गल के बीच का सम्बन्ध विषयी प्रमाता का विषय प्रमेय के साथ सम्बन्ध है।

सिद्धात्मा सर्वज्ञ होते हैं क्योंकि उनकी चेतना में विश्व प्रतिबिम्बित रहता है। जीव की इच्छा से ही विषयी और विषय में क्रिया प्रतिक्रिया होती है इच्छा के कारण ही जीव बन्धन में पड़ता है पर उसका इच्छारहित होना भी सम्भव है। जैनियों के ये विचार श्रीमद्भागवद् गीता से साम्य रखते हैं काय आदि योगों के द्वारा जीव में उत्पन्न होने वाला परिस्पन्द दो प्रकार का होता है- १. क्रोध, मान आदि मानसिक विकार से रहित साधारण क्रियाओं के रूप में २. मान, क्रोध, माया और लोभ इन मनोविकार रूप कषायों के वेग से प्रेरित। प्रथम प्रकार के द्वारा आत्मा और कर्म प्रदेशों का कोई स्थिर बन्ध उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार का कर्मास्रव समस्त संसारी जीवों में निरन्तर हुआ करता है क्योंकि किसी न किसी प्रकार की मानसिक शारीरिक या वाचिक क्रिया सदैव हुआ करती है किन्तु उसका कोई विशेष परिणाम आत्मा पर नहीं पड़ता है। जीव की मानसिक आदि क्रियाएं कषायों से युक्त होती हैं तब आत्मप्रदेशों में एक ऐसी पदार्थ-ग्राहिणी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसके सम्पर्क में आने वाले कर्म परमाणु उससे शीघ्र पृथक् नहीं होते हैं क्रोधादि विकारों की इसी शक्ति के कारण उन्हें कषाय कहते हैं।^{१६} ये क्रोधादि मनोविकार जीव में कर्म परमाणुओं का आश्लेष कराने में कारणीभूत होने के कारण ही कषाय कहलाते हैं। इस सकषाय अवस्था में उत्पन्न हुआ कर्मास्रव साम्प्रायिक कहलाता है और यह अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना आत्मा से पृथक् नहीं होता।

जैन विचारकों ने आत्मा को क्रियाशील माना है और शरीर को निष्क्रिय। इस प्रकार उन्होंने विषयी विज्ञानवाद और भौतिकवाद दोनों के दोषों का निराकरण करके मन और प्रकृति के साहचर्य को स्वीकार किया है। किन्तु जैनमत इस विषय का विचार नहीं करता कि आत्म एवं अनात्म में भेद मन के अनिवार्य स्वभाव की ही उपज है। जैनमत विकास के ऐसे भी किसी विचार से अभिज्ञ नहीं है, जिसके अनुसार शरीर अपने विकास की उच्चतर अवस्थाओं में नये गुण धारण कर लेता है।^{१७} जैनदर्शन में मन और शरीर के द्वैतभाव को माना गया है।

जैन चिन्तन में जीव के दो प्रकार माने गये हैं- बद्ध और मुक्त। बद्ध के दो भेद हैं- स्थावर और त्रस (चल)। स्थावर जीवों में पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि तथा वनस्पति आदि आते हैं- इनकी एक ही ज्ञानेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय होती है। त्रस-गतिशील जीवों को कहते हैं। ये निरन्तर भटकते रहते हैं तथा विभिन्न प्रकार के होते हैं। भिन्न-भिन्न कोटि के जीवों में चैतन्य की मात्रा भी भिन्न-भिन्न अर्थात् कम विकसित या अधिक विकसित होती है। सर्वाधिक विकसित चेतना मुक्त जीवों में तथा सबसे कम स्थावरों में पाई जाती है।

बन्ध तत्त्व :

सभी भारतीय दर्शनों की भाँति जैन दर्शन में जन्म ग्रहण करने तथा संसार के दुःखभोग को जीवन का बन्धन माना गया है तथा साथ ही बन्धन विषयक उनके विचारों में कुछ विशिष्टता भी है। जीव में अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द की पूर्णता-गुणरूप स्वीकार की गई है। परन्तु बन्धन की अवस्था में ये सारी पूर्णताएँ ढकी रहती हैं। जीव के शरीर का निर्माण पुद्गल कणों से हुआ है। अतः जीव का पुद्गल से संयोग होता है यही बन्धन है। अज्ञान से अभिभूत रहने के कारण जीव में वासनाएँ निवास करने लगती हैं। ये चार हैं- क्रोध, मान, लोभ और माया। इन्हीं को कषाय भी कहा जाता है क्योंकि इन्हीं वासनाओं या कुप्रवृत्तियों के वशीभूत होकर जीव शरीर के लिये लालायित रहता है। जैन सिद्धान्त में मनुष्य में उसके अपने कर्मों के उत्तरदायित्व तथा पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थितियों को बदल देने की शक्ति है।

कर्म-प्रवृत्तियाँ :

(१) ज्ञानावरण कर्म-बन्धे हुये कर्मों में उत्पन्न होने वाली प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं। मूल और उत्तर। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र- ये अष्ट मूल प्रकृतियाँ होती हैं। इनकी भी पृथक्-पृथक् भेदरूप विभिन्न उत्तर प्रकृतियाँ बतलायी गयी हैं। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है जिसके कारण संसारावस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। इसकी उत्तरप्रकृतियाँ- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय एवं केवल ज्ञान

है।

(२) दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत्त करता है। इसकी नौ उत्तरप्रकृतियाँ हैं- निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यान गृद्धि तथा चक्षुदर्शनावरणीय अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय। निद्रा कर्मेन्द्रिय से सजीव को निद्रा आती है। उसकी प्रगाढ़ अवस्था अथवा पुनः-पुनः वृत्ति को निद्रा-निद्रा कहते हैं। प्रचला कर्म के उदय से मनुष्य को ऐसी निद्रा आती है कि वह सोते-सोते चलने लगता है। अथवा अन्य व्यापार करने लगता है। प्रचला-प्रचला इसी का गाढ़तर रूप है। जिसमें उक्त क्रियायें बार-बार एवं अधिक तीव्रता से होती है। स्त्यानगृद्धि कर्मेन्द्रिय के कारण जीव स्वप्नावस्था में ही उन्मत्त होकर नाना रौद्र कर्म कर देता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के कारण नेत्रेन्द्रिय की दर्शन शक्ति क्षीण होती है। अचक्षुदर्शनावरणीय से शेष इन्द्रियों की शक्ति मन्द पड़ती हैं। तथा अवधि एवं केवल दर्शनावरणीय द्वारा उन दर्शनों के विकास में बाधा उपस्थित होती है।

(३) मोहनीय कर्म : जीव के मोह अर्थात् उनकी रुचि व चरित्र में अविवेक, विकार तथा विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। इसके मुख्य दो भेद हैं- दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय। इनके पुनः अनेक अवान्तर भेद होते हैं।

(४) अन्तराय कर्म : जीव के बाह्य पदार्थों के आदान-प्रदान और भोगोपभोग तथा स्वकीय पराक्रम के विकास में विघ्न बाधा उत्पन्न करने वाले अन्तराय कर्म कहलाते हैं। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ पाँच हैं- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

(५) वेदनीय कर्म : जो कर्म जीव को सुख या दुःख रूप वेदना उत्पन्न करता है उसे वेदनीय कहते हैं। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ दो हैं- सातावेदनीय-सुख का अनुभव कराने वाली - असाता वेदनीय - दुःख का अनुभव कराने वाली।

(६) आयुर्कर्म : जिस कर्म के उदय से जीव की आयु का देव, नर, मनुष्य या तिर्जगजाति में निर्धारण होता है, वह आयु कर्म है और इसकी देवायु, नर-आयु, मनुष्यायु या त्रिर्यगायु - चार प्रकृतियाँ हैं।

नाम कर्म : जिस प्रकार मोहनीय कर्म के द्वारा विशेष रूप से प्राणियों के मानसिक गुणों एवं विकारों का निर्माण होता है। उसी प्रकार शारीरिक गुणों के निर्माण में नाम कर्म विशेष समर्थ कहा गया है। नाम कर्म के मुख्य भेद बयालीस (४२) तथा उनके उपभेदों की संख्या तिरानवे (९३) है - ये उत्तर प्रकृतियाँ मानी गयी हैं।

गोत्र कर्म : लोक व्यवहार सम्बन्धी आचरण को गोत्र माना गया है। जैन कर्म सिद्धान्त में मनुष्य के कर्मों को फलदायक बनाने के लिए किसी एक पृथक् शक्ति की आवश्यकता नहीं समझी गयी और उसने अपने सिद्धान्त द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व, उसके गुण, आचरण एवं सुख-दुःखात्मक अनुभवों को उत्पन्न करने वाली कर्मशक्तियों का एक सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार जैन मत में प्रत्येक व्यक्ति को आचरण के सम्बन्ध में पूर्णतः उत्तरदायी बनाया गया है।

जैन मत में अन्य दर्शनों की भाँति चार पुरुषार्थ - धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की मान्यता है जिसमें से अर्थ और धर्म क्रमशः काम और मोक्ष के साधन स्वरूप है। मोक्ष जीव का चरम पुरुषार्थ है। वह सच्चा सुख है। क्योंकि वह कामादि सांसारिक सुख की तरह अल्पकालीन न होकर चिरस्थायी है। इस बात को ध्यान में रखते हुये कि प्रत्येक प्राणी का अभिलाषा रूपी गर्त इतना बड़ा है कि उसमें विश्व भर की सम्पदा एक अणु के समान है तब फिर सबकी आशाओं की पूर्ति कैसे, कितना देकर की जा सकती है, जैन सिद्धान्त में सांसारिक विषयों की वासना को सर्वथा व्यर्थ माना गया है। उसकी ओर प्रवृत्ति के द्वारा किसी को स्थायी सुख शांति नहीं मिल सकती है। इसीलिए सच्चे स्थायी सुख के लिये मनुष्य को अर्थ संचय रूप प्रवृत्ति परायणता से मुड़कर धर्म साधन रूप विरक्ति परायणता का अभ्यास करना चाहिए, जिसके द्वारा सांसारिक तृष्णा से मुक्ति रूप मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। मनु ने भी सुख और दुःख की परिभाषा इसी प्रकार की है। जैन धर्म में मोक्ष प्राप्ति का उपाय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र को बतलाया है। इन तीनों को रत्न त्रय माना गया है।

व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं - (१) सम्यक् दृष्टियुक्त (२) मिथ्या

दृष्टियुक्त। मिथ्यात्व के पाँच भेद बताये गये हैं- विपरीत, एकान्त, संशय, विनय और अज्ञान। मिथ्यात्वी पुरुष असत्य को सत्य, बुराई को अच्छाई तथा पाप को पुण्य मानकर चलता है - यही उसकी विपरीतता है। उसमें हठग्राहिता पाई जाती है। संशयशील वृत्ति भी मिथ्यात्व का लक्षण है। अच्छी से अच्छी बात में मिथ्यात्वी को पूर्ण विश्वास नहीं होता एवं प्रबलतम तर्क और प्रमाण उसके संशय को दूर नहीं कर पाते हैं। विनय का अर्थ है - नियम परिपालन किन्तु बिना विवेक के किसी भी प्रकार के अच्छे बुरे नियम का पालन करना ही श्रेष्ठ समझ बैठना विनय मिथ्यात्व है। तत्त्व और असत्त्व के सम्बन्ध में जानकारी या सूझ-बूझ के अभाव का नाम अज्ञान है।

भारतीय दर्शनों की भाँति ही जैनमत में भी मन को अन्तरन्द्रिय और क्रोधादि को कर्मबन्धन में बाँधने वाला माना गया है। जैन मनोविज्ञान में भी प्रायः उन्हीं तत्त्वों को अपनाया गया है जिनकी सत्ता सांख्य दर्शन में स्वीकृत है।

संदर्भ :

१. चेतना लक्षणो जीवः।
२. कुन्दकुन्दाचार्यः पञ्चास्तिकाय समयसार ३३
३. Quoted in Indian Philosophy p.285 Dr. Radha Krishnan.
४. उमास्वति तत्त्वार्थसूत्र, २.९१
५. पञ्चास्तिकाय समयसार, ३८
६. मन एवं मनष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
७. डॉ. राधाकृष्णनः भारतीय दर्शन, पु. २८४

- असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
जाकिर हुसैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली,

Anekantavada : A Way to Peace - building

- Samani Rohit Pragya

The quest for peace is an eternal pursuit for human fulfilment. Peace or absence of antagonistic, violent or destabilising conflict is essential for existence. Human being can become human and humane only in conditions of peace. Creativity, spirituality, individual and collective achievements attain grandeur and glory only when there is peace. Qualities of compassion, forgiveness, love, sharing and universal solidarity become cherished only when a community, society or nation is at peace - within and around. After demolition of World Trade Centre the youth of America have formed an organisation named *as we want peace and no war* and want to start a new dialogue to replace hatred by propagating friendship among the nations and different communities.¹ The UN has declared this decade as the *Decade of Culture of Peace and Non-violence* for the children of the world. The goal is to attain peace but man is entangled in the whirlpool of misery. Quarrels and conflicts have become the part and parcel of life. The fire of agitation burns continually. Is there any way to end this fire ? In this paper an attempt has been made to present unique principle of Jain Philosophy called 'Anekantavada' as one of the best solutions to end this fire of restlessness.

Today we think world as a 'global village'. It is getting smaller. We have vast networks of rapid surface communication and information system but we have a very disappointing communication system at the social and emotional level. Our society has become a curious mixture of advanced technology and backward psychology. Humanity is tottering today upon the brink of the principle of self-annihilation for the lack of proper understanding which includes understanding ourselves, understanding each other. At no period of human history man was in such a need of a sound Philosophy than today. How to attain peace is a big question. Peace needs a new civilization, a new culture and a new philosophy, where there is no narrowness and no partiality. Huxley is correct to a great extent when he says that war exists because people wish it to exist. We cannot check violence by remaining violent. But non-violence must precede non-violence in thought. 'Anekantavada', key principle of Jainism helps to practice non-violence in thought. *Anekantavada* is an extension of Ahimsa. Anekantavada is the corner stone of Jainism around which the whole philosophy has been developed. It is required to throw light on how the theory of Anekantavada originated and developed in Jainism.

Anekantavada : A Solution to Metaphysical Problems-

According to the Jain literature there were 363 schools of thought in the time of Lord Mahavira². All were discussing individual and cosmic realities in their own way. Lord Mahavira, articulated a non absolutistic perspective known

as Syadvada. i.e. relative verbal expression to deal with metaphysical, religious and practical problem of this time. According to him, the truth is multi-faceted and cannot be judged from one angle. Lord Mahavira answered all the question from relative point of view. For instance when it was asked to Mahavira by Gautama-

Jiva nam bhamte! kimsadaya? asasaya?

Goyama! jiva siya sadaya, siya asasaya³

It means lord! Are the souls eternal or non-eternal? He said, Gautama! The souls are eternal in some respect and non-eternal in some respect. From substantial point of view it is eternal and from modal point of view it is always changing so non-eternal⁴. In the same way when it was asked about permanence or impermanence of *pudgala*, lord gave the same reply.⁵

The non-absolutistic perspective given by Lord Mahavira, was latter on systematically developed as Anekantavada by the great logician by Lord Mahavira, was latter on systematically developed as Anekantavada by the great logician Siddhasena Divakara (5th century A.D.)⁶ and latter acaryas, Acarya Mahaprajna, the renowned Jain philosopher - Saint has established Anekantavada as philosophy of Co-existence, which is quite befitting in the era of Globalization.

Anekanta: Philosophy of Co-existence :

The world we live in is dualistic and discriminatory, a world of schism and identity. The unity remains hidden and the differences come to the fore. Many kinds of differences exist in the world like difference in beliefs, ideologies, interests, nature, emotions etc. Existence of diversity is not harmful, risk originates when person don't understand and accept this difference. Situations become complex when one remains attached to his own interest and attitude and does not respect others thoughts.⁷ *Anekanta* is the principle of pluralism and multiplicity of viewpoints. This notion states to have reverence for others thoughts and viewpoint. Reality is perceived differently from diverse standpoints so no single point of view is the complete truth. Every view is like an elephant and different people touch various parts of the elephant to describe it differently but inevitably it is nothing but the same elephant. No single, specific, human view can claim to represent the absolute truth. It encourages its adherents to consider the opposite views and beliefs of their rivals and opposing parties.

Anekanta teaches to accept co-existence of opposites. Anything or anybody existent must have their opposite - *yet sat tat sapretipaksam*.⁸ Without opposite, naming is impossible and so is characterization. The animate and inanimate are two extremes. Yet they co-exist. The body is inanimate: the soul is animate. They co-exist. The permanent and impermanent, similar and dissimilar, identical and different - all these are mutually contradictory; yet they co-exist in an object. To deny the co-existence of mutually conflicting viewpoints about a thing would mean to deny the true nature of reality. Absolute view point is a hurdle to know the truth and reality.⁹

The Principle of co-existence is as much practical as philosophical. Democracy and dictatorship, capitalism and communism are ideologically

different political system. But even they are no exception to co-existence. On the basis of co-existence institution like United Nations have the representation of both socialist and capitalist countries. Even though the idea of accommodating co-existence in politics is something new, in the laws of nature, the idea on co-existence found all the time.

Co-existence in Nature and Science :

In our body there are billions of cells. Every second five crore cells are being destroyed and new five crore are being created. When both the activities co-exist, then the body live on. Life and death are contradiction and yet they come together and move on together. Thus the existence of opposing pairs is intrinsic to nature¹⁰. Life and universe in nothing but a delicate balance of opposing forces, conflicting particles, contrasting energies and divergent view points. No adjective, no verb exists in this entire which does not have an antonym. Without the pairing opposite the world will lose its meaning. Light will be rendered redundant in the absence of darkness.

We can find the examples of co-existence in the world of science too. Scientific investigations of micro world have so far revealed that the basic building blocks of the matter are quarks. Interestingly, these quarks are found in the pairs of opposite spins. Even before this discovery, the co-existence of electron and proton, positively and charged particles is a well established scientific fact. Properties of magnet are very well known to us. Both north and south poles constitute a magnet. If by some means, we are able to demagnetize a magnet, both poles disappear together. A magnet with single pole is impossibility.¹¹ As opposite objects co-exist, opposite ideas can also co-exist. Conflicts arise when we are not ready to accept those opposite ideas and only try prove own ideas as right or perfect. It is believed, religion has power to create peace in society but if followers of religions are adamant, instead of creating peace, they make a nation more restless and miserable. The holiness of the world of religion has been destroyed by the absolute behaviour. The main strength of religion is non-violence, friendliness and fraternity¹². The absolutist view changes nonviolence into violence, friendliness into hostility and fraternity into animosity and consequently makes the life of self others problematic and painful.

In current age, we see that religious intolerance is on the rise. In such situation of intolerance, how can we hope to attain peace through the means of religion? The paths may be different. Those who fight in the name of religion have never seriously walked on the spiritual path. All differences and quarreling are on empirical plane. If the goal is spiritual, no religion can cause restlessness even each religion can have a power to build a peaceful society. *Anekanta* guides to accept all paths to be spiritual. Absolutist behaviour brings the loss at both the levels spiritual as well as practical. In Jain terminology, it causes perversity i.e. *mithyatva* and hinders right vision i.e. *samyaktva*.

Anekanta : Right Vision -

Sutrakrtanga, the second oldest canon of Jainism says "Those who praise their own doctrines and ideology and disparage the doctrine of others

distort the truth and will be confined to the cycle of birth and death".¹³ It has been mentioned in the scriptures that one who is "equipped" with *Anekanta* attains *samyakdrsti* (right vision-an essential to attain liberation). In his book "*Jaina Darsana Aur Ankanta*" Acaraya Mahaprajna says "*Anekanta* and right vision are synonyms"¹³. If we see *Anekanta* from practical perspective, it will be called positive attitude. If attitude is positive, it will build positive relationship with all. The concept of amity is propounded at the field of ethics. But the fact is that this concept of friendliness holds more importance in the field of thoughts. *Anekanta* is an ideological concept of friendship and harmony.¹⁵

Non absolutism and Nonviolence -

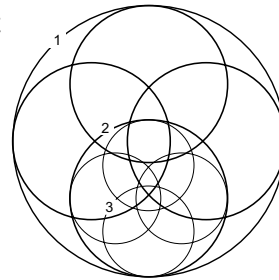
There is close relationship between *anekanta* and *ahimsa*. *Anekanta* is the principle of peace and science of reconciliation. In *Anekantavada*, there is no 'battle of ideas', because this is considered to be a form of intellectual '*himsa*' or violence, leading quite logically to physical violence and war. If there is the respect for others' views there is no feeling of creating harm or hurt to them. If there is the attitude of acceptance, no disputes take place. Desire to express own ideas and thoughts as right and resist others' ideas by proving them wrong give birth to conflicts and misery. The Gandhian quest for peace rests on the foundation of non-violence. For conflict resolution, he also advised: Each person's opinions and beliefs represent part of truth: In order to see more of the truth we must share our truths cooperatively.¹⁶ Where we wish to harmonize all the thoughts, peace is there.

Principal of Anekanta : Harmonious Thinking

Dr, Leo Semashko, the author of the book '*The ABC of Harmony for world Peace, Harmonious Civilization and Tetranet Thinking*' discussed about two types of thinking and two corresponding types of philosophy: *Triadism* and *Tetrism*. Triadism is partial and disharmonic thinking and therefore a militant philosophy whereas *Tetrism* is holistic and harmonious thinking therefore the reconciling philosophy. *Tetrism* opens new harmonious thinking as well as a worldview of a new, harmonious civilization.¹⁷ In *Tetrism* philosophy, the cell of thinking is expressed by interrelated categories. Each of its categories is expressed by the fundamental relation to mutual inclusion in which the whole includes the parts and parts include the whole but in another sense and aspect. The relationship of whole and parts is expressed by mutual including spheres/circles as shown below.¹⁸

Mutual Inclusion

In this cell each element is the whole and the part at the same time but in different ways. This allows these elements in one aspect (in depth) to divide ad infinitum into the number of included parts and in another way (in breadth) to be included in an infinite number of wholes. Whole part means mutual inclusion and mutual inclusion means whole-part. In the language of Anekanta, it can be called relative expression of reality.



Anekanta : A Tolerant Attitude -

Relativity is the main principle of theory of *Anekanta*. *Anekanta* replaces with relativity in thinking. Once we acquire this attitude, we can never be intolerant to other's viewpoints. The mantra of the formation of new world is 'You and I, both have to live together'.¹⁹ Either You or I live is the way of violence, restlessness and misery. The doctrine of *anekantavada* helps us in cultivating a tolerant attitude towards the views of our adversaries. It does not stop there but takes us a step forward by making us investigate why and how they hold different views and how the seeming contradictions can be reconciled to evolve harmony. This *anekantika* outlook also has a great intellectual appeal. Post modernism strongly contends that every field of ideas is a field of contending forces. Leotard, a French philosopher succinctly puts it and says, 'a postmodern condition refines our sensibility to difference and reinforces our ability to tolerate the incommensurable'.²⁰

Thus three principles of *Anekanta* called - Co-existence, Relativity and Reconciliation, if accepted and applied can resolve all conflicts and bring peace and harmony in disconsolate world. Modern judicial systems, democracy, freedom of speech, and secularism all implicitly reflect an attitude of *anekantavada*. Many authors have claimed that the Jain tradition, with its emphasis on *ahimsa* and *anekantavada*, is capable of solving religious intolerance, terrorism wars, the depletion of natural resources, environmental degradation and many other problems. Referring to the 9/11 tragedy, John Koller believes that violence in society mainly exists due to faulty epistemology and metaphysics as well as faulty ethics. According to Koller, because *anekantavada* is designed to avoid one-sided errors, reconcile contradictory viewpoints, and accept the multiplicity and relativity of truth, the Jain philosophy is in a unique position to support dialogue and negotiations amongst various nations and peoples.²¹

Saluting to the concept of Anekanta Jain Acarya Siddhasena says.²²

Jena vina logassa vavaharo savvaha na nivvadai

Tasya bhuvanekkaguruno, namo anegntavayassa

Explaining the above verse, Acarya Mahaprajna says²³. "I salute *Anekantavada* for without it the world would never happen. Leave alone the pursuit of truth, even day to day transactions of society and family would not be managed without it. *Anekanta* is within everybody's reach and so it is the teacher of the world, the only teacher and the guide. All truth and interactions governed by it and therefore I salute it."

Social harmony is the deepest source for the universal peace. But this cause will be effective only if people will know how to achieve and develop social harmony. A great scholar Acarya Mahaprajna says, this peace movement should be first started within family. Family is a cell of society. If an individual can live peacefully with a few people, he can possibly adjust with a larger group as well. The main objective of peaceful co-existence in the world is that a nation deals non-violently with other nations and accepts peaceful co-existence for itself. However, it will be difficult to accept this broad view if a man is unable to maintain peace within his own family.

Anekanta in Family

Rigidity of thought is one of the major to harmony in family. The principle of *anekanta* as taught by lord *Mahavira* is an important element in the development of non-rigidity. The first declaration of *anekanta* is 'don't consider yourself as the authority on truth'. Like whatever I think is true, whatever I say is true and whatever path I follow is the path of truth. There is no harm in believing in ourselves, but we should not adamant in controlling our thoughts. If two men are each given one end of a rope and start pulling it, both of them will fall. In a tug of war the one who let go of the rope will stand while the one, who pulls, falls. The morale of the story is that one who pulls - remains adamant in his view - will lose.²⁴ 'You have to agree to whatever I say' - such an attitude creates problems in family. The principle of harmony can only be achieved if we develop an unorthodox, flexible mindset.

The most important element in family and social life is again tolerance. Where people know how to tolerate others harmony prospers. The successful slogan of peaceful co-existence is tolerance. If we look at modern age, it will not wrong to say that modern age can be considered as the 'Age of Intolerance'. Joint families are disintegrated and divorce rates are skyrocketing today because there is the lack of tolerance and presence of ego.

One of the causes of disharmony and restlessness is pessimistic attitude. Anekanta teaches we should try and understand others' views in a positive way. Communicating with people is an important aspect of life. To communicate in nonviolent manner is a precondition to maintaining peace. *Anekanta* which can be called non-violent thinking make the foundation for non-violent communication. Thus where there is the application of *anekanta*, there will be absence of ego, use of bitter words and intolerance and where there is humility, nonviolent communication and tolerance there is no place for conflicts. To build a peaceful society it is necessary to apply above principles of *anekanta* in behaviour. To cultivate and develop the values of non-violence, humility and tolerance within, one should practice contemplation of humbleness, tolerance and friendliness.

Role of Meditation in Developing Non-absolutist Behaviour :

Anekanta is the principle of meditational practice. One who does not try to cleanse his psyche cannot access the view of *anekanta*. *Anekanta* is accessible only by a spiritual person. Only the one, who has pacified passions and is not agitated or plagued by biases, can access the *anekanta*. The one who has learnt to live around the self has the potential to become a follower of *anekanta*.²⁵ So only discussion of principles cannot bring change in the society. To build a peaceful society, mind of every individual should be at peace. Without having spirituality and peace within, it is impossible to create a peaceful world. Regular practice of contemplative meditation with firm determination and faith is a way to develop peace within and without.

Conclusion :

Anekantavada is an eye which perceives the diversity, present in this world. It is a principle, which teaches to respect other's views. It is a value which motivates to tolerate other's nature and interest. It is truth, which con-

siders other' existence as its own. According to *Acarya Mahaprajna* "Anekatna is to accept identity and search for the possibility of co-existence in diversity. It is a dynamic philosophy of life through which we can lead a life of partnership and participation, a life of friendliness and harmony, a life of non-violence and equality. It brings change in the horizon of our outlook, thought and action. Thus it has the potential to facilitate the emergence of a new world, a peaceful and harmonious world.

Reference :

1. *Kumar, Ravindra*, Resolving Conflicts: The Gandhian way, World Peace Movement Trust, Meerut, 2011, p.166
2. *Suyagado, Acarya Tulasi* (Synod Chief), *Acarya Mahaprajna* (Editor and Annotator), Anekant Shodhpeeth, Jain Vishva Bharti, Ladnun, 1986, 1.12.1
3. *Bhagavi Viahapanafi, Ganadhipati Tulsasi* (Synod Chief), *Acarya Mahaprajna* (Editor and Annotator), tr. by Muni Mahendra Kumar and N. Tatia, Jain Vishva Bharti & Jain Vishva Bharti University, Vol.2, Ladnun, 2009, 7.2.58
4. *Bhagavai Viahapannati*, 7.2.59
5. *Bhagavai Viahapannati, Acarya Tulasi* (Synod Chief), *Acarya Mahaprajna* (Editor and Annotator), Jain Vishva Bharti, Vol.4, 2007, 14.49.50
6. *Acarya Mahaprajna, Anekanta: Reflections and Clarifications*, Jain Vishva Bharti Institute, 2001, p.9
7. *Acarya Mahaprajna, Democracy: Social Revolution through Individual Transormation*, tr. by R.K.Sheth, Jain Vishva Bharti, 1994, p.102
8. *Acarya Mahaprajna, Anekanta: Views and Issues*, Jain Vishva Bharti, Ladnun, 2001, p.3
9. *Acaranga Bhasyam, Acarya Tulasi* (Synod Chief), *Acarya Mahaprajna* (editor and annotator), Jain Vishva Bharti Institute, Landnun, 1994, 8.8., p.361
10. *Acarya Mahaprajna, Anekanta: The Third Eye*, tr. by Sudhamahi Raghunathan, Jain Vishva Bharti Institute, 2002.
11. *Gelera, Mahaveer Raj*, Jain Studies and Science (Context: *Acarya Mahaprajna's* Literature), Jain Vishva Bharti Institute, 2007, p.43
12. Exploring harmony among religious traditions in India (Papers read at a seminar held at Ramakrishna Mission Institute of Culture, from Jan.4 to 6 2007), Inaugural speech by Swami Smaranand, Ramkrishna Mission Institute of Culture, Kolkata, 2008, p.6
13. *Suyagado, Acarya Tulasi* (Synod Chief), *Acarya Mahaprajna* (Editor and Annotator), Jain Vishva Bharati, 1984, 1.1.56
14. *Acarya Mahaprajna, Jain Darsana Aur Anekanta*, Adarsh Sahitya Sangh, 2000, p.149
15. *Acarya Mahaprajna, Jain Darsana Aur Anekanta* (introduction).
16. *Resolving Conflicts The Gandhian Way*, p. 169.
17. Semashko, Leo, *The ABC of Hoarmony for World Peace, Harmonious*

जिन-प्रतिमाओं की स्थापना का आधार

• डॉ. संगीता सिंह

जैन धर्म की गणना भारत के प्राचीनतम धर्मों में की गई है। जैन परम्परा के अनुसार यह धर्म शाश्वत है और चौबीस तीर्थकरों द्वारा अपने-अपने युग में प्रतिपादित होता रहा है। सम्पूर्ण जगत में धर्म का मौलिक स्वरूप एक ही है। संसार में ऐसे अनेक धार्मिक महापुरुषों ने मानव-जाति के कल्याण हेतु अपने विवेकानुसार पृथक-पृथक मत प्रारंभ किये हैं। जैन धर्म भी उनमें से एक है। यह उनमें व्यापक प्रभाव-क्षेत्र वाला धर्म है। ज्ञातव्य हो कि तीर्थकर के अन्तराल की जैन परम्परानुसार जो अवधि निर्दिष्ट है वह प्रायः अविश्वसनीय प्रतीत होती है। परन्तु यह धर्म नितान्त प्राचीनता की ओर ध्यान आकर्षित करता है।^१ जैन धर्म की प्राचीनता के साथ-साथ तीर्थकर प्रतिमाओं का निर्माण भी प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। जिन-प्रतिमाओं की स्थापना के लिए क्या-क्या नियम निर्दिष्ट हैं ? जैन धर्म में जिन प्रतिमाओं को कब और कैसे स्थापित करने की परम्परा प्रारंभ हुई ? यह इस शोध-पत्र लिखने का उद्देश्य है।

जिन-मूर्तियों की स्थापना के आधार के विषय में एक श्लोक में इस प्रकार उल्लिखित किया गया है-

“विमोक्षसुख चैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिकाः,

क्रिया बहु विधासुभृन्मरण पीडन हेतवः।

त्वया ज्वलित केवलेननहीं देशिताः किन्तुताः

स्तवपि प्रसृतिभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः॥^२

अर्थात् ‘विमोक्ष सुख के लिए चैत्यालयादि का निर्माण, दान का देना, पूजन करना इत्यादि अथवा इन्हें लक्ष्य करके जितनी क्रियाएं की जाती हैं और जो अनेक प्रकार से त्रस-स्थावर जीवों के मरण तथा पीड़न की करणीभूत हैं, उन सब क्रियाओं का, हे केवली भगवान! आपने उपदेश नहीं दिया, किन्तु आपके भक्तजन श्रावकों ने भक्ति से प्रेरित होकर उनका

अनुष्ठान किया है।'

जैन परम्परा में जिन-मूर्तियों का अनुष्ठान भक्तों ने अपनी शक्ति-भावना को प्रदर्शित करने के लिए तथा तीर्थकरों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए प्रारंभ किया। विभिन्न ग्रन्थों में जैन धर्म से संबन्धित प्रतिमाओं को स्थापित करने के विषय में महत्वपूर्ण नियमों का वर्णन किया गया है।

भवक्याऽर्हतप्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।

यतस्तदगुण संकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः॥^३

तीर्थकरों के प्रत्यक्ष दर्शन न होने पर श्रावकों ने उनके प्रतिबिम्ब का निर्माण किया और वह प्रतिबिम्ब उनके लिए वीतराग भाव की दिशा देने में भी सहायक सिद्ध हुए। निम्न श्लोक में उल्लिखित है -

“तच्च मंगल नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव भेदानन्दजनकषोढा,
स्थापना मंगल कृत्रिमा कृत्रिमाजिनादीना प्रतिबिम्ब”^४

भारतीय मूर्तिशिल्प में अत्यन्त साधारण से लेकर अत्यन्त कलात्मक, अलंकार विहीन से लेकर अत्यन्त अलंकृत तथा गंभीर से लेकर रौद्ररूप वाली ऐसी प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं जो अपने समय की सामाजिक-धार्मिक भावना तथा समृद्ध समाज का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती हैं। भारतीय शिल्प में तीर्थकर प्रतिमाएँ कुषाण काल से लेकर मध्ययुग तक निर्बाध रूप से प्राप्त होती हैं। ऐसी अनेक प्रतिमाएँ मथुरा, लखनऊ, इलाहाबाद, भारत कला भवन, सारनाथ कुशीनगर, नई दिल्ली, भरतपुर, कोटा, जयपुर, उदयपुर, बीकानेर, बड़ौदा, नागपुर, पटना, मुम्बई, भुवनेश्वर, कोलकाता, खजुराहो, श्रीनगर^५ आदि के संग्रहालयों तथा देवगढ़, कुमायूँ, राजगीर, खण्डगिरि, उदयगिरि, ग्वालियर, दीनाजपुर, विदिशा, बादामी, एलोरा आदि स्थानों पर दर्शनीय हैं।

ये प्रतिमाएँ तीन प्रकार की हैं - कायोत्सर्ग, आसनस्थ तथा सर्वतोभद्रिका। पुराणों^६ में वर्णित है कि ऋषभदेव के पुत्र सार्वभौम सम्राट् चक्रवर्ती भरत ने जिन-मूर्तियों की स्थापना की थी। जिस समय ऋषभदेव सर्वज्ञ तीर्थकर होकर सम्पूर्ण धरातल को पवित्र करने लगे तो उस समय भरत चक्रवर्ती ने तोरणों और घंटाओं पर जिन-प्रतिमाएँ बनवाकर तीर्थकर ऋषभदेव का स्मारक स्थापित किया।

यदि हड़प्पा की मूर्तियों को छोड़ दें तो महावीर से पूर्व तीर्थंकर मूर्तियों के अस्तित्व का कोई भी साहित्यिक या पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। जैन ग्रन्थों में महावीर की यात्रा के सन्दर्भ में उनकी किसी जैन मन्दिर जाने या जिन-मूर्ति के पूजन का अनुल्लेख है। इसके विपरीत यक्ष आयतनों एवं यक्षचैत्यों (पूर्ण भद्र और मणिभद्र) में उनके विश्राम करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^{१७}

फलतः प्राचीनतम् महत्वपूर्ण उल्लेख महावीर के जीवनकाल में निर्मित मूर्ति उनकी जीवन्तस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुई। जीवन्त स्वामी प्रतिमाओं को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय उमाकान्त प्रेमानन्द शाह को है।^{१८} साहित्य परम्परा को विश्वसनीय मानते हुए शाह ने महावीर के जीवनकाल से ही जीवन्तस्वामी मूर्ति की परम्परा को स्वीकार किया है^{१९} उन्होंने अकोटा (गुजरात) से प्राप्त जीवन्तस्वामी की दो गुप्तयुगीन कांस्य प्रतिमाओं का भी उल्लेख किया है।^{२०} इन प्रतिमाओं में जीवन्तस्वामी को कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा और वस्त्राभूषणों से सज्जित दर्शाया गया है। प्रथम प्रतिमा लगभग पाँचवीं शती ई० की है और दूसरी लेख युक्त मूर्ति छठी शती ई० की है। दूसरी मूर्ति के लेख में 'जिवंतसामी' उत्कीर्ण है।^{२१}

दूसरी-पहली शती ई०पू० की जैन गुफाएँ उदयगिरि-खण्डगिरि (उड़ीसा) से प्राप्त होती हैं। उदयगिरि की हाथी गुफा में खारवेल का लगभग पहली शती ई०पू० का लेख उत्कीर्ण है।^{२२} यह लेख अर्हतों एवं सिद्धों को नमन से प्रारम्भ होता है। लेखानुसार खारवेल ने अपनी रानी के साथ कुमारी (उदयगिरि) स्थित अर्हतों को स्मारक अवशेषों पर जैन साधुओं का नन्दराजतिवससत वर्ष पूर्व कलिंग से मगध ले गया था, उसे खारवेल पुनः वापस ले आया।^{२३} ति वससत शब्द का अर्थ अधिकांश विद्वान ३०० वर्ष मानते हैं।^{२४} इस लेख के आधार पर जिन मूर्तियों की प्राचीनता लगभग चौथी शती ई०पू० तक जाती है।

दूसरी शती ई०पू० के मध्य में जैन मूर्तिशिल्प-कला को प्रथम पूर्ण अभिव्यक्ति मथुरा में मिली। शुंग युग से मध्ययुग (१०२३ई०) तक की जैन मूर्ति सम्पदा का वैविध्य भण्डार प्राप्त होता है, जिसमें जैन मूर्ति-कला के विकास की प्रारम्भिक अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। जैन परम्परा में मथुरा की प्राचीनता सुपाश्वर्नाथ के समय में स्तूप का निर्मित होना।^{२५} विविधतीर्थकल्प (१४वीं

शती ई०) में उल्लेख है कि पार्श्वनाथ के समय में सुपार्श्व के स्तूप का विस्तार और पुनरुद्धार हुआ था। बप्पभट्टिसूरि ने विक्रम संवत् ८२६ (७६९ ई०) में उसका जीर्णोद्धार करवाया।

इस परवर्ती साहित्यिक परम्परा की एक कुषाणकालीन तीर्थकर मूर्ति से पुष्टि होती, जिसकी पीठिका पर यह लेख-उत्कीर्ण है। १६७ ई० कि यह मूर्ति देवनिर्मित स्तूप में स्थापित की गई थी।^{१६}

किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्राचीन समय में जिन-प्रतिमा किस प्रकार की निर्मित होती थी? इस विषय पर दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन परम्परा में अन्तर है। दिगम्बर परम्परानुसार जिन-प्रतिमा शुभ लक्षण, युक्तनासाग्र दृष्टिमय और श्रीवत्स चिह्न से अंकित नग्न, श्रृंगार-वस्त्र रहित होना चाहिए। निम्न श्लोक में स्पष्ट उल्लेख किया है-

“कक्षादिरोमहीनांगस्मश्रु, लेशविवर्जित,
स्थित प्रलम्बितं हस्तं श्रीवत्साढयं दिगम्बर।
पल्यंकासनकं कुर्याच्छिल्पि शास्त्रानुसारतः
निरायुधं च निस्त्रीक भ्रू क्षेपादि विवाजितं।।”^{१७}

इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परानुसार जिन प्रतिमाओं पर न वस्त्रलांछन होता था न स्पष्ट नग्नत्व ही। उनके इस कथन से कुछ भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। निम्न श्लोक में दृष्टव्य है -

“पुत्विं जिणपडिमाडं नगिणत, नेव अपल्लवओ।
तेणं नागाटेणं भेओ उभएसि संभूओ।।”^{१८}

इस प्रकार स्पष्ट है कि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर जैन संप्रदाय के भिन्न-भिन्न मत हैं। वैदिक साहित्य में जिन-प्रतिमा का वैसा ही स्वरूप वर्णित है जैसा कि दिगम्बर शास्त्रों में वर्णित है।

आजानुलम्बवाहुः श्रीवत्सांकः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरूणो रूपवांश्च कार्योऽहता देवः।।”^{१९}

अर्थात् तीर्थकर की प्रशान्तमूर्ति श्रीवत्स लक्षण से अंकित तरूणरूप लम्बी बाहों वाली निर्वस्त्र होती है। “मानसार” शास्त्र में उल्लिखित है कि जिन प्रतिमाएँ मनुष्याकृति की दो भुजा दो आँखें एक मस्तक सहित होती हैं।^{२०} वह निराभरण व वस्त्ररहित नग्न होती हैं।

“निराभरणसर्वाणं निर्वस्त्रागमनोहरम्।

सत्यवक्षस्थले हेमवर्णं श्रीवत्सलाछनम्॥^{१९}

एक अन्य श्लोक से भी इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि जिन-प्रतिमा निराभरण और निर्वस्त्र होती थी।

“शांत प्रसन्नमध्यस्थनाग्रस्थाविकारद्वक।

सम्पूर्ण भावरूऽनुविद्धांग लक्षणान्वितम्॥

शैद्रादिदोषविमुक्तं प्रातिहार्या कयक्षमुक।

निर्माप्य विधिना पीठे जिनबिंब निवशयेता॥^{२०}

अर्थात्- “जो शांत, प्रसन्न, मध्यस्थ, नासाग्रस्थित अविकारी दृष्टिवाली हो, जिसका अंग वीतरागपने सहित हो, अनुपम वर्ण हो, और शुभ लक्षणों सहित हो, रौद्र आदि बारह दोषों से रहित हो, अशोक वृक्षादि प्रातिहार्यों से युक्त हो और दोनों ओर यक्ष-यक्षी से वेष्टित हो ऐसी जिन प्रतिमा को बनवाकर विधि सहित सिंहासन पर विराजमान करें।” यह जिन मूर्ति स्थापित करने का आदर्श रूप है।

जिन-प्रतिमाएँ किस वस्तु से निर्मित की जाती थीं यह भी महत्वपूर्ण प्रश्न है और साथ ही किन-किन महापुरुषों की प्रतिमाएँ बनानी चाहिए ? इनका उत्तर एक श्लोक में दृष्टव्य है -

“मणिकणयरूपय, पित्तलमुताह लोवलाइहिं।

पाडमालक्खणविहिणा, जिणाईपाडिमा घडाविज्जा॥^{२१}

अर्थात् - मणि, सोना, रूपा, पीतल, मोती, और पत्थर आदि में तीर्थकर के लक्षण निर्मित करके प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। आदि शब्द से तात्पर्य चित्र, लेपमय, वस्त्र व काठ की मूर्तियों का^{२२} जिनकी प्रतिष्ठा विधि भी उनका प्रतिबिम्ब दर्पण में लेकर पाषाणादि प्रतिमा के समान है।^{२३}

परन्तु विशेषतः इनमें अर्हत प्रतिमाओं की उनमें भी तीर्थकर अर्हत की प्रतिमाओं की है। अर्हत की प्रतिमा से तीर्थकर की प्रतिमा को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक तीर्थकर का चिह्न उनकी प्रतिमा पर बना दिया जाता है।^{२४} सिद्ध की प्रतिमा शरीर के आकार की देहमात्र होती है और उनमें प्रतिहायादि नहीं होते हैं।^{२५}

जिन प्रतिमाओं के साथ-साथ शासन देवी-देवताओं एवं यक्ष-यक्षों की मूर्तियाँ वाहन एवं आयुध के साथ निर्मित की जाती थी।^{१८} सम्पूर्ण प्रतिमाएँ दो प्रकार की उल्लिखित हैं- चल एवं अचल।^{१९} पहाड़ आदि में उकेरकर या दीवार में लेप करके स्थिर प्रतिमा का निर्माण किया जाता था जिनका स्थान परिवर्तन नहीं किया जा सकता। चल मूर्तियों का स्थान परिवर्तन हो सकता है।

जिन-प्रतिमाओं का अंकन चैत्यवृक्ष, तोरणद्वार, मानस्तम्भ, आयागपट्ट और मुद्राओं पर भी दृष्टिगोचर होता है। जिन मंदिरों के द्वार पर मानस्तम्भ का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ तीर्थकर के समवशरण के चार द्वारों पर निर्मित होते हैं। इन पर जिन मूर्तियों का अंकन दृष्टव्य है।^{२०}

चैत्यवृक्ष के निम्न भाग में जिन प्रतिमाएँ अंकित होती हैं। इस श्लोक में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है -

ततोवीश्यंतरेष्वासीद्वनं कल्पमहीरूहां।

नानारत्न प्रभोत्सर्पद्धतध्वांत मनोहरं॥

चतुश्चैत्यद्रमास्तन्त्रा शोकाढयाः स्युः प्रभास्वराः।

अधोभागे जिनाच्यंढियाः सपीठाश्चत्रशोभिताः॥^{२१}

अर्थात् - “इस बीथी के बाद दूसरी बीथी में कल्पवृक्षों का एक विशाल वन था जो कि फैली हुई रत्नों की प्रभा से समस्त अंधकार का नाश करने वाला और महामनोहर था। उन कल्पवृक्षों के वन के अन्दर अशोक आदि चैत्यवृक्ष थे जो कि अपनी अद्भुत कान्ति से अत्यन्त देदीप्यमान थे। उनके नीचे के भाग में तीर्थकर की प्रतिमाएँ थीं। वे वृक्षमय और छत्रों से युक्त होने के कारण अत्यन्त शोभायमान थे।

जिन-मूर्तियों का अंकन चैत्यवृक्षों के साथ-साथ स्तूपों पर भी दृष्टिगोचर होती है। श्री मल्लिनाथ तीर्थकर के समवशरण के स्तूपों का वर्णन इस प्रकार मिलता है -

“वीथीनामध्यभागे तु नव स्तूपाः समुद्ययुः,

पद्मरागमयाः सिद्ध जिनबिम्बाद्यलकृताः।

स्तूपानामंतरेष्वेषां रत्नतोरणमालिकाः,

बभुरिन्द्र धनुर्मय्यः इवोद्योतितखांगणाः॥^{२२}

अर्थात् “विथियों के बीच में नौस्तूप थे जो कि पद्मराग मणिमय थे। एक सिद्ध भगवान की प्रतिमाओं से सुसज्जित थे, जिन्होंने अपनी कान्ति से सम्पूर्ण आकाश को व्याप्त कर रखा था। अतएव वे इन्द्र धनुषमय दृष्टव्य थी।”

फलतः उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि जिन मूर्तियों की स्थापना का आधार साहित्यिक ग्रन्थों में जो वर्णित है उसी के अनुरूप जिन प्रतिमाओं को स्थापित करना आदर्शरूप है।

संदर्भ :

१. घोष, ए०; जैनकला एवं स्थापत्य भाग-१ पृ.१७, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, १९७५
२. श्री विद्यानंदिस्वामी, ‘पात्रकेसरी स्तोत्र, श्लोक सं. ३९
३. धर्मसंग्रह श्रावकाचार, ४२,९
४. श्री गोम्मटसार जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका, पृ. २
५. कॉक, आर०सी०, हैण्डबुक ऑव दि ऑकियोलॉजिकल एण्ड न्यूमेस्मेटिक्स सेक्सन ऑव श्री प्रताप सिंह म्यूजियम, पृ.७६, कलकत्ता, १९२३
६. आदिपुराण, ८ जिनसेनकृत, सं० पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन, ग्रन्थमाला, वाराणसी १९६३
७. शाह, यू.पी. बिगिनिंग्स ऑव जैन आइक्नोग्राफी, पृ.२, संग्रहालय-पुरातत्व पत्रिका, अंक, ११-१२, जून-दिसम्बर, १९७३
८. शाह, ए यूनिक् जैन इमेज ऑव जीवन्त-स्वामी, जर्नल ऑव ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट ऑव बड़ौदा, अंक १, पृ. ७२-७९
९. शाह, यू.पी. जीवन्त स्वामी, जैन सत्य प्रकाश वर्ष, अंक ५-६ पृ. १०४
१०. शाह, यू.पी. ए यूनीक जैन इमेज, ऑव जीवन्त स्वामी, जर्नल ऑव दि ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट ऑव बड़ौदा, खं. १, पृ. ७९
११. शाह, यू. पी., अंकोटा ब्रोन्जेज, पृ. २६-२८, फलक १ए, बी १२ बम्बई, १९५९
१२. सरकार, डी.सी., सेलेक्ट इस्क्रिप्शंस, खं. १ पृ. २१३, कलकत्ता, १९६५
१३. तथैव, पृ. २१३-२२१
१४. तथैव, पृ. २१५, पाद टिप्पणी, ७
१५. स्मिथ, वी.ए., जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वीटीज ऑव मथुरा, पृ.१३, इलाहाबाद, १९०९
१६. राज्य संग्रहालय लखनऊ, जे. २०
१७. जिनयज्ञकल्प, १०, जैन, कामता प्रसाद, जैन-मूर्तियाँ, जैन-विज्ञान भास्कर, भाग-२, पृ. ७-१४, वि.सं. १९९२
१८. प्रवचन परीक्षा, ११, जैन, कामता प्रसाद, तथैव
१९. वाराहमिहिर संहिता, ४५, ५८, सं. ए. झा, वाराणसी, १९५९
२०. ‘द्विभुज च द्विनेत्र च मुण्डतारं च शीर्षकम्’ मानसार, ७२, ख० ३, अनु० प्रसन्न कुमार आचार्य, इलाहाबाद

२१. मानसार, ८१-८२
२२. प्रतिष्ठा सारोद्धार, ९३, ९४ (आशाधरकृत), सं० मनोहर लाल शास्त्री, बम्बई, १९१७
२३. वसुनन्दि श्रावकाचार, पृ. ६८, वसुनन्दि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२
२४. जिनयज्ञकल्प, १०, जैन कामता प्रसाद, तथैव
२५. वसुनन्दि श्रावकाचार, पृ. ६८
२६. प्रतिष्ठासारोद्धार, पृ. ८
२७. जिनयज्ञकल्प, ११, (प्रातिहार्य बिना शुद्ध सिद्ध बिम्बपपीदृशम्)
२८. जिनयज्ञकल्प, ११, जैन कामता प्रसाद, तथैव
२९. वसुनन्दि श्रावकाचार, पृ. ६९
३०. 'पडिमाणं अग्रेसरं रयणथम्भा हवंतिवीसपुढं; पडिमा पीढसरिच्छा पीठा थभाणणादत्वा ११, तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभकृत), सं० आदिनाथ उपाध्ये तथा हीरालाल जैन, जीवराज जैन ग्रंथमाला १, शोलापुर, १९४३
३१. मल्लिनाथपुराण, पृ० १४४, श्लोक १२४, १२५, (विनय चन्द्रसूरिकृत), सं० हरगोविन्ददास तथा बेचरदास, यशोविजय जैन ग्रंथमाला २९, वाराणसी।
३२. मल्लिनाथपुराण, पृ० १४६, श्लोक १३४, १३५, तथैव

- ११, जयनगर कालोनी, गिलट बाजार,
वाराणसी-२२१००२ (उ०प्र०)

पी.-एच. डी. उपाधि प्रदत्त

नई दिल्ली। वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली के उपनिदेशक पं. आलोक कुमार जैन को जैन विश्वभारती संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) लाङ्गूँ (राजस्थान) द्वारा “आचार्य देवसेन की कृतियों में दार्शनिक दृष्टि” विषय पर डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन, एसोसिएट प्रोफेसर, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के निर्देशन में पी.-एच. डी. की उपाधि प्रदत्त की गई। आपने श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर से जैनदर्शन में आचार्य किया। आप ललितपुर (उ.प्र.) के युवा विद्वानों में एक गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं।



वीर सेवा मंदिर परिवार एवं पदाधिकारीगण डॉ. आलोक कुमार जैन को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ देते हुए उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

— प्रा. पं. निहाल चंद जैन, निदेशक-वीर सेवा मंदिर

प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव एवं अर्धमागधी भाषा : एक अध्ययन

• पद्म मुनि

जैन परम्परा में सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, आप्तपुरुष, जीवन-मुक्त महापुरुष आदि के रूप में २४ तीर्थकरों की मान्यता है, जिनमें प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव और अंतिम तीर्थकर महावीर थे। वहाँ सभी तीर्थकरों के उपदेशों की भाषा अर्धमागधी बताई गई है। इस दृष्टि से वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम अर्धमागधी भाषा प्रयोक्ता भ. ऋषभदेव सिद्ध होते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि भाषा का प्रारम्भ किसने किया था, यह नहीं बताया जा सकता। जैन परम्परा में भगवान् ऋषभदेव को लिपि का आविष्कर्ता माना गया है, भाषा का नहीं।^१

ऋषभदेव की व्यापकता :

वर्तमान अवसर्पिणी काल के 'सुषमा-दुषमा' नामक तृतीय आरक के उत्तरार्ध में विनिता नगरी (अयोध्या) के 'सर्वतोभद्र' महल में 'मरुदेवी' और 'नाभिराय' के पुत्र के रूप में 'चैत्र कृष्ण अष्टमी' के दिन ऋषभदेव का जन्म हुआ जो प्रथम तीर्थकर कहलाए। इनका अपर नाम 'आदिनाथ' भी प्रसिद्ध है। वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं जिनमें ऋषभदेव का वर्णन परम उपास्य, परम आराध्य अष्टम्-अवतारा के रूप में किया गया है।^२ ये सभ्यता और संस्कृति के आदिकर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट्-कर्मों का सूत्रपात किया था।^३

विभिन्न धर्म परम्पराओं में इनको विभिन्न नामों - वृषभदेव, पुरुदेव, आदिब्रह्मा, स्वयंभू, प्रजापति, कुलकर, मनु, आदमबाबा, प्रथम राजा, प्रथम सन्यासी, प्रथम तीर्थकर, प्रथम कर्मयोगी इत्यादि से जाना जाता है।^४ कल्पसूत्र में उनके पाँच नामों का उल्लेख मिलता है- (१) ऋषभ, (२) प्रथम राजा, (३)

प्रथम भिक्षाचर, (४) प्रथम जिन और (५) प्रथम तीर्थकर।^{१६} जिनसेनाचार्य ने 'महापुराण' में '१००८' नामों से स्तुति करते हुए 'ऋषभ सहस्रनाम स्तोत्र' की रचना की है।

इस्लाम एवं ईसाइयत ने उन्हें 'बाबाआदम' अथवा 'आदम' एवं 'ईव' कहकर पुकारा है^{१७} तो वैदिक परम्परा में वे विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृत हैं।^{१८} यजुर्वेद में उन्हें "ॐ नमो अर्हतो ऋषभो" कहकर प्रणाम किया गया है।^{१९} पुराण में ऋषभदेव को अवतार कहने का तात्पर्य बताते हुए स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती लिखते हैं - "मोक्षमार्ग विवक्षया अवतीर्णम्" अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश देने के लिए भ. श्री ऋषभदेव जी ने अवतार लिया था, संसार की लीला दिखाने के लिए नहीं।^{२०}

जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव से पहले 'अकर्मभूमि' थी जहाँ 'दस' प्रकार के 'कल्पवृक्षों' से मनुष्यों की सभी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती थीं, किन्तु काल प्रभाव से कल्पवृक्ष घटने लगे और उनकी प्रदत्त-क्षमता भी कम होने लगी अतएव जनता के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए ऋषभदेव ने 'कर्मभूमि' का सूत्रपात किया और मनुष्यों को उपर्युक्त 'षट्-कर्मों' का ज्ञान देकर स्वावलम्बी बनाया। अर्थात् जब कुलकर व्यवस्था प्रभावहीन होने लगी तब देवों की प्रार्थना पर ऋषभदेव ने 'राजनीति' की आधारशिला रखी। राज्यव्यवस्था के नियम बनाए और यौगलिकों एवं देवों की प्रार्थना पर वे ही प्रथम राजा बने।^{२१} उनकी राजधानी का नाम 'अयोध्या' पड़ा। इतना ही नहीं इन्हीं से 'विवाह प्रथा' का भी प्रारंभ हुआ। इनसे पूर्व के मनुष्य 'युगल' रूप में जन्म लेकर युगल रूप में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे अर्थात् उस समय की जनसंख्या 'निश्चित' हुआ करती थी, किन्तु ऋषभदेव ने सर्वप्रथम 'सुमंगला' और 'सुनन्दा' के साथ विवाह करके विवाहप्रथा का आरंभ किया था। इनके 'भरत', 'बाहुबली' आदि सौ पुत्र तथा दो पुत्रियाँ-'ब्राह्मी' और 'सुन्दरी' थीं। इन्होंने ब्राह्मी के माध्यम से 'ब्राह्मी' आदि अट्ठारह लिपियों का, सुन्दरी के माध्यम से 'गणित' का तथा पुरुषों की '७२' कलाएँ, स्त्रियों की '६४' कलाएँ और '१००' प्रकार के शिल्पकर्मों का ज्ञान जगत् को दिया। ऋषभदेव से ही वर्णव्यवस्था का प्रारंभ भी माना जाता है। इन्होंने क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र वर्ण की स्थापना की और ब्राह्मण वर्ण के संस्थापक

ऋषभ-पुत्र' 'भरत' माने जाते हैं। इस प्रकार 'तिरासी लाख पूर्व' (काल विशेष) तक गृहस्थ अवस्था में रहते हुए ऋषभदेव ने तत्कालीन जनता को प्रायः समस्त भौतिक कर्मों से पारंगत बना दिया।

उस समय तक जनता 'धर्म' शब्द से भी अपरिचित थी। ऋषभदेव ने सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था को पूर्ण करके अध्यात्म में प्रवेश करने का संकल्प किया और अपने राज्य के सौ विभाग करके सौ पुत्रों में बाँट दिया। भरत को अयोध्या का तथा बाहुबली को बहली (पोदनपुर) प्रदेश का राज्य मिला। शेष अर्धराजकुमारों को विभिन्न प्रदेश के राज्य प्राप्त हुए। इसके बाद ऋषभ ने एक वर्ष तक 'वर्षीदान' किया, तदनन्तर 'चार हजार' साथियों के साथ 'दीक्षा' अंगीकार करके 'एक वर्ष' तक की कठिन तपस्या पूर्ण की। एक हजार वर्ष की साधना के पश्चात् वे 'केवलज्ञानी' बने और 'तीर्थ' (साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना करके 'प्रथम तीर्थकर' कहलाए। वे 'एक लाख पूर्व' तक अर्हत अवस्था में रहे और तत्पश्चात् 'माघ कृष्णा त्रयोदशी' को 'दस हजार मुनियों' के साथ 'अष्टापद' तीर्थ से सिद्ध, मुक्त हुए। इस प्रकार दान, दीक्षा, तपस्या आदि का सूत्रपात ऋषभ के द्वारा हुआ था।

तीर्थकरों की उपदेश की भाषा अर्धमागधी :

आगम-भाषा सदाकाल से अर्धमागधी रही है। जैन परम्परा के अनुसार सभी तीर्थकर अर्धमागधी भाषा में प्रवचन एवं देशना तथा शिक्षा देते हैं, यथा- “भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्मं आइक्खइ, सा वि य णं अद्धमागहीभासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरिय-मनारियाणं दुप्पय चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सरिसिवाणं अप्पप्पण्णो हिय-सिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ”।^{१९}

तीर्थकर केवलज्ञानी होते हैं अतः संसार भर की सभी भाषाएँ उनके लिए सहज ही परिचित होती हैं तथापि सुकोमल और सर्वोत्तम होने के कारण वे अर्धमागधी भाषा में ही अपनी देशना प्रदान करते हैं। प्रभु के द्वारा उच्चरित वह भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद आदि सबके लिए हितकर, शिवंकर एवं सुखप्रदात्री होती है। तात्पर्य यह है कि भगवान् के मुखारविंद से प्रस्फुटित उस भाषा को सभी अपनी-अपनी भाषा के अनुरूप समझ लेते

थे। या यूँ कहें कि वह भाषा सभी की भाषाओं में परिणत हो जाया करती थी और यह कार्य तीर्थकर के “भाषातिशय” के कारण सम्भव हो जाया करता था। ऐसा नहीं कि इस अतिशय के स्वामी अकेले भगवान् महावीर थे अपितु सभी तीर्थकरों का यह अतिशय होता है। तीर्थकरों के द्वारा प्रयुक्त अर्धमागधी भाषा उसी भाषा में परिणत हो जाती थी जिसकी जो भाषा है, यथा-^{१२} “तए णं से समणे भगवं महावीरे कूणियस्य रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स अद्धमागहा भासाए भासइ। अरिहा धम्मं परि-कहेइ।.....सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमनारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ”।

उपर्युक्त प्रमाणों से इस भाषा की सर्वोच्च विशेषता यही फलित होती है कि यह भाषा तीर्थकर के श्रीमुख से प्रस्फुटित होने पर सबकी अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाया करती थी। ऐसा वैशिष्ट्य सामान्यतया अन्य भाषाओं में दृष्टिगोचर नहीं होता अतएव अर्धमागधी का अत्यन्त लोकप्रिय होना भी संभव हो जाता है।

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि अर्धमागधी भाषा ‘आधे मगध की भाषा है’, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। इस बात की प्रसिद्धि का कारण मात्र शाब्दिक साम्यता है। वस्तुतः तीर्थकरों का अर्धमागधी में बोलना अनादि नियम है।^{१३}

देवभाषा : अर्धमागधी :-

अर्धमागधी भाषा की एक विशेषता है- ‘उसका देववाणी होना।’ भगवती सूत्र में भगवान् महावीर से गणधर गौतम पूछते हैं- भगवन्! देव कौन- सी भाषा में बोलते हैं? कौन-सी भाषा उन्हें अभीष्ट है? इसके उत्तर में तीर्थकर महावीर ने कहा- गौतम! देव अर्धमागधी में बोलते हैं और वही भाषा उन्हें अभीष्ट एवं रुचिकर है, यथा- देवाणं भंते! कयराए भासाए भासंति? कयरा व भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति? गोयमा! देवाणं अद्धमागहाए भासाए भासंति। सा वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति।^{१४}

आर्यभाषा : अर्धमागधी :-

प्रज्ञापना सूत्र में अर्धमागधी भाषा के प्रयोक्ता को भाषार्य कहकर सम्बोधित किया गया है- से किं तं भासारिया? भासारिया जे णं अद्धमागहाए

भासाए भासंति।^{१५} अर्थात् वह भाषार्य कौन है? भाषार्य वे हैं जो अर्धमागधी भाषा बोलते हैं। चूँकि भाषार्यजनों का क्षेत्र मगध के अर्धांश तक सीमित होना युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता अतएव इससे भी अर्धमागधी भाषा के विस्तृत क्षेत्र का अनुमान हो जाता है। इतना ही नहीं यहाँ पर बतलाया गया है कि जहाँ-जहाँ आरह प्रकार की ब्राह्मी लिपि का व्यवहार होता था वहाँ की भाषा आर्य भाषा अर्थात् अर्धमागधी थी। यथा-^{१६} से किं तं भासारिया ? भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासंति। जत्थ वि य णं बंभी लिवी पवत्तइ, बंभीए णं लिवीए आरसविहे लेक्ख विहाणे पण्णत्ते, तं जहा-बंभी , जवणाणिया, दोसापुरिया, खरी, पुक्खरसारिया, भोगवइया, पहराइया, अंतक्खरिया, अक्खरपुय्या, वेणइया, णिणहइया, अंकलिवी, गणियलिवी, गंधव्वलिवी, आयंसलिवी, माहेसरी, दोमिलिवी, पोलिंदी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि मागधी भाषा के साथ-साथ जहाँ ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था वहाँ की देशी भाषा को अर्धमागधी कहा गया है।

अर्धमागधी का तात्पर्य :

अर्धमागधी शब्द की रचना दो शब्दों के समास से हुई है- अर्ध+मागध। समास में अर्ध शब्द यदि पूर्व पद में हो तो उसका अर्थ आधा, एक चौथाई अथवा 'किंचित' होता है, जबकि यदि अर्ध शब्द उत्तर पद में हो तो उसका अर्थ केवल आधा होता है। चूँकि अर्ध-मागधी में 'अर्ध' शब्द पूर्व पद में है अतः इसका तात्पर्य हुआ कि अर्धमागधी वह भाषा है जिसमें मागधी भाषा की आधी, एक चौथाई या किंचित विशेषताएँ मौजूद हों तथा शेष भाग में अन्य विशेषताएँ हों। अर्ध-मागधी की व्युत्पत्तियों से भी इसी तात्पर्य का समर्थन प्राप्त होता है।

इसकी व्युत्पत्ति में कहा गया है- 'अर्धमगधस्येयम्'^{१७} अर्थात् मगध देश के अर्धांश की जो भाषा है वह 'अर्धमागधी' है। यही बात ईसा की सातवीं शताब्दी के ग्रंथकार श्री जिन-दासगणि महत्तर ने 'निशीथचूर्णि' नामक ग्रन्थ में 'पोराणमद्ध-मागहभासानिययं हवइ सुतं' इस उल्लेख के 'अर्धमागध' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में इन स्पष्ट शब्दों में कही है- "मगहद्धविसय-भासा-निबद्धं अद्धमागहं" अर्थात् मगध देश के अर्ध प्रदेश

की भाषा में निबद्ध होने के कारण प्राचीन सूत्र 'अर्ध-मागध' कहा जाता है।

अर्धमागधी का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत प्रतीत होता है, तभी तो उसके सम्बन्ध में कहा गया है- "आरसदेसी भासानिययं वा अद्धमागहं"^{१८} आगमों के परिशीलन से पता चलता है कि देशी भाषाएँ कौन-कौन सी हैं, इसका उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु आगमों के कतिपय पात्रों की विशेषताओं के वर्णन में 'आरह देशी भाषा विषारद्' का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है, जैसे- ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र^{१९} में मेघ कुमार के संबन्ध में बताते हुए लिखा गया है - तए णं से मेहे कुमारे बावत्तरि-कला-पंडिए नवंगसुत्तपडिबोहिए आरसविहिप्पगार देसीभासा विसार..... वियालचारी जाए यावि होत्था।

इसी प्रकार विपाक सूत्र के द्वितीय अध्याय में भी कहा गया है- "तत्थ णं वाणियग्गामे कामज्झया नामं गणिया होत्था-अहीण..... नवंगसुत्तपडिबोहिया 'आरसदेसी भासा विसारया' सिंगारागारचारूवेसा.... .पालेमाणी विहरइ।"^{२०}

इसी प्रकार का वर्णन राजप्रश्नीय तथा औपपातिक सूत्र में भी मिलता है, जैसे- तए णं से दढपइण्णे दारए.....आरसविहदेसिप्पगारभसा विसारए....वियालचारी यावि भविस्सइ।^{२१} तए णं से दढपइण्णे दारए अट्ठारस देसी- भासा-विसारए गीयरई- यावि भाविस्सइ। तए णं से दढूपइण्णं दारगं अम्मापियरो. आरसदेसी-भासाविसारयं.....उवणिमंतेहिंति^{२२}

इसी प्रकार अन्तकृद्दशांग में भी कहा गया है- तए णं से अणीयसे कुमारे बावत्तरिकलापंडिए णवंगसुत्तपडिबोहिए आरसविहिप्पगार-देसीभासाविसारइ गीइरई गंधव्वनट्टकुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी अलं भोगसमत्थे जाए यावि होत्था।^{२३} अर्थात् तब अनीयस कुमार बहत्तर कलाओं में पंडित हो गया। उसके नौ अंग- दो कान, दो नेत्र, दो नासिकाद्वार, जिह्वा, त्वचा और मन बाल्यावस्था के कारण जो सुप्त-से थे वे जागृत हो गए। वह आरह प्रकार की देशी भाषाओं में कुशल हो गया। वह रीति में प्रीति वाला, गीत और नृत्य में कुशल हो गया। वह अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध और बाहुयुद्ध करने वाला बन गया। अपनी बाजुओं से विपक्षी का मर्दन करने में समर्थ हो गया। भोग भोगने का

सामर्थ्य उसमें आ गया।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अर्धमागधी का क्षेत्र मात्र मागधी और शौरसेनी के मिश्रण तक सीमित नहीं था, अपितु अत्यन्त विस्तृत था। यही कारण है कि अन्यत्र इसे सर्वभाषामयी भी कहा गया है, जैसे-

नाना भाषात्मिकां दिव्यभाषामेकात्मिकामपि।

प्रथयन्तमयत्नेन हृद्धान्तं नुदतीं नृणाम्॥^{१४}

अर्थात् जो उत्पत्तिस्थान की अपेक्षा एकरूप होकर भी अतिशयवश श्रोताओं के कर्णकूहर के समीप अनेक भाषाओं में परिणमन करने वाली और जीवों के हृदय का अंधकार दूर करने वाली दिव्यध्वनि को बिना किसी प्रयत्न के प्रसारित कर रहे थे।

दिव्यभाषा तवाशेष भाषा भेदानुकारिणी।

निरस्यति मनोध्वान्तम् आवाचामपि देहिनाम्॥^{१५}

अर्थात् समस्त भाषाओं के भेदों का अनुकरण करने वाली आपकी दिव्यध्वनि पशु-पक्षी आदि तिर्यच के भी हृदय के अंधकार को दूर करती है।

सर्वाधमागधीं सर्वभाषासु परिणामिनीम्।

सर्वेषां सर्वतो वाचं सार्वज्ञी प्रणिदध्महे॥^{१६}

अर्थात् सभी भाषाओं में पूर्णता प्राप्त करने वाली अर्धमागधी भाषा, जो कि सर्वज्ञों के साथ-साथ सभी के लिए बोधगम्य है, उस भाषा को मैं पूर्णतया धारण करता हूँ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जैन परम्परा में अर्धमागधी भाषा को अत्यन्त आदर और सम्माननीय पद प्राप्त है। इसे दिव्यभाषा, आर्यभाषा^{१४} आदि स्वीकार किया गया है।

अर्धमागधी का उत्पत्तिस्थान एवं समय :

अर्धमागधी भाषा का उत्पत्ति-स्थान निश्चित ही मगध और उसका समीपवर्ती प्रदेश अर्थात् पूर्वी भारत रहा है। हालांकि वर्तमान में उपलब्ध आगमों की भाषा में पर्याप्त मिश्रण है और उनमें सर्वाधिक प्रभाव महाराष्ट्री का दृष्टिगोचर होता है। परन्तु अधिक गहराई से शोध करने पर आगमों के अनेक संस्करणों में अर्धमागधी भाषा की कतिपय प्राचीन विशेषताएं तथा

पूर्वी भारत में प्रचलित भाषा के कतिपय लक्षण स्पष्ट रूपेण उपलब्ध हो जाते हैं। अनेक विद्वानों के द्वारा अर्धमागधी का मूल उत्पत्ति स्थान पश्चिम मगध और शूरसेन (मथुरा) का मध्यवर्ती प्रदेश 'अयोध्या' माना गया है। चूँकि तीर्थकरों के उपदेश की भाषा अर्धमागधी ही मानी गई है और तीर्थकर भगवान ऋषभदेव अयोध्या (विनिता नगरी) के निवासी थे। अतः अयोध्या को इस भाषा का उत्पत्ति स्थल मानना समीचीन ही है। प्रदेश की दृष्टि से अधिकांश विचारक इसे काशी-कौशल प्रदेश की भाषा मानते हैं।

जैन आगमों में सभी तीर्थकरों का उपदेश अर्धमागधी भाषा में होना बताया गया है।^{१८}

वर्तमान में अर्धमागधी के उत्पत्ति समय को लेकर विद्वानों में किंचित् मतभेद है। सर आर. जि. भाण्डारकर अर्धमागधी का उत्पत्ति-समय ईसा की द्वितीय शताब्दी मानते हैं। उनके मत में कोई भी साहित्यिक प्राकृत भाषा ईसा की द्वितीय शताब्दी से पहले की नहीं है। संभवतया इसी मत का अनुसरण करके डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने समस्त नाटकीय प्राकृत-भाषाओं का और जैन अर्धमागधी का उत्पत्ति काल ई. की तीसरी शती स्थिर किया है। परन्तु त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित भास-रचित नाटकों का निर्माण समय अन्ततः ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद का न होने से और अश्व-घोष कृत बौद्धधर्म विषयक नाटकों के जो कतिपय अंश डॉ. ल्युडर्स ने प्रकाशित किये हैं, उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी निश्चित होने से यह प्रमाणित होता है कि उस समय भी नाटकीय में जैन अर्धमागधी भाषा के निदर्शन हैं। इससे जैन अर्धमागधी की प्राचीनता का यह भी एक विश्वस्त प्रमाण है। इसके अतिरिक्त डॉ. जेकोबी जैन सूत्रों की भाषा और मथुरा के शिलालेखों (ई. सन् ८३ से १७६) की भाषा से यह अनुमान करते हैं कि जैन अंग-ग्रंथों की अर्धमागधी का काल ई. पूर्व चतुर्थ शताब्दी का शेष भाग अथवा ई. पूर्व तृतीय शताब्दी का प्रथम भाग है। डॉ. जेकोबी का अनुमान सत्य के काफी करीब है क्योंकि इसी दरम्यान पाटलिपुत्र में जैन मुनि संघ का सम्मेलन हुआ था जिसमें आगमों को सुसम्पादित किया गया था^{१९} इस धारणा का कारण यह है कि अर्धमागधी के उपलब्ध प्रमाण उससे पूर्ववर्ती काल के प्राप्त नहीं होते, किन्तु इसका अर्थ कतई नहीं है कि उससे पूर्व अर्धमागधी भाषा न रही

हो।

इस प्रकार परम्परा की दृष्टि से जहाँ अर्धमागधी का उत्पत्ति काल 'अवसर्पिणी काल का तीसरा आरक' प्रमाणित होता है वहीं वर्तमान के कतिपय विद्वानों के अनुसार उसका समय तीसरी-चौथी शताब्दी ई.पूर्व मान्य है। भगवान् महावीर का काल ई.पूर्व छठी सदी का है और उन्होंने अर्धमागधी भाषा में ही अपना उपदेश दिया था। अतः अर्धमागधी के उद्भव का समय कम-से-कम महावीर युग तक तो प्रमाणित हो ही जाता है।

भगवान् महावीरकालीन अर्धमागधी :

वर्तमान में जिस अर्धमागधी भाषा को हम जानते और समझते हैं। उसका सीधा सम्बन्ध भ. महावीर से है। परम्परा की दृष्टि से अर्धमागधी भाषा का प्रयोग उनसे पूर्ववर्ती २३ तीर्थकरों ने भी अपने उपदेशों के लिए किया था, और उसे भगवान् महावीर ने आगे बढ़ाया। चूँकि भगवान् महावीर वैशाली के थे, और उनका विचरण भी पूर्वोत्तर भारत में ही हुआ था। अतएव उनके द्वारा प्रयुक्त अर्धमागधी भाषा का सम्बन्ध पूर्वोत्तर भारत से ही निश्चित होता है। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता कि उस भाषा का क्या स्वरूप रहा होगा, क्योंकि न तो उस भाषा का कोई लिखित प्रमाण है और न तीर्थकर महावीर के बाद "भाषातिशय" से युक्त कोई साधक हुआ।

यह सर्व विदित है कि भगवान् महावीर के उपदेशों को उस समय लिपिबद्ध नहीं किया गया था, वह मौखिक रूप से, गुरु-शिष्य परम्परा के आधार पर संकलित था जिससे उसमें विभिन्न क्षेत्रों की भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। जैन परम्परा में तीर्थकर को 'अर्थ' का उपदेशक^{३०} माना गया है, अतः सम्भव है कि उत्तरकालीन साधकों ने उस भाषा के मूल-स्वरूप के रख-रखाव की अपेक्षा उसके भावार्थ पर ही अधिक ध्यान दिया हो, परिमाणतः आगमों की भाषा में भाषागत मिश्रण होता गया। साधक-गण जिस-जिस क्षेत्र में गए, वहाँ-वहाँ की भाषा का प्रभाव उनके मस्तिष्क में सुरक्षित आगमों की भाषा पर निश्चित ही पड़ता गया। यह तथ्य सर्वविदित है कि भगवान् के उपदेशों को लगभग महावीर-निर्वाण के एक हजार (९८०) वर्ष बाद लिपिबद्ध किया गया था, और इस दौरान दो-दो बार

बारह वर्षीय दुष्काल का सामना आगमविदों को करना पड़ा था। इस भीषण परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि अनेक गीतार्थ श्रमण काल कवलित हो गए और उनके साथ-साथ उनके मस्तिष्क में सुरक्षित आगम ज्ञान की सम्पदा भी लुप्त होती चली गई।

दुष्काल के दौरान यत्र-तत्र बिखरे श्रमण धीरे-धीरे एकत्रित होने लगे, और भद्रबाहु के समय प्रथम मुनि सम्मेलन पाटलीपुत्र में आयोजित हुआ। इसके पश्चात् मुनि सम्मेलन पूर्वोत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर बढ़ता हुआ द्वितीय मुनि सम्मेलन मथुरा में तथा तृतीय मुनि सम्मेलन वल्लभी (सौराष्ट्र) में सम्पन्न हुआ। इन मुनि सम्मेलनों में आगमों को व्यवस्थित किया गया, किन्तु उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया था।

इस सम्बन्ध में पं. हरगोविन्ददास टी. सेठ लिखते हैं - अर्धमागधी का उद्भव स्थल 'अयोध्या' मान लेने पर भी जैन आगमों की अर्धमागधी में मागधी और शौरसेनी भाषा के विशेष लक्षण देखने में नहीं आते। बल्कि महाराष्ट्री के साथ ही इसका अधिक सादृश्य नजर आता है। प्रश्न होता है कि इस सादृश्य का कारण क्या है? सर ग्रियर्सन ने अपने प्राकृत भाषाओं के भौगोलिक विवरण में यह स्थिर किया है कि जैन अर्धमागधी मध्यदेश (शूरसेन) और मगध के मध्यवर्ती देश (अयोध्या) की भाषा थी एवं आधुनिक पूर्वीय हिन्दी उससे उत्पन्न हुई है।

किन्तु हम देखते हैं कि अर्धमागधी के लक्षणों के साथ मागधी, शौरसेनी और आधुनिक पूर्वीय हिन्दी का संबन्ध न होकर महाराष्ट्र प्राकृत और आधुनिक मराठी भाषा के साथ उसका सादृश्य अधिक है। इसके कारण के संबन्ध में विमर्श करने पर मालूम पड़ता है कि ईसा पूर्व ३१० अर्थात् चन्द्रगुप्त के राजत्वकाल में बारह वर्षों का अकाल पड़ने पर जैन मुनि संघ पाटलीपुत्र से दक्षिण की ओर विहार कर गया था। उस समय वहाँ के प्राकृत के प्रभाव से अंग-ग्रन्थों की भाषा का कुछ-कुछ परिवर्तन हुआ था। यही महाराष्ट्री प्राकृत का आर्य प्राकृत के साथ सादृश्य का कारण हो सकता है।^{३९} इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्धमागधी का उत्पत्तिस्थल प्राचीन मगध और उसका सीमावर्ती प्रदेश रहा है।

अर्धमागधी का रूपगठन :

अर्धमागधी के रूपगठन के सम्बन्ध में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री^{३२}, हॉर्नले^{३३}, चण्ड,^{३४} ग्रियर्सन^{३५}, मार्कण्डेय^{३६} आदि विद्वान् बताते हैं कि अर्धमागधी का रूपगठन मागधी और शौरसेनी के मिश्रण से हुआ है। चूँकि पूर्व की बोली मागधी और पश्चिम की बोली शौरसेनी थी अतः इन दोनों के मिश्रण से उस मध्यवर्ती प्रदेश की भाषा का निर्माण हुआ जो अर्धमागधी कहलायी।

परन्तु अर्धमागधी के प्राप्त लक्षणों पर दृष्टिपात करें तो यह तथ्य हृदयग्राही नहीं हो पाता। क्योंकि अर्धमागधी आगम साहित्य में ऐसे रूपों की भरमार है जो मागधी और शौरसेनी सहित माहाराष्ट्री से भी भिन्न हैं, जैसे- सप्ती विभक्ति एक वचन में लगने वाला 'अंसि' प्रत्यय- रायमगंसि (अंतगढ-६-१६), सयणिज्जंसि (अंतगढ १-१-६), तारिसगंसि (अंतगढ १-१-६) इत्यादि।

चतुर्थी विभक्ति ए० व० में लगने वाला 'आए' प्रत्यय- भत्तपाणाए (अंत. ३-८-४), गमणाए (अंत. ६-३-१०) इत्यादि।

'पदम' शब्द का 'पम्ह' रूप। प्रसिद्ध है कि अन्य प्राकृतों में पद्म के 'पोम्म' और 'पउम' रूप प्राप्त होते हैं, किन्तु अर्धमागधी के आगम साहित्य (उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक सूत्र) में इसका 'पम्ह' रूप भी प्राप्त होता है।

इसी मत का समर्थन करते हुए डॉ. के. आर. चंद्र^{३७}, पं. हरगोविन्ददास टी. सेठ,^{३८} डॉ. आर. पिशल^{३९} आदि विद्वान् बताते हैं कि अर्धमागधी का रूपगठन मात्र मागधी एवं शौरसेनी के मिश्रण से न होकर मागधी तथा अन्य प्राकृतों से हुआ है। चूँकि अर्धमागधी में मागधी तथा शौरसेनी की ही भाँति पालि, माहाराष्ट्री तथा देशी शब्दों की लाक्षणिकता प्राप्त हो जाती है। अतः यह तो सम्भव नहीं हो सकता कि माहाराष्ट्री आदि से अर्धमागधी अस्तित्व में आई हो। विमर्श करने पर मालूम पड़ता है कि अर्धमागधी भी पालि, मागधी के समान ही प्राचीन भाषा है। डॉ. आर. पिशल लिखते हैं^{४०}- अर्धमागधी का सम्बन्ध प्राचीन माहाराष्ट्री से न होकर प्रस्तर-लेखों की मागधी से है। प्रथमा एकवचन का प्रत्यय 'ए' इस बात का पक्का प्रमाण है कि अर्धमागधी और माहाराष्ट्री दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। यह ऐसा ६ वनिपरिवर्तन नहीं है जिसके लिए यह कहा जाए कि यह समय बदलने के

साथ-साथ घिस-मंजकर इस रूप में आ गया। बल्कि यह स्थानीय भेद है जो भारतीय भाषा के इतिहास से स्पष्ट है। भारतीय भाषा का इतिहास बताता है कि भारत के पूर्वी प्रदेश में अर्धमागधी बहुत व्यापक रूप में फैली थी और महाराष्ट्री का प्रचलन उधर कम था। यह संभव है कि देवर्धिगणिन् की अध्यक्षता में 'वलभी' में जो सभा जैन आगमों को एकत्र करने के लिए बैठी थी या 'स्कन्दिलाचार्य' की अध्यक्षता में 'मथुरा' में जो सभा हुई थी, उसने मूल अर्धमागधी भाषा पर पश्चिमी प्राकृत भाषा महाराष्ट्री का रंग चढ़ा दिया हो।

अर्धमागधी की ध्वनि के नियम जैसा कि 'एव' से पहले 'अम्' का 'आं' हो जाना, 'इति' का 'ई' हो जाना, उपसर्ग 'प्रति' से 'इ' का उड जाना, तालव्यों के स्थान पर दन्त्य अक्षरों का आ जाना, 'यथा' के 'य्' का लोप हो जाना, संधि व्यंजनों का प्रयोग, सम्प्रदान कारक के अन्त में 'त्ताए' का व्यवहार, तृतीया विभक्ति के लिए प्रत्यय 'सा' का प्रयोग, 'कम्म' और 'धम्म' का तृतीया का रूप कम्मुणा और धम्मुणा, उसके विचित्र प्रकार के संख्यावाचक शब्द, अनेक धातुओं के रूप, जैसे- 'ख्या' धातु से 'आइक्खइ' रूप, 'आप्' धातु में 'प्र' उपसर्ग जोड़कर उसका 'पाउणइ' रूप, 'कृ' धातु का 'कुब्बइ' रूप, 'इत्तु' और 'त्ताए' में समाप्त होने वाला सामान्य रूप, संस्कृत के 'त्वा' और हिन्दी के 'करके' के स्थान पर 'त्ता', 'त्ताणं', 'च्चा', 'च्चाणं', 'च्चाण', 'याणं', 'याण' आदि महाराष्ट्री भाषा में कहीं भी नहीं मिलते। अर्धमागधी में महाराष्ट्री से भी अधिक व्यापक रूप से मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार अर्धमागधी में पूर्वी भारतीय भाषाओं के कतिपय लक्षण प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हो जाते हैं, अतः यह स्पष्टतः प्रमाणित हो जाता है कि अर्धमागधी भाषा पूर्वोत्तर भारत की प्राचीन भाषा रही है।

वर्तमान में उपलब्ध आगमों की अर्धमागधी भाषा में महाराष्ट्री का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इसके कई कारण रहे हैं। एक तो मुनि सम्मेलनों का पूर्वोत्तर भारत से पश्चिम भारत की ओर अग्रसारित हो जाना। दूसरा, प्राकृतों में महाराष्ट्री के प्रभाव का बढ़ना। तीसरा, प्राकृत के वैयाकरणों द्वारा स्पष्ट रूप से अर्धमागधी के लक्षणों का अनुशासन न

किया जाना इत्यादि।

इन बातों को आगमों के कतिपय सम्पादकों ने स्वीकार भी किया है। जैसे आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं- ‘चूर्णि की भाषा में ‘त’ और ‘ध’ की बहुलता है, जैसे-इत्थितो (इत्थिओ), २.२, सतणाणि (सयणाणि) २.२ जति (जइ) २.९, इत्यादि; ‘त’ का लोप प्रायः नहीं किया गया है। ये प्रयोग प्राचीन अवश्य हैं, पर हम लोग ‘प्राकृत व्याकरण’ की सीमा में घिरे हुए हैं, इसलिए वे हमारे लिए अपरिचित हो गए हैं। ‘ध’ को ‘ह’ भी प्रायः नहीं किया गया है, जैसे-मधुकार (महुकार), १.५, साधीणे (साहीणे २.३)। सप्तमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया का प्रयोग हुआ है, जैसे- अहागडेहिं (अहागडेसु १.४) इत्यादि।^{१९}

उत्तराध्ययन सूत्र के चौतीसवें अध्ययन में ‘पद्मलेश्या’ के लिए ‘पम्हलेस्सा’ शब्द का प्रयोग हुआ है।^{२०} इसी प्रकार ‘आवश्यक सूत्र’ में भी ‘पद्मलेश्या’ के लिए ‘पम्हलेस्सा’ शब्द का प्रयोग हुआ है।

हम सभी जानते हैं कि प्राकृत व्याकरण में ‘पद्म’ शब्द के दो रूप बनते हैं। ‘पोम्म’ और ‘पउम’।^{२१} फिर यह ‘पम्ह’ शब्द कैसे आया ? कहीं यह प्राचीन अर्धमागधी का रूप तो नहीं ?

उपर्युक्त उद्धरणों में से आचार्य महाप्रज्ञ का यह कथन कि “हम लोग ‘प्राकृत व्याकरण की सीमा’ से घिरे हुए हैं अतः प्राप्त प्रयोग प्राचीन होते हुए भी हमारे लिए अपरिचित हो गए हैं।” अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं सचमुच में ऐसा लगता है कि आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा दिए गए दो सूत्रों- कगचजतदपयवां प्रायो लुक् (८/१/१७७) और खघथधभाम् (८/१/१८७) का आगम सम्पादकों ने इस हद तक प्रयोग कर डाला कि समूची अर्धमागधी भाषा माहाराष्ट्री के समान हो गई, और अर्धमागधी की प्राचीनता काफी हद तक छिन्न-भिन्न होती चली गई।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट समझा जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के बाद अर्धमागधी भाषा के साथ किस प्रकार का मनमाना व्यवहार किया गया होगा। अर्धमागधी के समग्र लक्षणों को समझने के लिए आचार्य हेमचन्द्र से पूर्ववर्ती साहित्य काफी सहयोगी हो सकता है। सम्भवतया चूर्णियों और वृत्तियों में उसके कुछ रूप जो बच गए हैं वह भी उस पूर्व-वर्ती

साहित्य का ही प्रभाव है।

चूँकि हेम-व्याकरण से अर्धमागधी भाषा का समग्र परिचय प्राप्त नहीं होता। अतः आगम सम्पादकों ने 'त' की अवस्था वाले शब्दों में से 'त्' का लोप कर दिया, 'ध्' को 'ह्' में बदल दिया तथा दन्त्य 'न्' के स्थान पर सर्वत्र मूर्धन्य 'ण्' करने का महत्व दे दिया है। इसलिए निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अर्धमागधी के लक्षणों का सादृश्य प्राचीन मागधी, शिलालेखी एवं देश्य प्राकृत से ही घटित होता है किन्तु वर्तमान में उपलब्ध आगम आदि में माहाराष्ट्री का प्रभाव दोनों कारणों से घटित हुआ है- एक तो आचार्य देवर्धिगणि के समय 'माहाराष्ट्री का प्रभुत्व' और दूसरा 'प्राकृत व्याकरण के अनुसार अर्धमागधी को ढालने का प्रयास'।

अर्धमागधी भाषा की कतिपय विशेषताएँ^{४०} :

१. अर्धमागधी में मध्यवर्ती असंयुक्त 'क्' को सर्वत्र 'ग्' तथा कभी-कभी 'त्' और 'य्' भी हो जाता है, जैसे- ('क्', को, 'ग्' वाले उदाहरण) प्रकल्प > पगप्प, आकर > आगर, आकाश > आगास, श्रावक > सावग आदि। 'क्', को 'त्', जैसे- आराधक > आराहत, सामायिक > सामातित, अधिक > अधित, शाकुनिक > साउणित आदि। 'क्' को 'य्' जैसे- लोक > लोय, अपकार > अवयार इत्यादि।

२. अनादि असंयुक्त 'ग्' प्रायः बना रहता है, तथा कहीं-कहीं उसके स्थान पर 'त्' और 'य्' भी प्राप्त हो जाते हैं, जैसे- आगम > आगम, आगमनं > आगमणं, अनुगमिक > अणुगमिय, आगमिष्यत् > आगमिस्स, भगवान् > भगवं आदि। 'ग्' को 'त्' जैसे- अतिग, अतित्। 'ग्' को 'य्' जैसे- सागर > सायर इत्यादि।

३. अनादि, असंयुक्त 'च्' और 'ज्' के स्थान में 'त्' और 'य्' दोनों पाए जाते हैं, जैसे- नाराच > णारात (ठा. ३५७), वचस् > वति (ठा. ३९८), प्रवचन > पावतण (ठा. ४५१), कदाचित् > कयाती (विपा० १७, ३०), 'च्' को 'य्' जैसे- वाचना > वायणा, उपचार > उवयार, लोच > लोय, आचार्य आयरिय आदि।

'ज्' के उदाहरण- भोजिन् > भोति (सूअ० २, ६, १०), वज्र > वतिर (ठा. ३५७), पूजा > पूता (ठा. ३५८), राजेश्वर > रातीसर (ठा. ४५९), आत्मजः >

अत्तते (विपा. ४, टि), 'ज्' को 'य्'- प्रजात > पयाय, कामध्वजा > कामज्झया, आत्मज > अत्तय इत्यादि।

४. अनादि, असंयुक्त 'त्' प्रायः बना रहता है तथा कहीं-कहीं उसके स्थान पर 'य्' भी हो जाता है, जैसे- वन्दते > वंदति (आत्मने पद की क्रिया परस्मैपद में परिवर्तित है), नमस्यति > नमंसति, पर्युपास्ते > पज्जुवासति (सूअ० २, ७), जितेन्द्रिय > जितिंदिय (सूअ. २, ६, ५) सतत > सतत (१, १, ४, १२) आकृति > आगिति, करतल > करयल (यहाँ 'त्' > 'य्' हुआ है) इत्यादि।

क्रमशः अगले अंक में....

संदर्भ :

१. जैन भाषा-दर्शन, प्रो. सागरमल जैन, प्र. भोगीलाल लहेरचंद भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली-पाटण १९८६।
२. ऋषभं मा समानानां अपन्नानां विषासहिम्। हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपति गवाम्। - ऋग्वेद १०/१६६/१। अष्टमें मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः। दर्शयम् वर्त्म धीरा, सर्वाश्रम नमस्कृत्यम्॥- श्रीमद्भागवत् १/३/१३। इत्यादि के अतिरिक्त भागवत पुराण, मनुस्मृति, अथर्ववेद, यजुर्वेद, नागपुराण, शिवपुराण, हठयाग प्रदीपिका आदि में ऋषभदेव का अनेकमों बार उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में तो उनके नाम पर अनेकों मंत्रों का प्रणयन हुआ है, जिनमें उनकी स्तुति अहिंसक, आत्म-साधकों में प्रथम, '-अवधूत चर्या' के प्रणेता, प्रथम अमरत्व या महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप में हुई है।
३. आ. सुभद्र मुनि जी, विश्व मैत्री पत्रिका, आदिनाथ जन्म-जयंती विशेषांक, अप्रैल-मई २०१३, पृष्ठ-२३
४. वाचनाचार्य डॉ. विशाल मुनि जी, विश्व मैत्री पत्रिका, आदिनाथ जन्म-जयंती विशेषांक, अप्रैल-मई, २०१३, पृष्ठ-२८
५. उसभे इ वा, पढम राया इ वा, पढमभिक्खायरे इ वा, पढम जिणे इ वा, पढम तित्थयरे इ वा- कल्पसूत्र, सूत्र-१९४
६. आ. सुभद्र मुनि जी, विश्व मैत्री पत्रिका, आदिनाथ जयंती विशेषांक, अप्रैल-मई २०१३, पृष्ठ-२५
७. श्रीमद्भागवत २/७/१० ८. यजुर्वेद, अ. ३१, मंत्र-८-९
९. वैदिक धर्मशास्त्रों में भगवान ऋषभदेव चरित्र, विश्व मैत्री पत्रिका, अप्रैल-मई २०१३, पृ. ४६
१०. कल्पसूत्र, सूत्र-१९४, तथा जैन चरित्र कोश, आ. सुभद्र मुनि, मुनि मायाराम सम्बोधि प्रकाशन, दिल्ली, २००६, पृष्ठ-७६
११. समवायांग सूत्र, अंगसुत्ताणि खण्ड-३, ३४वाँ समवाय, पृ. ८८०, जैन विश्व भारती लाडनू
१२. औपपातिक सूत्र, उवंगसुत्ताणि खण्ड-१, सू. ७१, पृ. ४६, जैन विश्व भारती लाडनू-१९८७
१३. नन्दीसूत्रम्, व्या. आ. आत्माराम जी म., नन्दीसूत्र-दिग्दर्शन, पृ. २१
१४. अंगसुत्ताणि खण्ड-२, भगवई, शतक-५, उद्देशक-४, सू. ९३, पृ. २०४, जैन वि.भा. लाडनू
१५. अंगसुत्ताणि खण्ड-२, पण्णवणा, पढम अज्झयण, सू. ९८, पृ. ३३, जैन वि.भा. लाडनू

१६. उवंगसुत्ताणि खण्ड-२, पण्णवणा सुत्तं, पढम अज्झयण, सू. ९८, पृष्ठ-३३
१७. पाइअ सद्द महण्णवो, मोतीलाल बनारसीदास, द्वि. संस्करण, पृष्ठ-३९
१८. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. ३२
१९. अंगसुत्ताणि, भाग-३, नायाधम्मकहाओ, प्रथम अध्ययन, सू. ८८, पृ. ३३, ३४, लाडनूँ १९८७
२०. अंगसुत्ताणि, भाग-३, विवागसुयं, बीयं अज्झयणं, सू. ७, पृ. ७३२-७३३, लाडनूँ १९८७
२१. उवंगसुत्ताणि, खण्ड-१, रायपसेणइयं, सू. ८०९, पृ. २१०, लाडनूँ १९८७
२२. उवंगसुत्ताणि, खण्ड-१, ओवाइयं, सूत्र १४८, पृ. ६५, लाडनूँ १९८७
२३. अन्तकृदशा, सं. मधुकर मुनि जी, पृष्ठ-२२
२४. आदिपुराण (द्वि. भा.), आ. जिनसेन, पर्व-३३, श्लोक-१२०
२५. आदिपुराण (द्वि. भा.), आ. जिनसेन, पर्व-३३, श्लोक-१४८
२६. वाग्भट काव्यानुशासन, पृष्ठ-२
२७. से किं तं भासारिया ? भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासिंति। - पण्णवणा, पढम अज्झयण, सूत्र ९८
२८. भगवं च णं अद्धमागधाए भासाए धम्ममातिक्खति - समवायांगसुत्तं, ३४ वां समवाय, श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई, पृष्ठ-३९३
२९. पाइअ सद्द महण्णवो की भूमिका, (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ३९
३०. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं। सासणस्स हियट्ठाए ततो सुत्तं पवत्तई, आवशकनिर्युक्ति, खण्ड-१, गाथा-८६, पृष्ठ-३४
३१. पाइअ सद्द महण्णवो की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ-३९
३२. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. ३४
३३. कम्पैरेटिव ग्रामर भूमिका, पृ. १७ और आगे।
३४. प्राकृत लक्षण की भूमिका, पृष्ठ-२१
३५. सेवन ग्रैमर्स ऑव द डायलैक्टस एण्ड सबडायलैक्टस ऑव द बिहारी लैंग्वेज, खण्ड-१, पृष्ठ-५, कलकत्ता, १८८३
३६. शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी, - प्राकृत सर्वस्व, सम्पा. डॉ. सत्यरंजन बनर्जी, पृ. १०३
३७. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में तथा परम्परागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी
३८. पाइअ सद्द महण्णवो की भूमिका। ३९. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ-३२-३३
४०. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ. ३२-३३
४१. आ. महाप्रज्ञ, नवसुत्ताणि का संपादकीय, पृ. १४-१५
४२. आ. महाप्रज्ञ, नवसुत्ताणि का संपादकीय, पृ. १४-१५
४३. ओत् पद्मे (हेम. ८/१/६१), पद्यछद्यमूर्खद्वारे वा (हेम. ८/२/११२)
४४. पाइअ सद्दमहण्णवो की भूमिका, पृ. ४०, ४१
४५. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. ३७-४२
४६. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में, डॉ. के. आर. चन्द्र।

क्रमशः अगले अंक में ...

जैनदार्शनिकेषु देवसेनाचार्य वैशिष्ट्यम्

• सुनील जैन 'संचय', शास्त्री

सम्पूर्णे जैनसाहित्ये कुन्दकुन्दाचार्यस्य नाम सर्वातिशायि विद्यते। अस्मादेव कस्यापि मंगलकार्यात्पूर्वं जैन परम्परायां तस्य स्मरणं मंगलं स्वीकृतमस्ति। स हि श्रमणसंस्कृतेरुन्नायकः, प्राकृतवाङ्मयस्य अग्रणीप्रतिभूः, तर्कप्रधानशैल्यां सोदाहृतिः, प्रस्तुते अध्यात्मजैनवाङ्मये कनिष्ठिकाधिष्ठितोऽस्ति। पञ्चद्वर्तिषु जैनकविषु येन-केनापि रूपेऽस्य प्रभावः परिलक्षितो भवति। देवसेनाचार्योपरि अस्य शाब्दिकः, आर्थिक अथवा भाविकः प्रभावो दृष्टिपथमवतरति। यद्यपि कोऽपि कविः स्व-पूर्ववर्तिनः कवेः शब्दं, अर्थं अथवा भावं यथावन्न गृह्णाति, स हि स्वस्य नवनमोन्मेषशालिन्या प्रतिभया नूतनं स्वरूपं ददाति, तथापि पूर्ववर्तिनां प्रभावोऽनुपेक्षणो योऽस्ति। देवसेनाचार्यस्योपरि कुन्दकुन्दाचार्यातिरिक्तं गृद्धपिच्छाचार्यस्य उमास्वामिनः, समन्तभद्राचार्यस्य, योगीन्द्रदेवस्य, पूज्यपादानां प्रभावकानां जैनाचार्याणां प्रभावस्तु जाते एव। एवमेव देवसेनाचार्यः स्वस्य पश्चाद् वर्तिषु प्रमुखतया शुभचन्द्रं, राजशेखरादिकं प्रभावितं चकार। डॉ. उमेशप्रसादरस्तोगी युक्तमेव लिखितवान् यत् 'अनुभवानां, परीक्षाणां, अन्वेषणानां च उपेक्षां विधाय जीवनस्य कस्मिंश्चिदपि क्षेत्रे उन्नतिर्न संभाव्यते। विषयोऽयं काव्य-साहित्यस्य क्षेत्रेऽपि चरितार्थो भवति। पूर्वचिन्तानां काव्यानां अनुशीलने किंवा रसास्वादे एव सहृदयः पाठकः स्व-कृतये प्रेरणां दर्शनं च प्राप्नोति।

जैनदार्शनिकेषु देवसेनाचार्यः महत्वपूर्णं स्थानं स्थापयति। प्रमुखेषु जैनदार्शनिकेषु देवसेनाचार्यस्य वैशिष्ट्यस्य दिग्दर्शनं सर्वथा प्रासंगिकोऽस्ति। संक्षेपतोऽत्र वैशिष्ट्यं प्रस्तूयते।

आचार्यः कुन्दकुन्दस्तथदेवसेन :

आचार्यः कुन्दकुन्दः शुद्धेन निश्चयनयेन जीवस्य स्वरूपं वर्णयन् लिखितवान् यत् बाह्ये शरीरस्य वर्णादयस्तथा आभ्यन्तरे रागादि विभावाः जीवस्य न सन्ति, यतो ह्येते पुद्गलस्य अथवा पुद्गलस्य सम्बन्धेन जायमानाः सन्ति।

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णविय फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहडणं।।?

जीवस्य णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
 णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि॥
 जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
 सो अज्झप्पाणा णेव य अणुभायठाणो वा॥
 जीवस्स णत्थि केई जोयुणया ण बंधठाणावा।
 णेव य उदयाणा मग्गणुणया केई॥
 णो ठिदिबंधुणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
 णेव विसोहिणा णो संजमलद्धिठाणा वा॥
 णेव य जीवाणा ण गुणुणा व अत्थि जीवस्स।
 जेण दु एदे सव्वे पुग्गल दव्वस्स परिणामा॥

-समयसार, गाथा ५७-६२

अर्थात् वर्णः, गंधः, रसः, स्पर्शः, रूपं तथा संस्थानं एवं संहननं इति जीवस्य स्वभावा न सन्ति। वर्गः, वर्गणा, स्पर्धा, आध्यात्मस्थानं एवं अनुभागस्थानं एतेऽपि जीवस्य स्वभावा न सन्ति। किमपि योगस्थानं, बन्धस्थानं, उदयस्थानं, मार्गणास्थानं, एतेऽपि जीवस्य स्वभावा न सन्ति। स्थितिबन्धस्थानम् संक्लेशस्थानं, विशुद्धिस्थानम्, संयमलब्धिस्थानम्, जीवस्थानं, गुणस्थानं एतेऽपि सर्वे जीवस्य स्वभावाः न सन्ति। यतो ह्येते पुद्गलद्रव्यस्य संयोगेन जायमाना परिणामा सन्ति।

कुन्दकुन्दाचार्यस्य उक्तानां गाथानां शब्दगतः अर्थगतः एवं भावगतः प्रभावः देवसेनस्य तत्त्वसारस्य निम्नगाथासु स्पष्टरूपेण द्रष्टुं शक्यते। तेन समयसारस्यैव सारमादय एताः गाथाः प्रस्तुताः -

‘जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।
 जाइ जरा मरणं चिय णिरंजणो सो अहं भणिओ॥
 णत्थि कलासंठाणं मग्गण गुणठाण जीवठाणाइं।
 ण य लबिंधठाणा णोदयठाणाइय केई॥
 फास रस रूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।
 सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ॥’

तत्त्वसार गाथा - १९-२१

अर्थात् यस्य न क्रोधो न च मानं अस्ति, न मायाः न च लोभः अस्ति, न शल्यं, न लेश्या अस्ति, न किमपि जन्म, जरा, मरणमस्ति, तदेव निरंजनं अर्थात् आत्मा उक्तोऽति। तस्य न कापि कला, न च किमपि संस्थानं न च

मार्गस्थानं, न गुणस्थानं, न जीवस्थानं, न लब्धिस्थानं, न बंधस्थानं, न च किमपि उदय स्थानमस्ति। येन शब्द-स्पर्श-गन्ध-रस-रूपादयश्च न सन्ति। स हि शुद्धं चेतन-स्वभावरूपं निरंजने (आत्मनि) उक्तवान् अस्ति।

समयसारस्य तथा तत्त्वसारस्य उक्तगाथानां भावः एक एवस्ति तथात्र देवसेनोपरि कुन्दकुन्दस्य स्पष्टः प्रभावो वर्तते। समयसारे जीवस्य कर्मणश्च सम्बन्धस्य विवेचनं कुर्वन् उक्तवान् अस्ति -

‘एदेहि य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।

ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा॥’

-समयसार गाथा, ६२

अर्थात् एतैः वर्णादिकभार्वैः सह जीवस्स सम्बन्धः दुग्धं जलवत् एक क्षेत्रावगाही भवति, किन्तु ते जीवस्य न भवन्ति यतोहि जीवे उपयोग-गुणोभवति।

इयमेव भावं अभिव्यक्ति कुर्वन् देवसेनेन उक्तम् -

सम्बन्धो ए देखिं गायत्वो खीरणीरणाएणा।

एकहो मिलियाणं णिय-णिय सद्भाव जुताणम्॥

अर्थात् स्व-स्व सद्भावेन युक्तः परन्तु एकत्वं प्राप्तस्य जीवस्य कर्मणश्च सम्बन्धः दुग्धं जलवद्धोध्यम्। समयसारस्य तत्त्वसारस्य चोक्तयोः द्वयोर्गाथयोः जीवस्य तथा कर्मणः सम्बन्धं दुग्धं जलदुक्तमस्ति। गाथाद्वयस्य अभिप्रेतमपि समानमस्ति। समयसारे जीवस्य उपयोगगुणं अधिकमुदीर्य वर्णादिभावेभ्यः पृथगप्रदर्शितमस्ति, तत्त्वसारे तदेवभावः जीव-कर्मणश्च सम्मिलितत्वेऽपि द्वावपि स्व-स्व स्वभावयुक्तौ इत्युक्तवा प्रदर्शितोऽस्ति।

समयसारे उक्तमस्ति यद् यस्य हृदि परमाणुमात्रमपि रागो विद्यते, सः सम्पूर्णतमस्य ज्ञानी सत्वेऽपि स्व-आत्मानं न जानाति-

‘परमाणुमित्तिं पि हु य रागादीणं तु विज्जदे जस्स।

णवि सौ जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमध रोवि॥’

समयसार, गाथा. २११

इयमेव विषयं शब्दान्तरेण सह देवसेनः तत्त्वसारे एवमुक्तवान् यत्-यावद्धि योगी स्व-मनसि परमाणु मात्रमपि रागं स्थापयति, तावद्धि परमार्थज्ञाता भूत्वाऽपि सः श्रमणकर्मभिः मुक्तो न भवति। तत्त्वसारस्य गाथा एवमस्ति -

‘परमाणुमित्तरायं जाम ण छंडेइ जोइ समणम्मि।

सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणओ समणो॥’

- तत्त्वसार, गाथा-५३

केषां चिदेवं भूतास्ति धारणा वर्तमानसमये ध्यानं भवितुं नार्हति, तमाह कुन्दकुन्दाचार्यः -

‘पंचसु महत्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।

‘जो मूढो अण्णणी ण हु कालो भणई दाणस्स॥
 भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
 तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णणी॥
 अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झएवि लहहि इंदत्तं।
 लोयंतियदेवत्तं तत्थ चूजा णिवुदिं जंति॥

- मोक्ष पाहुड, गाथा- ७५-७७

ते सन्ति मूर्खा अज्ञानिनो ये वदन्ति नायं ध्यानकालः। अद्यापि भारतक्षेत्रस्य साधवः विषमकालेऽपि आत्मस्वभावेस्थिताः धर्म्यध्यानं कुर्वन्ति तथा रत्नत्रयेण विशुद्धो जीवः आत्मनो ध्यानं कृत्वा इन्द्रत्वमथवा लोकान्तिकं देवत्वमधिगत्य ततः च्युतो भूत्वा निर्वाणं गच्छति।

देवसेनोऽपि तत्त्वसारे तान् भर्त्सितवान्, ये मन्यन्ते यदयं ध्यानस्य कालो नास्ति -

‘सकां करंवा गहिया विसयपसत्ता सुमग्गोपब्भट्ठा।

एवं भणंति केई ण हु कालो होई झणस्स॥

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोए।

तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाण॥’ १४-१५

अर्थात् शंका-कांक्षा इति दोषैर्युक्ताः, विषयवशीभूताः सन्मार्गभ्रष्टाः केचन वदन्ति यदयं कालो ध्यानस्य नास्ति, परन्तु अद्यापि रत्नत्रयधारीजीवः आत्मनो ध्यानं कृत्वा देवलोकं गच्छन्ति ततश्च विदेहक्षेत्रस्य उत्तम - मनुष्येषु उत्पन्नो भूत्वा निर्वाणं प्राप्नोति।

तत्त्वसारस्य उक्तगाथासु शब्दगता अर्थगता च अतिसमानता दृष्टिभवतरति।

समयसारे उक्तमस्ति निश्चयनये संल्लग्नो मुनिः एव निर्वाणं गच्छन्ति-

‘णिच्छयणसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं।’

-समयसार गाथा- २९० पूर्वाद्धि

इयमेव भावं शब्दपरिवर्तनेन सहतत्त्वसारे उक्तम्-

‘जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरं विसमं।’

‘तत्त्वसार, गाथा ७३ का पूर्वाद्धि

अर्थात् यस्मिन् निश्चयनये तल्लीन जीवाः विषमं संसारसागरं वारं यान्ति।

उक्तोद्धरणैः सुस्पष्टं भवति यत् देवसेनाचार्यः तत्त्वसारे कुन्दकुन्दाचार्य कृतात् समयसारात् स्वयं मोक्षपाहुड इत्यस्मात् सारमादाय अस्य रचनां कृतवान् अस्ति।

आचार्यः गृह्यपिच्छस्तथा देवसेनः -

आचार्यो देवसेनः गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी द्वारा विरचितस्य तत्त्वार्थसूत्रस्य आलापपद्धतौ बहुशोऽनुकरणं कृतवान् अस्ति। यत्र-तत्र तु तत्त्वार्थसूत्रस्य सूत्राणि यथावद् गृहीतवान्। यथा - ‘सद् द्रव्यलक्षणम्’^१ ‘उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्’^२ ‘गुणपर्ययवद् द्रव्यम्’^३

इमानि सूत्राणि तत्त्वार्थसूत्रे एव आलापपद्धतौ उभयत्र वर्तते। एतदति रिक्तमनेकसूत्राणि तत्त्वार्थसूत्रेण स्पष्टतया प्रभावितानि सन्ति, तेषु कानिचिदेवम्- ‘प्रमाणनयैरधिगमः’^४, ‘प्रमाणनयविवक्षातः’^५, ‘सर्वद्रव्यपर्याषु केवलस्य’^६, ‘केवलं सकलप्रत्यक्षम्’^७, आद्ये परोक्षम्’^८, ‘मतिश्रुते परीक्षणम्’^९।

एतेषां सूत्राणामवलोकनेन स्पष्ट। प्रतीयते यत् देवसेनः तत्त्वार्थसूत्रस्य सूत्रेषु यत्र-तत्र किञ्चित् परिवर्तनं कृतवान् अस्ति तथा यत्र-तत्र सर्वनाम-स्थाने प्रसंगवशात् संज्ञा-शब्दानां प्रयोगं कृतवान्। अन्यान्यप्यनेक सूत्राणि तत्त्वार्थसूत्रेण साक्षात् तथा परम्परया प्रभावितानि सन्ति।

आचार्य समन्तभद्रस्तथा देवसेनः -

समन्तभद्राचार्यः बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे भगवतः कुन्थनाथस्य स्तुतिं कुर्वन् उक्तवान्। -

‘हुत्वा स्वकर्म-कटुक प्रकृतीश्चस्त्रो
रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्यः।
द्रभाजिषे सकलवेदविधेर्विनेता
व्यभ्रे यथावियति दीप्तरुचिर्विवस्वान्॥

अर्थात् घातककर्मणां कटुक स्ववतीः चतुः प्रकृतीः विनाश्य रत्नत्रयस्यातिशयते जसि समुत्पन्नाति शयतेजीवान् अनन्तवीर्यवान् तथा सम्पूर्णवेदविधेर्विनेताभवान् तथैव शोभते यथा मेघरहिते गगने प्रदीप्त किरणवान् सूर्यः सुशोभिते।

इममेव भावं अभिव्यक्तयन् देवसेनः तत्त्वसारे एवमुक्तवान् -

‘जह-जह मणसंचारा इंदियविसया वि उवसमं जति।
तह-तह पयडइ अप्पा अप्पाणं जहाणहे सूरौ।’

- तत्त्वसार, गाथा-३०

अर्थात् यथा-यथा मनसः संचारः तथा इन्द्रियविषया अपि उपशमं प्रयान्ति, तथा-तथा आत्मा स्वंशुद्धं स्वरूपं तथैव प्रकटयति यथा आकाशे सूर्यः।

धर्मनाथं भगवन्तं स्तुवन् समन्तभद्राचार्यः लिखितवान् -

‘मानुषी’ प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि देवता यतः।
तेन नाथ परमसि देवता श्रेयते जिनवृष प्रसीदनः॥

- बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक-७५

अर्थात् यतः भवता मानुषीस्वभावः दूरे कृतः तथा देवानां अपि देवो

जातः, हे नाथ! भवान् परमदेवो वर्तते। हे जिनश्रेष्ठ! अस्मत्कल्याणाय प्रसीद।
अयमेव भावः तत्त्वसारे यथा -

‘दि विमलसहावे णियतच्चे इंदियत्थपरिचत्ते।
जायइ जो इस्स फुडं अमाणुसत्तं खणद्धेण॥’

तत्त्वसार गा. ४२

अर्थात् निर्मलस्वभाववान् तथेन्द्रियविषयरहितः तथा निजआत्मतत्त्वे
दृष्टे अर्धक्षणे योगिनः स्पष्टरूपेण अमानुषीभावः प्रकटीभवति।

उपर्युक्तविवेचनेन स्पष्टमस्ति देवसेनः अनेकत्र बृहत्स्वयंभूस्तोत्रात्
भावं गृहीतवान्।

योगीन्द्र-देवस्तथा देवसेनः -

देवसेनाचार्यः तत्त्वसारे निश्चयनयेन सर्वेणां जीवानां समानतायाः वर्णनं
कुर्वन् लिखितवान् -

‘जम्मणमरणविमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्णा।
सगुणेहिं सव्वसरिसा णाणया णिच्छयणएण॥’

अर्थात् निश्चयनयानुसारं जन्म-मरणारहित स्यात्मानः प्रदेशानामपेक्षया
सर्वसामान्येषु आत्मगुणेषु सर्वसमानाः तथा ज्ञानमया अवलोकिताः सन्ति।

इयमेव योगीन्द्रदेव समताभावं वर्णयन् एवमुक्तवान् -

‘सव्वे जीव णाण मया जो समभाव मुणेइ।
सो सामादु जाणि कुटु जिणवर एमभगेई॥’

अर्थात् सर्वे जीवा ज्ञानमयाः समानाश्च सन्ति, एवं मत्वा यः समभावेन
मननं करोति, तस्यैव सत्य-सामयिक भवति, एवं जिनवरेण उक्तम्।

आचार्यः पूज्यपाद-स्तथादेवसेनः -

आचार्येण पूज्यपादेन विरचितस्य समाधितंत्रस्य देवसेनः यत्र-तत्र
भावानुसरणमकरोत्। पूज्यपादेनोक्तं -

‘अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥’

अर्थात् यदेतत् किञ्चित् दृश्यं दर्शनयोग्यं अथवा द्रष्टुं अवशेषमस्ति,
तद्धि अचेतनमस्ति चेतनं दृश्यं अदर्शनीयमस्ति। अतोऽहं केन कुद्धस्तथा
केन संतुष्टो भवामि? अस्मात् कारणात् मध्यस्थो भवामि।

समाधितंत्रस्य उक्तश्लोकस्य देवसेनस्य तत्त्वसारस्य निम्नश्लोके
स्पष्टमनुकरणं द्रष्टव्यमस्ति -

‘चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ इत्थ चेयणासहिओ।
तम्हा मज्झत्थोहं रूसेमि य कस्स तूसेसि॥’

- तत्त्वसार, गाथा- ३६

अर्थात् अस्मिन् संसारे चेतनरहित, पदार्थो दृश्यते तथा चेतनस्तु न दृश्यते। अतो मध्यस्थोऽहं केन स्पष्टस्तथा केन सन्तुष्टो भवामि समाधितंत्रे उक्तमस्ति -

‘रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्त्वं नेतरो जनः॥’

- समाधितंत्र, श्लोक-३५

अर्थात् राग-द्वेषादिकल्लोलैः (सांसारिकविषयैः) यस्य चित्तरूपं जलं चायल्यरहितं भवति, सः पुरुषः आत्मनः तत्त्वं पश्यति। एतद् विपरीतः पुरुषः तच्च तत्त्वं न द्रष्टुं शक्नोति।

पूज्यपादस्य कथनमनुसन् देवसेनोक्तम् -

‘राय दोसादीहिय डहुलिजइ णेव जस्स मणसलिलम्।
सो णियतच्चं पिच्छइण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ॥’

अर्थात् यस्य मनः राग-द्वेषादिभिः चंचलं न भवति, स हि निजतत्त्वं परिचिनोति। अस्य विपरीतस्तु पुरुषः निश्चिमेव न परिचिनोति।

पूज्यपादः आत्मस्वरूपं विवेचयन् इष्टोपदेशे उक्त उक्तवान् -

‘स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तुनमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवान् आत्मा लोकालोकविलोकनः॥’

- इष्टोपदेश श्लोक २१

अर्थात् आत्मा स्वानुभूत्या व्यक्तस्तथा स्वशरीर प्रमाणवान्, अविनाशी, अनन्त-सुखवान्, लोकालोकप्रकाशकश्चास्ति।

एवमेव तत्त्वसारे देवसेनसोऽपि आत्म स्वरूपं वर्णयन् उक्तवान् -

‘दंसणणाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।
सगहियदेहपमाणो णायत्वो एरिसो अप्पा॥’

अर्थात् आत्मा दर्शन एवं ज्ञान गुण प्रधानोऽस्ति, असंख्यातप्रदेशी, आकार-रहितः, स्वे न चारणकृतशरीर प्रमाणोऽस्ति। एवं स्वरुवन्तं आत्मानं ज्ञातव्यम्।

आध्यात्मस्य विवेचनं कुर्वन् इष्टोपदेशे उक्तम् -

परिषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽयात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥

- इष्टोपदेश, श्लोक - २४

अर्थात् आध्यात्मयोगेन परिषहादेः ज्ञानेन आस्रवं अवरोधकानां कर्मणां निर्जरा शीघ्रमेव भवति।

इयमेवाभिप्रायं तत्त्वसारे देवसेन प्रकटीकृतम् -

‘मण वयण कायरोहे रुझइ कम्माण आसवो णूणम्।

चिर बद्धं गलइ सयं पलरहियं जाइ जोईणरव॥'

अर्थात् योगीनां मन-वचन-कायानां च प्रवृत्तेखरुद्धे जाते निश्चितमेव कर्मणां आस्रवो निरुद्धो भवति तथा चिरबद्धानि कर्माणि स्वयमेव फलहीनत्वात् विनश्यन्ति।

देवसेनः शुभचन्द्रः -

देवसेनः मोहराजस्याभावफलं दर्शयन् दृष्टान्तिकशैल्यां उक्तवान् -

‘णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं।

तह णिहयमोहराए गलन्ति णिस्सेसधाईणि॥’

- तत्त्वसार, गाथा-६५

अर्थात् रजविमृते महत्वहीना सेनाविनश्यति, तथैव मोहरूपस्य राज्ञः विनाशे समस्त कुकर्माणि स्वयमेव गलन्ति।

अयमेव विषयः आप्तस्वरूपं एवं उक्तः -

‘मोहकर्मरियोः नष्टे सर्वे ऐषांश्च विद्रुताः।

छिन्नमूलतरोर्यदवद ध्वस्तं सैन्यमराजवत्॥’

- आप्तस्वरूप, गाथा-७

अर्थस्तु सुस्पष्टएवास्ति।

तत्त्वसारे परसमयस्य स्वरूपं विवेचयन् उक्तमस्ति -

‘ण लहइ भव्वो मोक्खं जावय परदव्ववापडो चित्तो।

उगगतपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ॥’- तत्त्वसार, गाथा-३३

अर्थात् आवन्मनः परद्रव्य व्यापारेण युक्तमस्ति, तावत् उग्रं तपः कुर्वन् अपि भव्यजीवः मोक्षं प्राप्तुं न शक्नोति। शुद्धभावे लीने सति शीघ्रमेव मोक्षमुपैति।

अयमेव भावो ज्ञानार्णवे यथा -

‘पृथगित्थं न वेत्ति यक्तनोर्वीत विभ्रमः।

कुर्वन्नापि तपस्तीव्रं न स मुच्यते बन्धनै॥’

- ज्ञानार्णव, ३२/४७

अर्थात् विभ्रमरहितोऽपि यो जनः मां (आत्मानं) शरीरात् पृथग् न जानाति, स च तीव्रं तपः कुर्वन्नापि बन्धनैर्न विमुच्यते।

देवसेनस्तथा राजशेखरः -

देवसेनः भावसंग्रहे मिथ्यदृष्टितस्य वर्णनं कुर्वन् लिखितवान् -

‘रंडा मुंडा चंडी सुंडी दिक्खिदाधम्मदारा,

सीसेकता कामासता कामिया सक्कियारा।

मण्जं मंसं मिट्ठं भाखं मक्खियं जीव सोक्खं च

दउसे धम्मे दिसये मोम्मे तं जिहो सग्गमोक्खं॥’

- भावसंग्रह, गाथा-१-२

अर्थात् या स्त्री विधवा स्यात् मुण्डिता स्यात्, चण्डी स्यात्, मदिरा सेवनकर्त्री स्यात्, दीक्षिता भवेत् कस्यापि धर्मपत्नी स्यात्, शिष्या स्यात्, दान्ता स्यात्, कामसेनातत्परा स्यात् कमासक्ता वा, विविधविषयवती स्यात्, तस्याः सर्वे भोगं कुर्युः। समधिकमद्यपानं कर्तव्यम्, मांसभक्षणमपि कर्तव्यम्, जीवान् सुखंदातव्यम्। एवं कौलधर्मः विषयभोगेषु रमणीयोऽस्ति तथा तदनुसारं तेनेव स्वर्गमोक्षस्य प्राप्तिर्भवति।

कविः राजशेखरः संस्कृतस्य बहुश्रुतो मूर्धन्यो विद्वान् वर्तते। तेन प्राकृतभाषायां एका कर्पूरमुरीसट्ठकं लिखितवान्। तस्य कर्पूरमंजर देवसेनस्य भावसंग्रहेण प्रभावितोऽस्ति। भावसंग्रहस्य अस्य श्लोकस्य मुर्याः निम्नश्लोके स्पष्टतया प्रभावो दृश्यते। यत्र कौलधर्मस्य वर्णनं तस्य धर्मस्यानुयायी मेखनंद इत्यनेन कारितवान् -

‘रंडा चंडा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं धम्मखंडं च सोज्जा कोलोधम्मो कस्सणो यादिरम्मो।।

- कर्पूरमंजरी, १/२३

अर्थात् विधवा कलहकारिणी, करस्वभाववती तथा धर्मेऽस्मिन् दीक्षिता धर्मपत्न्या सन्ति। यदिशं मांसं सेवन्ते। भिक्षाभोजनं तथा चर्मखण्डंशय्या वर्तते। एवभूतः कौलधर्मः कं नाकषयति। अन्यस्थलेष्वपि कौलमतस्य वर्णने द्वयोः भावसम्यमस्ति।

उक्तेन विवेचनेन स्पष्टमस्ति यत् आचार्यस्य देवसेनस्योपरि कुन्दकुन्दाचार्यस्य, गृद्धपिच्छाचार्यस्य, समन्तभद्राचार्यस्य, पूज्यपादाचार्यस्य एवं योगीन्द्रदेवस्य स्पष्टरूपेण प्रभावः परिलक्ष्यते। एवमेव देवसेनाचार्योऽपि शुभचन्द्राचार्य तथा कविराजशेखरं प्रभावितवान्।

संदर्भ :

१. तत्त्वार्थसूत्र-२९/५, विशेष वर्णन त्रिलोकसार में देखें।
२. आलापपद्धति सूत्र ६ एवं तत्त्वार्थसूत्र ५/३०
३. वही ७ एवं वही ५/३८
४. तत्त्वार्थ- १/६
५. आलापपद्धति, सूत्र-३३
६. तत्त्वार्थसूत्र- १/२९
७. आलापपद्धति, सूत्र ३७
८. तत्त्वार्थसूत्र- १/११
९. आलापपद्धति सूत्र-३८

- ७४, गांधीनगर, देवगढ़ रोड,
नीलू तिवारी की गली, स्टेशन के पास,
ललितपुर-२८४ ४०३ (उ.प्र.)

एक विस्मृत गाँधी

• डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री

आज 'गाँधी' नाम सुनते ही हमारे मन में या तो वर्तमान पीढ़ी के उन राजनीतिज्ञों के चित्र उभरते हैं जो वस्तुतः नेहरू जी से सम्बन्धित हैं या फिर उस गाँधी की याद आती है जिसने स्वतंत्रता आन्दोलन में राजनीति और समाज सुधार का समन्वय किया, भारतीय संस्कृति के दो अनमोल सिद्धांतों (सत्य और अहिंसा) का अपने कार्यों में प्रयोग किया और इसीलिए जिसे सारा विश्व 'महात्मा' का सम्मान देता है। पर इनसे पहले का एक और गाँधी भी है जिसने भारत का नाम विश्व पटल पर अंकित किया। उस गाँधी का सम्बन्ध अमरीका के शिकागो शहर में आयोजित उस धर्म सम्मेलन (११ से २७ सितम्बर, १८९३) से भी है जिसे हमने स्वामी विवेकानंद (१८६३-१९०२) के साथ अनिवार्य रूप से जोड़ लिया है क्योंकि उसमें भाग लेने के बाद ही स्वामी जी का नाम देश-विदेश में प्रसिद्ध हुआ। उसी धर्म सम्मेलन में जैन धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने के कारण इस गाँधी की ख्याति भी दिग-दिगन्त में फैली थी। स्वामी विवेकानंद तो उस सम्मेलन में बिना निमंत्रण के स्वेच्छा से गए थे, पर वह गाँधी तो आमंत्रित अतिथि था। जहाँ तक सम्मेलन में दिए व्याख्यानों का सम्बन्ध है, इस गाँधी के व्याख्यानों की अमरीका के लगभग सभी समाचार-पत्रों ने, विद्वानों ने और मार्क ट्वेन साहित्यकारों ने भी मुक्तकंठ से प्रशंसा की। बफेलो कुरियर (Buffalo Courier) ने तो उसे ही उस सम्मेलन का सर्वाधिक प्रभावशाली वक्ता बताते हुए लिखा, 'पूर्व से आए सभी विद्वानों में यही युवक ऐसा था जिसके जैन धर्म और आचरण से सम्बन्धित व्याख्यान लोगों ने अत्यन्त रुचिपूर्वक और बहुत ध्यान देकर सुने (Of all Eastern schoolars, it was this youth whose lectures of Jain Faith and Conduct were listened to with the greatest interest and attention) । धर्म सम्मेलन के समापन पर उसे 'रजत पदक' से भी सम्मानित किया गया। इस सम्मेलन के बाद

उसने कुछ वर्ष वहीं रुक कर विभिन्न स्थानों पर व्याख्यान दिए, शाकाहार का प्रचार किया और लोगों को जैन धर्म में दीक्षित किया। उसके अमरीकी शिष्यों ने फ्रांसिसी और अंग्रेजी में जैन धर्म पर पुस्तकें लिख कर अपने गुरु को गौरवान्वित किया। अमरीका की यात्रा करने वाला वह पहला गुजराती था। उसका नाम था वीरचंद राघवजी गाँधी।

वे महुवा (गुजरात) के प्रसिद्ध व्यापारी राघवजी तेजपालजी गाँधी के इकलौते पुत्र थे। अगस्त का महीना उनकी जन्मतिथि (२५ अगस्त १८६४) का भी साक्षी है और निधन तिथि (७ अगस्त १९०१) का भी। बम्बई विश्वविद्यालय से उन्होंने बी.ए. और कानून की परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। उक्त सम्मेलन के लिए वस्तुतः आचार्य विजयानन्द सूरि (आचार्य आत्माराम) को आमंत्रित किया गया था; पर जैन आचार्य समुद्र यात्रा नहीं करते, अतः उन्होंने वीरचंद गाँधी को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा।

सन्यासी स्वामी विवेकानन्द और गृहस्थ वीरचंद गाँधी के यदि वेशभूषागत अंतर को छोड़ दें, तो उनमें अनेक समानताएँ दिखाई देती हैं। जब वे इस सम्मेलन में भाग लेने अमरीका गए तब दोनों युवा थे और समवयस्क थे। स्वामी विवेकानन्द ३० वर्ष ८ महीने और वीरचंद गाँधी २९ वर्ष के हो गए थे। बाद में दुर्भाग्य से दोनों ही अल्पजीवी हुए। स्वामी विवेकानन्द का ३९ वर्ष और वीरचंद गाँधी का ३७ वर्ष की आयु में स्वर्गवास हो गया। दोनों ने ही अपने व्याख्यानों के माध्यम से अमरीकावासियों को भारतीय संस्कृति से परिचित कराया। दोनों ही सम्मेलन के उपरान्त कुछ वर्ष अमरीका में और फिर यूरोप में अपनी रुचि के विषयों पर व्याख्यान देते रहे और दोनों को सर्वत्र भरपूर सम्मान मिला। दोनों के ही वहाँ अनेक अनुयायी बनें। दोनों बहुभाषाविद थे। स्वामी विवेकानन्द मातृभाषा बांग्ला के अतिरिक्त अंग्रेजी, संस्कृत और हिंदी के ज्ञाता थे तो वीरचंद गाँधी देशी-विदेशी १४ भाषाओं के केवल ज्ञाता ही नहीं थे, बल्कि इनमें धाराप्रवाह वार्तालाप भी करते थे। दोनों ने ईसाई पंथ से संबन्धित पुस्तकों का अनुवाद करने के लिए अनुवादक की भूमिका भी निभाई। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी प्रिय पुस्तक "Imitation of Christ" के कुछ अंश का अंग्रेजी से बांग्ला में अनुवाद किया (ज्ञातव्य है कि देशाटन के लिए मठ से चलते समय स्वामी जी ने उक्त

पुस्तक एवं गीता, दो ही पुस्तकें अपने साथ रखीं) तो वीरचंद गाँधी ने फ्रांसीसी भाषा से अंग्रेजी में एक ऐसी पुस्तक का अनुवाद किया जो ईसा मसीह के जीवन के 'अज्ञात' वर्षों से सम्बन्धित है। वस्तुतः रूसी यात्री निकोलस नोतोविच को १८९० में ल्हासा (तिब्बत) के 'हेमिस' बौद्ध मठ में ताड़पत्र पर लिखा एक ग्रन्थ मिला जिसके आधार पर उसने फ्रांसीसी भाषा में *La vie inconnue de Jesus Christ* शीर्षक से एक पुस्तक की रचना १८९४ में की। उसी का अंग्रेजी में अनुवाद "The Unknown Life of Jesus Christ" वीरचंद गाँधी ने किया। बाइबिल में ईसा की जो जीवनी दी हुई है उसमें १४ वर्ष की आयु से लेकर २९ वर्ष तक का कोई विवरण नहीं मिलता। इस पुस्तक से यह पहली बार पता चला कि इन वर्षों में वे वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म का अध्ययन करने भारत आए थे। बाद में, जब किसी प्रकार सूली से बच गए तब अपने जीवन के अंतिम वर्षों में वे पुनः भारत आए, यहीं रहे, यहीं उन्होंने अपने प्राण त्यागे, इसीलिए यहाँ उनकी समाधि बनी हुई है।

वीरचंद गाँधी ने अमरीका के शिकागो, बोस्टन, न्यूयार्क आदि विभिन्न नगरों में और फिर इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि यूरोपीय देशों में भी लगभग साढ़े पांच सौ व्याख्यान दिए। हर स्थान पर उनका भव्य स्वागत किया गया और अनेक स्थानों पर विभिन्न साहित्यिक और धार्मिक संगठनों ने "मैडल" देकर सम्मानित किया। उनका अध्ययन बहुत विशद था। वे केवल जैन धर्म के ही नहीं, भारत एवं विश्व के विभिन्न धर्मों के मार्मिक ज्ञाता थे। अतः उनके व्याख्यानों में सभी धर्मों की चर्चा तुलनात्मक रूप से होती थी। सभी धर्मों के मूल स्रोत के रूप में भारतीय संस्कृति ने विभिन्न धर्मों को जिस प्रकार अनुप्राणित किया है, साथ ही देश-काल की आवश्यकताओं के अनुरूप उनमें जो अंतर आए हैं, श्री गाँधी उनकी विवेचना इस प्रकार करते थे कि भारत का सम्मान बढ़े और धार्मिक समन्वय का पथ प्रशस्त हो।

वीरचंद गाँधी केवल धर्म प्रचारक नहीं, समाज सुधारक और आर्थिक विचारक भी थे। यही कारण है कि धर्मप्रचार की दृष्टि से जहाँ उन्होंने पूर्व के दर्शनों के अध्ययनार्थ लंदन में School of Oriental Philosophy और Jain Literature Society की स्थापना की, वहीं समाज सुधार की दृष्टि से

स्त्रियों की शिक्षा के लिए Society for the Education of Women in India की भी स्थापना की जिसके माध्यम से अनेक भारतीय महिलाओं के उच्च अध्ययन की व्यवस्था की गई। सामाजिक समस्याओं के प्रति उनकी जागरूकता-संवेदनशीलता के दो उदाहरण देखिए। पहला है वर्तमान झारखण्ड राज्य में स्थित जैन समाज के प्रसिद्ध तीर्थस्थल 'सम्मेदशिखर' से संबन्धित। ऐसी मान्यता है कि २४ में से २० तीर्थंकरों ने यहीं निर्वाण प्राप्त किया। ऐसे पवित्र स्थान के निकट वर्ष १८९१ में एक अंगरेज ने कसाईखाना खोल लिया और उसके साथ सुअर का बाड़ा भी बना लिया। वीरचंद गाँधी देश की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता (वर्तमान कोलकाता) गए। अंगरेज सरकार से इसके लिए संघर्ष किया और इसे वहाँ से हटवा कर ही दम लिया। दूसरा उदाहरण भारत में १८९६-१८९७ में पड़े भयंकर अकाल से सम्बन्धित है। वे उन दिनों अमरीका में थे। उन्हें जब इसकी सूचना मिली तो वे व्यथित हो गए। अमरीका में व्याख्यान देकर उन्हें जो धन मिला था, उन्होंने वह सारा धन दुर्भिक्षपीड़ितों के कष्ट निवारण में लगाने का निश्चय कर लिया। उन्होंने तुरन्त अनाज से भरकर एक जहाज और चालीस हजार रुपये भारत भेजे।

उन्होंने प्राचीन भारतीय सभ्यता, योग दर्शन, समाधि, शाकाहार आदि पर तो प्रभावशाली व्याख्यान दिए ही, साथ ही आर्थिक विचारक के रूप में अंतर-राष्ट्रीय व्यापार, भारत की आर्थिक और औद्योगिक स्थिति जैसे विषयों पर भी व्याख्यान दिए। इसी कारण उन्हें बाद में वित्तीय विषयों पर आयोजित अनेक अंतर-राष्ट्रीय सम्मेलनों में भी भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया। जार निकोलस द्वितीय के प्रयासों से जब हेग (नीदरलैण्ड) में वर्ष १८९९ में International conference of commerce आयोजित की गई, तो वे उसमें भारत के एकमात्र प्रतिनिधि थे। इस सम्मेलन में उन्होंने भारत और अमरीका के बीच व्यापार संबन्धों पर व्याख्यान दिया था।

स्वामी विवेकानंद ने १८९४ में अमरीका से जूनागढ़ के दीवान को लिखे अपने एक पत्र में इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया कि अमरीका की अत्यंत ठण्ड के बावजूद वीरचंद गाँधी न शराब पीते हैं न माँस खाते हैं फिर भी न जाने कैसे स्वस्थ हैं और अपने व्याख्यानों से देश एवं धर्म की सेवा कर रहे हैं।

बीसवीं शताब्दी शुरू होते ही एक वर्ष के अंतराल पर दोनों महापुरुषों का निधन हो गया। तब अमरीका की एक पत्रिका में इन्हें श्रद्धांजलि देते हुए लिखा कि विवेकानंद के अनुयायियों ने तो विभिन्न संगठन बनाकर उनकी स्मृति को जीवित रखा है, पर यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि वीरचंद गाँधी की स्मृति को सुरक्षित रखने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि वीरचंद गाँधी जैसे मेधावी धर्म प्रचारक और समाज सुधारक देशभक्त की उपेक्षा करने के पीछे हमारे दकियानूसी विचार, देश के बजाय अपने संप्रदाय/उप-संप्रदाय को सर्वोपरि मानने की प्रवृत्ति और आपसी ईर्ष्या जैसे कारण प्रमुख थे। एक वास्तविकता यह भी है कि उस समय जैसी जागृति बंगाल में आ चुकी थी, वैसी गुजरात में नहीं आ पाई थी। कट्टरपंथी लोग तो समुद्र यात्रा के ही विरुद्ध थे। अतः कट्टरपंथियों ने तो उस समय भी वीरचंद गाँधी की उपलब्धियों पर गर्व करने के बजाय उनकी निंदा की। स्वामी विवेकानंद के जिस पत्र का ऊपर उल्लेख किया गया है उसमें उन्होंने भी इस बात पर दुःख व्यक्त किया है कि वीरचंद गाँधी तो यहाँ देश और धर्म की सेवा कर रहे हैं, पर अपने ही देश में उनके प्रति दुर्व्यवहार किया जा रहा है। उस समय कूपमंडूक लोगों ने ऐसी निंदा स्वामी विवेकानंद की भी की थी, पर एक तो स्वामी जी के अधिकांश अनुयायी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोग थे जिनके विचारों में आधुनिकता का समावेश हो चुका था। उन पर इस निंदा का कोई प्रभाव नहीं हुआ। दूसरे, स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए जो प्रयास किए, उनके कारण वे स्वयं भी अमर हो गए, जबकि वीरचंद गाँधी ने ऐसा कोई प्रयास न तो स्वयं किया और न उनके अनुयायियों/प्रशंसकों ने किया।

देश स्वतंत्र होने के बाद जब कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया तब तक बहुत देर हो चुकी थी। काफी समय तक अनेक लोग महात्मा गाँधी को ही वीरचंद गाँधी समझते रहे। अमरीका की एक महिला ने तो इसी आशय का पत्र भी गाँधी जी को लिख दिया। प्रसिद्ध अमरीकी लेखक मार्क ट्वेन जब भारत आए तो वीरचंद गाँधी के मेहमान बने, पर बाद के कुछ लेखकों ने उन्हें भ्रमवश महात्मा गाँधी का मेहमान बता दिया। शोधकर्ताओं का कहना है कि अनेक तथ्य अब नष्ट हो गए और अब लगभग दस प्रतिशत तथ्य ही

उपलब्ध हो पाए हैं। वीरचंद गाँधी के परिवार के लोगों के पास या अन्यत्र जो सामग्री सुरक्षित मिल सकी, वह इकट्ठी करके सबसे पहले १९६४ में एक संग्रहालय बनाया गया। उनके कुछ व्याख्यानों का एक संग्रह भी अंग्रेजी में इसी वर्ष प्रकाशित किया गया। बाद में, वर्ष १९९० में महुआ (भारत) और शिकागो (अमरीका) में उनकी मूर्ति स्थापित की गई। *Gandhi Before Gandhi* नाम से एक नाटक लिखा गया जिसकी विश्व में विभिन्न स्थानों पर २०० से अधिक प्रस्तुतियाँ की गई और डॉ. बिपिन दोशी एवं प्रीति शाह ने इसी शीर्षक से एक पुस्तक लिखी जिसे जैन अकेडेमी एजुकेशनल रिसर्च सेंटर प्रमोशन ट्रस्ट, मुम्बई ने २००९ में प्रकाशित किया। पुस्तक में वीरचंद गाँधी से संबन्धित आवश्यक जानकारी के साथ अमरीका/यूरोप में दिए उनके कुछ व्याख्यान भी सम्मिलित किए। भारतीय डाक विभाग ने ८ नवम्बर २००२ को उनके सम्मान में एक डाक टिकिट भी जारी किया। उधर अमरीका में भी प्रो. एलन रिचर्डसन ने अपनी पुस्तक *Strangers in this Land* (1988) में शिकागो धर्म सम्मेलन की और उसमें वीरचंद गाँधी के योगदान की चर्चा की। बाद में उन्होंने नई सामग्री के आलोक में अपनी पुस्तक के नए संस्करण *Strangers in this Land: Religion, Pluralism and the American Dream* (2010) में कुछ और सामग्री दी है।

जो लोग देश का गौरव बढ़ाते हैं, वे हमारे लिए अनुकरणीय आदर्श होते हैं और सम्मान के पात्र होते हैं। उनकी उपेक्षा करना अपने पैरों कुल्हाड़ी मारना है। जब विश्व के ताकतवर लोग इस देश के निवासियों को जंगली-असभ्य-अज्ञानी बताकर अपमानित कर रहे थे, उस समय जिन महापुरुषों ने इस देश के सम्बन्ध में विदेशियों के अज्ञान को दूर करके देश की छवि उज्ज्वल करने का प्रयास किया, उन्हें सम्मानपूर्वक याद करना और उनकी स्मृति के दीप सतत प्रज्वलित रखना हमारा पुनीत कर्तव्य है।

सदस्य- हिन्दी सलाहकार समिति, वित्त मंत्रालय, भारत सरकार,

- पी/१३८, एम. आई. जी.,

पल्लवपुरम-२, मेरठ-२५०११०

(साभार : गर्भनाल पत्रिका से)

पुस्तक-समीक्षा

(१) बुन्देली भक्तामर स्तोत्र

रचनाकार : कवि कैलाश मड़बैया

प्रकाशक : मनीष प्रकाशन, ७५, चित्रगुप्त नगर, कोटरा, भोपाल (म.प्र.)

प्रथम संस्करण : २०१३, प्रतियाँ १०००, मूल्य : एक सौ एक रुपया।

बुन्देली भाषा के सिद्ध कवि मड़बैया जी ने भक्तामर स्तोत्र के प्रत्येक पद्य का जो बुन्देली रूपान्तरण किया है वह बुन्देली के सहज, सटीक शब्दों से अनुस्यूत है। वस्तुतः यह उनका भावानुवाद है अतः बुन्देली शब्द स्वतः भावानुकूल निकलते गये जिससे पद्यानुवाद स्वाभाविक व मधुर बन गया है। विशेष यह कि स्वयं रचनाकार - सपरिवार मानसरोवर झील के ऊपर कैलाश पर्वत पर स्थित अष्टापद पर पहुँचकर ०१ जून २०१३ में इसे समर्पित किया। अंग्रेजी, हिन्दी सहित ४ भाषाओं में सचित्र प्रकाशित उक्त बुन्देली भक्तामर का, २५ जून २०१३ को भारत भवन, भोपाल में भारत के गृहमंत्री श्री सुशील शिन्डे तथा मध्यप्रदेश के माननीय राज्यपाल आदि के करकमलों से भव्य लोकार्पण समारोह सम्पन्न हुआ।

(२) नैतिक बोध कथाएँ

लेखक : प्राचार्य पं. निहालचन्द जैन प्रकाशक : गजेन्द्र ग्रन्थमाला, नई दिल्ली।

प्रथम संस्करण : २०१३ सितम्बर, प्रतियाँ १०००, मूल्य : ८०/- रु.

“सौ बोध कथाओं” के तृतीय संस्करण के साथ ही “नैतिक बोध कथाएँ” (७२ बोध कथाओं का संग्रह) का गजेन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशन हुआ जो पर्यूषण पर्व (अनंत चतुर्दशी) २०१३ के पुनीत अवसर पर रामलीला मेला ग्राउन्ड, दिल्ली पर बने एक भव्य पाण्डाल में आर्यिका रत्न मुक्ति लक्ष्मी जी के करकमलों से इसका लोकार्पण संपन्न हुआ और उसी समय इसकी लगभग ४०० प्रतियाँ सुधी पाठकों द्वारा क्रय कर ली गयीं। कृति के प्रणयन का उद्देश्य वर्तमान पीढ़ी को संस्कार और नैतिक-धर्म का संदेश इसमें वर्णित मर्मबोध कथाओं के माध्यम से पहुँचाना है। ये बोधकथाएँ हमारी सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखती हैं। कृति का भाषा प्रवाह सरल और सुबोध है। पुस्तक संग्रहणीय है।

समीक्षाकार - रमेश जैन, नवभारत टाइम्स,
नई दिल्ली

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANT

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

निदेशक वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली
(प्रा. निहालचंद जैन, बीना)
प्रो. राजाराम जैन, नोएडा
प्रो. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ

Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi
(Pracharya Nihal Chand Jain- Bina)
Prof. Rajaram Jain, Noida
Prof. Vrashabh Prasad Jain, Lucknow

श्रीरूपचन्दकटारिया, नई दिल्ली

Pracharya Shreechandra Jain, Jaipur

प्रो. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौता
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. Shreyans Kumar. Jain, Baraut
Prof. M.L. Jain, New Delhi

श्रीरूपचन्दकटारिया, नई दिल्ली

Sh.RoopchandKataria, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue-Rs.20/- Yearly-Rs.80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं। सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

आध्यात्मिक भजन

क्यों ना ध्यान लगाये वीर से बावरिया।
जाना देश पराये झमेला दो दिन का॥ टेक

जीवन तेरा है इक सपना, इस दुनिया में कोई न अपना
हंस अकेला जाए॥ क्यों ना

माता पिता चाची व ताई, पिता पुत्र और भाई जंवाई
मतलब से प्रीति लगाए॥ क्यों ना.....

जो हैं तुझ को सबसे प्यारे, मृतक देख वे होंगे न्यारे
कोई संग न जाए॥ क्यों ना.....

जिस तन को तू रोज सजावे, आखिर मिट्टी में मिल जाए
फिर पीछे पछताए॥ क्यों ना.....

जिस माया पर तू इतराये, आखिर में कछु काम न आये।
यहीं पड़ा रह जाए॥ क्यों ना.....

धर्म ही आखिर काम में आए, हर दम तेरा साथ निभाए।
“त्रिलोकी” यही समझाए॥ क्यों न.....

- कविवर त्रिलोकी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
आध्यात्मिक भजन		03
१. वर्तमान में श्रमणचर्या की विसंगतियाँ एवं निदान (सम्पादकीय लेख)	- डॉ. जयकुमार जैन	05-12
२. आप्तमीमांसाभाष्यम् : भु अकलङ्कदेव की एक महत्त्वपूर्ण कृति	- डॉ. गोकुलचन्द्र जैन	13-15
३. भारतीय कला जगत में भित्ति चित्रण और लघु चित्रण की भूमिका	- अस्मिता चौधरी	16-20
4. Jains' Contribution to Indian Culture and Society	- Prof. Prakash C. Jain	21-27
5- प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं अर्धमागधी भाषा : एक अध्ययन	- पद्म मुनि	28-33
६. सल्लेखना, समाधिमरण व भगवती		
९. आराधना के तत्संबन्धित	- डॉ. वृषभ प्रसाद जैन	34-42
७. लब्धि स्वरूप एवं विश्लेषण	- डॉ. निर्मला जैन	43-47
8. पुरुषार्थसिद्धि का स्वरूप और उपाय	- प्रा. निहालचंद जैन	48-53
९. आचार्य समंतभद्र का आप्तमीमांसा	- प्रो. श्रीयांसकुमार सिंघई	54-79
१०. आचार्य समन्तभद्र का सर्वोदय तीर्थ	- डॉ. सुशील जैन, मैनुपुरी	80-88
११. श्रद्धांजलि- श्रीमती दर्शनमाला जैन		89
१२. बधाई/अभिनंदन : डॉ. जयकुमार जैन		90
१३. प्रतिवेदन - व्याख्यानमाला		91-93
१४. पुस्तक समीक्षा एवं पाठकों के पत्र		94-96

वर्तमान में श्रमणचर्या की विसंगतियाँ एवं निदान

- डॉ. जयकुमार जैन

श्रम को सर्वातिशयित महत्त्व प्रदान करने के कारण जैन साधु को श्रमण संज्ञा है। चर्या शब्द चर् धातु से यत् प्रत्यय और स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय से निष्पन्न रूप है, जिसके अनेक अर्थ हैं - आहार, विहार, व्यवहार, व्रत, आचरण आदि। श्रमणचर्या श्रमण की व्यवस्थिति में मेरुदण्ड के समान मानी गई है।

श्री बट्टकेराचार्य द्वारा प्रणीत मूलाचार श्रमणचर्या का विवेचक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ग्रन्थकार ने प्रारंभ में ही मूलगुणों में विशुद्ध सभी सयंतों को नमस्कार करके पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, षड् आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन एवं एकभक्त ये २८ मूलगुण कहे हैं।^१ मूल जड़ को कहते हैं। जैसे जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति संभव नहीं है, वैसे ही इन मूलगुणों के बिना श्रमण की स्थिति संभव नहीं है। यदि कोई श्रमण मूलगुणों को धारण किये बिना उत्तरगुणों का या अन्य चर्या का पालन करता है तो उसकी स्थिति वैसी ही कही गई है, जैसी कि उस व्यक्ति की जो अपनी अंगुलियों की रक्षा के लिए मस्तक को काट देता है। उपर्युक्त २८ मूलगुणों में लोच से एकभक्त तक सात मूलगुण साधु/श्रमण के बाह्य चिन्ह हैं। मूलगुणों के फल का प्रतिपादन करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि इन मूलगुणों को विधिपूर्वक मन-वचन-काय से पालन करके मनुष्य जगत् में पूज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।^२

(१) आहारचर्या : औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीनों शरीरों और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते हैं।^३ श्री बट्टकेराचार्य ने मूलाचार के पिण्डशुद्धि नामक अधिकार में आहारचर्या तथा उसकी शुद्धि का विस्तृत विवेचन किया है। आहार के छ्यालिस दोषों का विवेचन करते हुए उन्होंने धर्म के आचरण के लिए छह कारणों से आहार

के ग्रहण और छह कारणों से आहार के त्याग का विवेचन किया है। आहार ग्रहण के छह कारण हैं -

१. वेदना शमन, २. वैयावृत्ति, ३. क्रियासम्पन्नता, ४. संयम, ५. प्राणों की चिन्ता तथा ६. धर्म की चिन्ता। इसी प्रकार आहार त्याग के छह कारण हैं - १. आतंक उपस्थिति, २. उपसर्ग, ३. ब्रह्मचर्य-रक्षा, ४. प्राणि-दया, ५. तप और ६. संन्यास। वहाँ कहा गया है कि श्रमण बल, आयु, स्वाद, शरीरपुष्टि या तेज के लिए आहार ग्रहण न करें, अपितु ज्ञान, संयम एवं ध्यान के लिए आहार ग्रहण करें।^{१५} आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि जो साधु भोजन में अति आसक्ति रखते हैं, प्रमादी होते हैं, वे तिर्यच योनि/ पशु-तुल्य होते हैं। ऐसे साधुओं से गृहस्थ श्रेष्ठ होते हैं। जो साधु आहार के लिए दौड़ता है, आहार के लिए कलह कर आहार ग्रहण करता है, उसके लिए अन्य से परस्पर ईर्ष्या करता है, वह जिन श्रमण नहीं है। जो बिना दिया आहार आदि लेता है, वह श्रमण चोर के समान है।^{१६}

श्रमण प्रासुक भोजन ही ग्रहण करते हैं। यदि प्रासुक भोजन भी अपने लिए बना हो तो वह भाव से अशुद्ध ही समझना चाहिए। श्रमण को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं बल को जानकर जिनमतोक्त एषणा समिति का पालन करना चाहिए। श्रमण उदर का आधा भाग भोजन से, तीसरा भाग जल से भरे और चौथा भाग वायु के संचरण के लिए खाली रखे।

(२) विहारशुद्धि का विधान करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि परिग्रहरतिनिरपेक्ष स्वच्छन्दचारी साधु वायु के समान नगर, वन आदि से युक्त पृथिवी पर उद्विग्न न होकर भ्रमण करता रहे। पृथिवी पर विहार करते हुए वह किसी को पीड़ा नहीं पहुँचावे। जीवों के प्रति उसी प्रकार दयाभाव रखे, जिस प्रकार माता पुत्रों पर दया रखती हैं।^{१७} शिवार्य ने भगवती आराधना में कहा है कि अनेक देशों में विहार करने से क्षुधा भावना, चर्या भावना आदि का पालन होता है। अनेक देशों में मुनियों के भिन्न-२ आचार का पालन होता है तथा विभिन्न भाषाओं में जीवादि पदार्थों के प्रतिपादन का चातुर्य प्राप्त होता है।^{१८} विहारकाल में मुनि के विशुद्ध परिणामों का कथन करते हुए श्री बट्टकेराचार्य ने कहा है कि वे उपशान्त, दैन्य से रहित, उपेक्षा भाव वाले, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, मूर्खता रहित और कामभोगों में विस्मयरहित

होते हैं।^{११} यत्नाचारपूर्वक श्रमण को योग्य क्षेत्र में तथा योग्य मार्ग में विहार करना चाहिए। बैलगाड़ी, अन्य वाहन, पालकी, रथ अथवा ऐसे ही अनेक वाहन जिस मार्ग से अनेक बार गमन कर जाते हैं, वह मार्ग प्रासुक है। हाथी, घोड़े, गधा, ऊँट, गाय, भैंस, बकरी या भेड़ें जिस मार्ग से अनेक बार चलते हैं, वह मार्ग प्रासुक हो जाता है। जिस मार्ग पर स्त्री-पुरुष चलते रहते हैं, जो आतप आदि से तप्त हो चुका है तथा जो शस्त्रों से क्षुण्ण हो गया है, वह मार्ग प्रासुक हो जाता है।^{१२}

एकाकी विहार की स्थिति - मूलाचार में एकाकी विहार का निषेध करते हुए कहा गया है कि “गमन, आगमन, शयन, आसन, वस्तुग्रहण, आहारग्रहण, भाषण, मलमूत्रादि विसर्जन इन कार्यों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाला कोई भी श्रमण मेरा शत्रु भी हो तो भी एकाकी विहार न करे।^{१३} आज श्रमणों में अपने दोष प्रकट होने के भय से अन्य संघ के श्रमणों के साथ रहने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है तथा वे अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए एकाकी विहार कर रहे हैं। भगवती आराधना में ऐसे श्रमणों को यथाच्छन्द नामक पापश्रमण कहा है।^{१४} मूलाचार में साधु के विहार के संबन्ध में कहा गया है कि गुरु से पूछकर उनसे आज्ञा लेकर मुनि अपने सहित चार, तीन या दो साथियों के साथ विहार करे।^{१५} अर्थात् कम से कम दो पिच्छीधारी संघ से आज्ञा पाकर जाते हैं, एकाकी श्रमण नहीं जाता है।

एकाकी की पंचमकाल में अनुमति नहीं है। आचारसार में कहा गया है कि जो मुनि बहुकाल से दीक्षित है, ज्ञान, संहनन और भावना से बलवान् है, वह एकल विहारी हो सकता है। आचार्य वसुनन्दिकृत मूलाचारवृत्ति में कहा गया है कि जो तपों की आराधना करते हैं, चौदह पूर्वों के ज्ञाता हैं, काल-क्षेत्र के अनुकूल आगम के जानकार हैं एवं प्रायश्चित्तशास्त्र के ज्ञाता हैं। जो किसी उत्तम संहनन के धारक हैं, क्षुधादि बाधाओं को सहन करने में समर्थ हैं, ऐसे श्रमण एकल विहार कर सकते हैं।^{१६} अन्य साधारण मुनियों को, विशेष रूप से हीन संहनन वाले इस पंचम काल में एकाकी विहार का विधान नहीं है।

एकत्रसंस्थिति या अनियतविहार की स्थिति- वर्षाकाल या अन्य विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त श्रमण को सदा ही विहार करते रहने का

विधान है। आज जब श्रमणों में मठाधीशपने की प्रवृत्ति पनप रही हो तथा अनियत विहार की प्रवृत्ति का अभाव सा होता जा रहा हो तब श्रमणाचार विषयक शास्त्रों के स्वाध्याय की श्रमण एवं श्रावक दोनों को अत्यन्त आवश्यकता है। इसके बिना इस विसंगति का निदान कथमपि संभव नहीं है। मूलाचार में कहा गया है कि अपरिग्रही मुनि को बिना किसी भी अपेक्षा के हवा की भांति लघुभूत होकर मुक्तभाव से ग्राम, नगर, वन, आदि से युक्त पृथिवी पर समान रूप से विचरण करना चाहिए।^{१८}

आचारवृत्ति में कहा गया है कि अनियतवास का नाम विहार है। सम्यग्दर्शन आदि को निर्मल करने के लिए सर्वदेश में विहार करना विहारशुद्धि है।^{१९} भगवती आराधना में अनियत विहार के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अनेक देशों में विहार करने से क्षुधा भावना, चर्याभावना का पालन तो होता ही है, उन अनियतविहारी चारित्रधारी मुनियों को देखकर अन्य मुनि भी चारित्र एवं योग के धारक तथा सम्यक् लेश्या वाले बन जाते हैं। इस प्रकार अनियतविहार के अनेक लाभों की चर्चा श्रमणाचार विषयक ग्रन्थों में की गई है।

(३) व्यवहार : श्रमणों के व्यवहार में वर्तमान में अनेक विसंगतियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। श्रमण शिष्यलोलुपता के कारण अयोग्यों को दीक्षा दे रहे हैं तथा नवदीक्षित शिष्य आचार्य के अनुशासन का निरादर करते हुए स्वयं आचार्य/ उपाध्याय बनने की मैराथन दौड़ में लग रहे हैं। ऐसे श्रमणों को मूलाचार में स्पष्टतया कहा गया है कि जो पहले शिष्यत्व न करके आचार्य होने की जल्दी करता है, वह ढोंढाचार्य है। वह मदोन्मत्त हाथी के समान निरंकुश भ्रमण करता है।^{२०} समाज को चाहिए कि साधुओं का संकेत होने पर भी आचार्य के द्वारा पदरोहण न किये जाने पर उन्हें आचार्य/ उपाध्याय सदृश पद न दे तथा उन्हें साधु परमेष्ठी के रूप में ही मोक्षमार्ग प्रशस्त करने दे। क्योंकि पद मोक्षमार्ग में साधक नहीं, अपितु बाधक ही हैं। आचार्य परमेष्ठी भी आजकल अन्य संघीय साधुओं को खूब उपाध्याय, ऐलाचार्य या आचार्य पद प्रासादिक मिष्टान्न की तरह वितरित कर रहे हैं। उन्हें भी यह सोचने की आवश्यकता है कि कहीं वे उनके मधुमेह को

अनियन्त्रित तो नहीं रहे हैं। जो मुनि आगम को न जानते हुए आचार्यपने को प्राप्त हो जाता है, वह अपने को नष्ट करके पुनः अन्यो को भी नष्ट कर देता है।^{२९}

आज यदि हम कतिपय श्रमणों के व्यावहारिक पक्ष पर गंभीरता से विचार करते हैं तो हमें निम्नलिखित कतिपय विसंगतियाँ दृष्टिगत होती हैं, जिनका उल्लेख हम केवल इस पवित्र भावना से करना चाहते हैं कि श्रमण एवं श्रावक मिलकर एक ऐसा प्रयास करें कि दोनों अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए मोक्षमार्ग को प्रशस्त बना सकें।

१. संघ में संचालिकाओं एवं ब्रह्मचारिणी बहनों की गहरी पैठ और उसके कारण संघ में पनपा शिथिलाचार या बढ़ते मिथ्या आरोप, जिसके कारण जैन एवं जैनेतर समाज में हो रही जैनों की गर्हा।

२. मुनि एवं आर्यिकाओं की एक भवन में सहस्थिति तथा इसके कारण साधु संस्था पर लगने वाले शिथिलाचार ही नहीं, अनाचार तक के आरोप।

३. साधु संस्थाओं द्वारा स्वनिर्मित योजनाओं के लिए स्वयं धनसंचय, हिसाब-किताब रखना तथा उनकी एक सद्गृहस्थ की मर्यादा से भी हीन स्थिति।

४. संघ में लौकिक साधन टी. वी., कूलर, सेलफोन, ए.सी., लेपटॉप आदि का बढ़ता उपयोग तथा उन्हें उपकरण दान मानकर समाज को उपदेश।

५. अपने नाम पर भक्तों का संगठन खड़ाकर श्रावकों को विभक्त बनाना तथा उनसे या उनके माध्यम से प्रभावित कराके पद पाना या तरह-तरह की लौकिक उपाधियों को प्राप्त करना।

६. मोक्षमार्ग का उपदेश न देकर भीड़ के रुख के अनुसार हास्योत्पादक विकथाओं का कथन तथा भीड़ से लोकप्रियता का बखान।

७. बड़े-बड़े नेताओं (मांसाहारी एवं दुष्कर्मों तक) को धर्मसभाओं में बुलवाकर दैनिक आवश्यकों की परिहानि तथा नेताओं के माध्यम से शस्त्रधारी अंगरक्षकों की प्राप्ति।

८. लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग। उक्त या उक्त प्रकार के अनेक विसंगतियाँ समय-समय पर सुनने, परिचय करने या अनुभव करने में आती हैं, तथापि इन्हें सार्वश्रामणिक नहीं माना जा सकता है। आज भी अनेक श्रमण अट्ठाईस मूलगुणों को निरतिचार पालक है। हम कतिपय साधुओं की साधुचर्या पर कोई टिप्पणी करके अघोषित आतंक के शिकार नहीं बनना चाहते हैं और न ही अनधिकारी कहलाकर धोबी का पत्थर बनकर भक्तों की ताड़ना ही सहना चाहते हैं। अतः कुछ जिज्ञासार्थें मात्र सुधी श्रावकों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं। वे स्वयं चिन्तन करें।

पाँच समितियों का मनसा-वाचा-कर्मणा पालन करने वाला साधु क्या अपने भक्तों द्वारा चातुर्मास की स्थापना के लिए संख्याबल या शक्तिप्रदर्शन को आधार बना सकता है ?

क्या योजना आयोग की तरह कोई साधु अपने घोषित कार्यक्रमों की परिपूर्ति न देखकर स्वयं को एक नगर से कुछ ही समय में ईर्या समिति का पालन न करते हुए अन्य नगर में स्थानान्तरित कर सकता है ?

क्या एक दिन में औसतन तीस-पैंतीस किलोमीटर चलकर चार हाथ भूमि देखते हुए विहार में विहित ईर्या समिति को पाला जा सकता है ?

‘दिशाबोध’ मासिक पत्रिका (अक्टूबर २००७) में ‘अन्जामें गुलिस्ता क्या होगा ?’, कहकर श्री चिरंजीलाल बगड़ा ने अनेक प्रश्न उठाये हैं। उनमें एक प्रश्न उठाकर मैं कतिपय साधुओं या किसी साधु के इन्द्रिय निरोध मूलगुण की ओर इशारा करना चाहता हूँ। “विचारणीय है कि पाँच इन्द्रियों के विषयों का निग्रह करने वाला सन्त क्या सेंट या ईतर का प्रयोग कर सकता है ? क्या मधुर संगीत की रागिनी का दीवाना होना उसके लिए उचित है ? क्या चाटुकारों की भीड़ इकट्ठी कर कविसम्मेलनों में एक मुनि का बैठना उचित है ? क्या मात्र रसना इन्द्रिय का निग्रह ही एकमात्र साधना है ?” दिशाबोध की उक्त टिप्पणी बहुत कुछ कहती है। विचार करें।

साधुओं के द्वारा निजी स्वार्थों या श्रावकों को आकर्षित करने के लिए मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग अविचारित रम्य हो सकता है।

इस विषय में श्री सुरेश जैन ‘सरल’ के कथन को मात्र उद्धृत करके मैं अधिक कुछ नहीं कहना चाहता हूँ। वे लिखते हैं कि “किसी जैन

साधु को तन्त्र-मन्त्र की सेना के साथ देखें तो विश्वास करलें कि उन्हें जैनागम का ठोस ज्ञान नहीं है। फलतः भटकन की चर्या में जी रहे हैं। उनके पास दो-दो चार-चार श्रावकों के समूह में जावें और कर्म सिद्धान्त का अध्ययन करने को मनावें। जो मान जावें, उनमें परिवर्तन की प्रतीक्षा करें और जो न मानें, उन्हें धर्म की दुकान चलाने वाला व्यापारी मानें। ऐसा व्यापारी जिसे अपने लाभ और यश की चिन्ता है, परन्तु समाज और धर्म की नहीं।”^{२३}

यद्यपि इस समय कतिपय साधुओं में आहार, विहार एवं व्यवहारगत विसंगतियाँ दावानल की तरह वृद्धिगत हो रही हैं, इनका रुकना भी असाध्य सा लग रहा है, तथापि श्रमणों की प्रवृत्ति मूलाचार, भगवती आराधना, अष्टपाहुड के स्वाध्याय के प्रति जागृत हो - ऐसा श्रावकों के द्वारा यथासंभव प्रयास किया जाना चाहिए।

श्री ऐलक सुध्यान सागर जी ने आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व एक विज्ञप्ति प्रकाशित कराई थी।^{२४} उसे श्रमणचर्या की विसंगतियों का प्राथमिक निदान मानकर उद्धृत कर रहा हूँ :-

“जितनी हमारी जैन संस्थायें हैं, उनके पदाधिकारीगण मिलकर आजकल साधुवर्ग में जो शिथिलाचार की वृद्धि हो रही है, उसको दूर करने का प्रयत्न करें तो मूलसंघातिपति प. पूज्य १०८ अजितसागर जी का आशीर्वाद तथा आदेश लेकर प्रत्येक शिथिलाचार का पोषण करने वाले आचार्य साधुओं के पास पहुँचे, उनसे शान्ति से स्पष्ट कहें कि जो जो आगमविरुद्ध क्रिया उनसे हो रही है, जैसे- एकाकी रहना, एक स्त्री साध्वी को रखना, चन्दा-चिट्ठा करना, गंडा ताबीज बेचना, बस (मोटर) वाहन रखना, संस्था बनाकर वहीं पर जम जाना, कूलर, फ्रीज, पंखा, वी.सी.आर., टेलीविजन आदि जिनागम के विरुद्ध वस्तुओं का रखना तथा उपयोग करना एवं जवान कन्याओं को साथ रखना, उनका संसर्ग करना, एकाकी साध्वी को बगल के कमरे में सोने देना इत्यादि धर्मह्वास क्रियाओं को अवश्य रोकना चाहिए। साम, दाम, दण्ड, भेद से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा रखते हुए अवश्य धर्म की संरक्षा करना चाहिए।”

संदर्भ :

१. मूलाचार, मूलगुणाधिकार, १-३
 २. 'एवं विहाणजुत्ते मूलगुणे पालिरुण तिविहेण।
होरुण जगदि पुज्जो अक्खयसोक्खं लहइ मोक्खं॥ - वही ३६
 ३. सर्वार्थसिद्धि, २/३०
 ४. मूलाचार, गाथा- ४७८-४८१
 ५. लिङ्गपाहुड, १२-१४
 ६. मूलाचार, गाथा- ४८५, ४९०-४९१
 ९. मूलाचार, गाथा ७००-८००
 १०. भगवती आराधना, १३८
 ११. मूलाचार गाथा ८०४
 १२. वही, गाथा ३०४, ३०६
 १३. 'सच्छन्दगदागदी सयणणिसयणाणादाण भिक्खवोसरणे।
सच्छन्दणंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी॥ - मूलाचार, १५०
 १४. द्रष्टव्य - भगवती आराधना १३१०-१३१२
 १५. मूलाचार, १५०
 १६. आचारसार, २७
 १७. मूलाचार, १४९ की वृत्ति
 १८. मूलाचार, ७९५
 १९. मूलाचार, ७७१ की आचारवृत्ति
 २०. भगवती आराधनपा, १४८
 २१. मूलाचार- ९६२
 २२. 'आयस्तिणमुनणायइ जो मुणि आगमं ण जाणंतो।
अप्पाणं पि विणासिय अण्णे वि पुणे विणासेई ॥ - वही, ९९५
 २३. दिशाबोध, अक्टूबर २००७, पृष्ठ २२-२३
 २४. द्रष्टव्य- अनेकान्त, अक्टूबर-दिसम्बर १९८९, पृष्ठ ३२
- (पं. पद्मचन्द्रशास्त्री द्वारा लिखित 'साधु बनना टेढ़ी खीर है' में उद्धृत)

- अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एस. डी. पी. जी. कालेज,
मुजफ्फनगर (उ.प्र.)

आप्तमीमांसाभाष्यम् : भु अकलङ्कदेव की एक महत्त्वपूर्ण कृति

• डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

भु अकलङ्क देव कृत 'आप्तमीमांसाभाष्यम्' स्वामी समन्तभद्र विरचित 'आप्तमीमांसा' एक सौ चौदह (११४) कारिकाओं पर संस्कृत गद्य में निबद्ध मध्यम परिमाण का भाष्य-टीका ग्रन्थ है। स्वामी समन्तभद्र प्राकृत जैनागम तथा आगमिक ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों को युग की आवश्यकता के अनुरूप संस्कृत में प्रतिपादित करने की परम्परा को प्रवर्तित करने वाले आचार्यों में अग्रगण्य हैं। उन्होंने अपनी कृति में प्राकृत आगमों में प्रतिपादित सिद्धान्तों की संस्कृत में दार्शनिक और प्रमाणशास्त्रीय व्याख्या करके अपने युग में तीव्रगति से हो रहे दार्शनिक चिन्तन को एक नयी दिशा दी। एकान्तवादी चिन्तन की विभिन्न विचारधाराओं को तार्किक आधार पर अस्वीकार्य बताया और वस्तु का स्वरूप अनेकान्त द्वारा प्रतिष्ठापित किया।

समन्तभद्र ने अपनी कृति 'आप्तमीमांसा' में किसी भी दर्शन का नाम नहीं लिया, तथापि जिन सिद्धान्तों की उन्होंने समीक्षा की, वे किसी न किसी दार्शनिक चिन्तनधारा में विद्यमान थे, या विकसित हो रहे थे। अकलङ्क के समय तक विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय सुनिश्चित हो गये थे और उनके सिद्धान्तों को स्पष्टतया परिभाषित करने की एक लम्बी यात्रा तय हो चुकी थी। यही कारण है कि अकलङ्क ने अपने 'आप्तमीमांसाभाष्यम्' में समन्तभद्र की समीक्षा को विभिन्न दर्शनों से स्पष्ट रूप में सम्बद्ध करके उनकी समीक्षा को और अधिक परिपुष्ट करते हुए आगे बढ़ाया।

अकलङ्क ने प्राचीन प्राकृत आगमों तथा आगमिक ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का तलस्पर्शी परीशीलन किया था। स्वामी समन्तभद्र की प्रसन्न और पैनी तार्किक दृष्टि उन्हें धरोहर के रूप में प्राप्त हुई थी। संस्कृत भाषा में उन्होंने प्रकाण्ड पाण्डित्य अर्जित किया और अपने युग तक विकसित

भारतीय दर्शनों की विभिन्न शाखाओं का सूक्ष्मता से अन्वीक्षण किया। इसके प्रतिफल उन्होंने समन्तभद्र की 'आप्तमीमांसा' को प्रौढ़ संस्कृत गद्य में आठ गुणा विस्तार देकर 'आप्तमीमांसाभाष्यम्- अष्टशती' बना दिया। आगे चलकर विद्यानन्द ने 'आप्तमीमांसा' तथा 'आप्तमीमांसाभाष्य' को समाहित करते हुए, उसे संस्कृत गद्य में आठ हजार श्लोक प्रमाण विस्तार देकर आप्तमीमांसा लङ्कतिः-अष्टसहस्री लिखी।

'आप्तमीमांसाभाष्यम्' का प्रकाशन सन् १९०५ में सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी, कलकत्ता से प्रथम बार हुआ। इसके साथ वसुनन्दि कृत 'जैनागमवृत्तिः' भी प्रकाशित हुई। इतने महत्वपूर्ण ग्रन्थ आठ दशक तक पुनः प्रकाशित नहीं हुए। स्वामी समन्तभद्र के ग्रन्थों का उनकी टीकाओं के साथ अनुसन्धान, सम्पादन और प्रकाशन की प्रायोजना के अन्तर्गत मैंने अकलङ्क कृत 'आप्तमीमांसाभाष्यम्' तथा वसुनन्दि कृत देवागमवृत्ति को अनेक ताडपत्रीय तथा कागज पर लिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों का उपयोग करते हुए सम्पादित किया। इसके साथ ही स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार कृत आप्तमीमांसा को हिन्दी-अनुवाद-व्याख्या को भी सुरक्षित करने के उद्देश्य से सम्मिलित किया। मेरा यह संस्करण सन् १९८७ में समन्तभद्र ग्रन्थावली के नाम से वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी से प्रकाशित हुआ।

सन् १९८७ के बाद इक्कसवीं शती के प्रथम दशक में 'आप्तमीमांसाभाष्यम्' तथा 'देवागमवृत्ति' को और संस्कारित और परिष्कृत करके सर्वथा नये स्वरूप में प्रकाशित किया जा रहा है। ताडपत्रों पर प्राचीन कन्नड लिपि में उकीरे गये भाष्य को ताडपत्रीय प्राचीन पाण्डुलिपियों के आधार पर वर्तमान कन्नड लिपि में संग्रथित (Restore) किया गया है तथा देवनागरी और रोमन लिपियों में रूपान्तरित किया गया है। पूर्व में देवनागरी लिपि में रूपान्तरित करके कागज पर लिखी गयीं पाण्डुलिपियों का समुचित रूप में उपयोग किया गया है। इस संस्करण में 'आप्तमीमांसाभाष्यम्' हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत है। अन्त में चार परिशिष्ट सम्मिलित किये गये हैं:- १. उद्धृत वाक्य सूची, २. आप्तमीमांसाकारिकानुक्रम, ३. आप्तमीमांसा विशिष्ट शब्दानुक्रम, ४. आप्तमीमांसाभाष्य विशिष्ट शब्दानुक्रम। 'समन्तभद्रभारती' के क्रम में 'आप्तमीमांसाभाष्यम्' का प्रकाशन मेरे वर्तमान जीवन में पचहत्तरवें

वर्ष की पूर्णता पर अकादमिक जगत् को मेरा विनम्र उपहार है। यह स्वामी समन्तभद्र के अध्ययन- अनुसन्धान की एक वृहत् योजना का अनुभाग है। इस योजना में सम्पादन, अध्ययन-अनुसन्धान से सम्बद्ध तथा अपनी प्राचीन धरोहर के संरक्षण दत्तावधान कम से कम तीन पीढ़ियों का सहभाग है, जिसका उल्लेख मैंने कृतज्ञता शीर्षक के अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से किया है। सम्पादन में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत मानक तथा प्रस्तुति में नवीनतम वैज्ञानिक तकनीक का उपयोग किया गया है। इक्कीसवीं शती में अब इससे आगे का कार्य होना चाहिए। समन्तभद्र के सभी उपलब्ध ग्रन्थ उनकी संस्कृत टीकाओं के साथ इसी क्रम में प्रकाशित होने की प्रक्रिया में है। आशा है इस उपक्रम का स्वागत होगा।

- ई-१, शालीमार पाम्स, पिपल्याहाना,
इन्दौर-४५२०१६ (म०प्र०)
पूर्व विभागाध्यक्ष एवं जैनागम विभाग,
संकायाध्यक्ष श्रमण विद्यासंकाय,
संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय कला जगत में भित्ति चित्रण और लघु चित्रण की भूमिका

• अस्मिता चौधरी (शोध छात्रा)

भारतवर्ष में ऐतिहासिक काल के उपलब्ध सबसे प्राचीन चित्र भित्ति-चित्रों के रूप में प्राप्त होते हैं। इस काल के प्राचीनतम चित्र जोगीमारा के गुहा मन्दिर में प्राप्त होते हैं। ये भित्ति चित्र सम्पूर्ण भारत में यत्र-तत्र बिखरे हुये हैं। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के प्रारंभ के साथ ही चित्रकला के स्वर्णयुग का सूत्रपात हो जाता है और छठी शताब्दी तक अपने चरम सीमा तक पहुँचता है। जोगीमारा की कृतियों में यह स्वयं सिद्ध है। इस युग की कला कालसिद्ध कला है जो भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति एवं कला की अनुपम विरासत है।

इस काल में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष में हो चुका था। धर्म के प्रचार प्रसार के लिये चित्रकला का जितना सहारा बौद्ध धर्मावलम्बियों ने लिया उतना उस युग में सम्भवतः और किसी ने नहीं लिया। जैन धर्मावलम्बियों ने भी कला के महत्व को स्वीकार किया किन्तु इनका ध्यान विशेष रूप से साहित्य रचना की ओर रहा। इन्हीं ग्रन्थों के मध्य में अच्छे चित्रों का अंकन कर उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशाली बनाया। पर इस प्रकार की न जाने कितनी पोथियाँ और चित्रपट कब और कहाँ काल के गाल में समा गये इसका आंकलन उपलब्ध नहीं, लेकिन उनकी यह उत्कृष्ट परम्परा बनी रही।

भारतवर्ष में शास्त्रीय युग की चित्रकला की विरासत भित्ति चित्रों के रूप में सुरक्षित है। इस प्रकार के भित्ति चित्र जोगीमारा, अजन्ता, बाघ, बदामी, सित्तन्नवासल, एलोरा, एलीफैन्टा, उदयगिरि, पीपलखोरा आदि गुफाओं में उपलब्ध है।

भित्तिचित्र :

शिलाखण्डों को काटकर चैत्य, विहार तथा मन्दिर आदि बनाने की परम्परा अति प्राचीन है और उन गुहा मन्दिरों पर पलस्तर लगाकर तथा चूने आदि से चिकनाकर उन पर चित्र बनाये जाते थे। इसी परम्परा के अनुरूप जोगीमारा गुहा में भी चित्रांकन हुआ है जो भारतीय भित्ति चित्रों के सबसे प्राचीन नमूने हैं। भित्ति चित्रों के अधिकांश भाग मिट गये हैं और सदियों की नमी एवं गर्मी ने उन्हें प्रभावित किया है। विद्वानों ने यहाँ की चित्रकारी को ईसापूर्व तीसरी-चौथी शती का माना है।

अजन्ता गुहा मन्दिर समूह के चार चैत्यों में से दो हीनयान और दो महायान सम्प्रदाय के हैं। इन दोनों के निर्माण काल में काफी अन्तर है। गुहा नं. ९ और १० का निर्माण काल प्रायः ईसापूर्व दूसरी और पहली सदी का सम्मिलन काल है, जबकि गुहा नं. १९ और २६ का निर्माणकाल ईस्वी सन् की पांचवी छठवीं सदी का सम्मिलन काल है। इन चारों गुहाओं को छोड़कर शेष गुहायें विहारगृह हैं। विहार भिक्षुओं का आवासगृह था। इन विहारों का निर्माण चैत्यों के अगल बगल ही विशेष रूप से हुआ है, यद्यपि शिल्प में समयानुसार बहुत अन्तर है। हीनयान काल में स्थापत्य एवं कला सादगी पूर्ण थी, जबकि महायान काल में आकर इसमें अलंकरणात्मक प्रवृत्ति बढ़ जाती है। विशाल और आकर्षक मुख भागों की रचना, नक्काशीदार खम्भे, मूर्तियों से सुशोभित दीवार की खुदाई और सुन्दर चित्रकारी महायान काल के गुहा मन्दिरों की विशेषता है। गुहा मंदिरों की दीवारों को सीधा और समतल करने के बाद उनमें छेनी से छोटे-छोटे छेद कर दिये जाते थे और सतह को खुरदुरा किया जाता था बाद में इसमें विशेष प्रकार का पलस्तर लगाकर चूने का लेप चढ़ाया जाता था। आधार तैयार होने के बाद हल्के गेरू रंग से तूलिका द्वारा रेखांकन किया जाता था। तत्पश्चात् खनिज रंगों (प्रमुखतया पीला, लाल, नीला, सफेद, काला और हरा) का प्रयोग किया जाता था। अजन्ता के भित्ति चित्रों की प्रमुख विषयवस्तु गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं तथा जातक कथाओं पर आधारित है।

बाघ के चित्र अजन्ता शैली की प्रधान परम्परा से सम्बद्ध हैं। चित्रों की

रचना शैली अजन्ता से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। शैली और रचना पद्धति की दृष्टि से बाघ के चित्र उत्कृष्ट हैं और भावधारा में महान है।

बादामी शिलागृही मन्दिर वास्तु, शिल्पकला एवं चित्रकला की बेजोड़ संगम स्थली हैं जो चालुक्य वंशीय राजाओं की अनन्य कला रूचि पर प्रकाश डालते हैं।

सित्तन्नवासल की कलाकृतियों का निर्माण पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मन तथा उनके उत्तराधिकारी पुत्र नरसिंह वर्मन द्वारा हुआ। यहाँ पल्लव कला की श्रेष्ठ कृतियाँ पायी जाती हैं, जिनमें अजन्ता की परिपक्व शैली के दर्शन होते हैं।

एलोरा में कुल ३३ शैलगृही मन्दिर हैं। इनमें से प्रारम्भिक १२ गुहा मन्दिर बौद्ध, उसके बाद १६ गुहा मन्दिर ब्राह्मण और अन्त के पांच गुहा मन्दिर जैन धर्मावलम्बियों के हैं। बौद्ध गुहाओं का निर्माण ५५० ईसवी से ७५० ईसवी तक, ब्राह्मण गुहाओं का निर्माण ६५० ईसवी से ७५० ईसवी तक और जैन गुहाओं का निर्माण ७५० से १०वीं शताब्दी का माना जाता है। ये गुहा मन्दिर भारत की प्राचीनतम धर्मनिरपेक्षता, धार्मिक सहिष्णुता और सह अस्तित्व के द्योतक हैं।

लघुचित्रण :

जैन धर्म की अनेक सचित्र पोथियाँ ११०० ईसवी से १५०० ईसवी के मध्य विशेष रूप से लिखी गई हैं। इस प्रकार की चित्रित पोथियों से भविष्य की कला शैली की एक आधार शिला तैयार होने लगी थी। इस कारण इस कलाधारा का ऐतिहासिक महत्व है। इस शैली के नाम के सम्बन्ध में अनेक विवाद हैं। इस शैली को जैन शैली, गुजरात शैली, पश्चिमी भारत शैली तथा अपभ्रंश शैली के नामों से पुकारा गया है।

इस कालखण्ड में पश्चिमी भारत में जिन सचित्र ग्रन्थों को तैयार किया गया उनका विषय यद्यपि जैनेतर भी था, परन्तु मुख्य विषय जैन धर्म था। इसलिये पर्सीब्राउन तथा अन्य लेखकों ने इसे जैनशैली के नाम से सम्बोधित किया है। इन चित्रों को यह नाम इसलिये भी प्रदान किया गया कि, यह विश्वास किया जाता रहा है कि ये चित्र जैन साधुओं के द्वारा बनाये गये हैं।

इस शैली के तीनों रूपों में चित्र उपलब्ध है।

१. ताड़पत्रों पर बने पोथीचित्र। २. कपड़े पर बने पटचित्र (चित्रित पट)।
३. कागज पर बने पोथीचित्र या फुटकर चित्र।

इस शैली के चित्र जैनेतर ग्रन्थों यथा बसन्तविलास, बालगोपाल स्तुति, गीतगोविन्द, दुर्गासप्तशती, रतिरहस्य आदि तथा जैन ग्रन्थों में कल्पसूत्र, निशीथचूर्णी, अंगसूत्र, दशवैकालिकलघुवृत्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, उत्तराध्ययनसूत्र, संग्रहणीयसूत्र, श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णी, नेमिनाथचरित आदि हैं। ये सभी ग्रन्थ श्वेताम्बर जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। दिगम्बर परम्परा के अन्तर्गत मूड़बिंद्री में षट्खण्डागम की ताड़पत्रीय प्रतियाँ ग्रन्थ व चित्र दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उपासकाचार, महापुराण, यशोधर चरित्र, सुगन्धदशमीकथा, भक्तामरस्तोत्र, त्रिलोकसार आदि सचित्र ग्रन्थ हैं। वस्तुतः दिगम्बर जैन शास्त्र भण्डारों की इस दृष्टि से अभी तक शोध-खोज होनी शेष है।

जैनशैली के चित्रकारों ने भारतीय चित्रकला में कुछ नयी विधाओं का समावेश किया। अपनी इन विशेषताओं के कारण जैन चित्र अपना अलग महत्व और अलग इतिहास रखते हैं। उनकी इन विशेषताओं का परिचय इस प्रकार है :-

१. पहली विशेषता चक्षु चित्रण में है। इनमें नेत्र उठे हुये और बाहर की ओर उभरे हुये हैं। उनकी लम्बाई कानों को छूती है। भवों और नेत्रों का फैलाव समान है।
२. इन चित्रों की पृष्ठभूमि में बहुधा लालरंग का प्रयोग किया गया है। ताड़पत्रों पर अंकित चित्रों में प्रायः पीलेरंग का प्रयोग किया गया है। स्वर्णरंग को भी उपयोग में लाया गया है।
३. रेखाओं की दृष्टि से जैनचित्र बड़े सम्पन्न हैं। ताड़पत्र के चित्रों पर जैन कलाकारों ने जो सूक्ष्म रेखायें अंकित की हैं वे अत्यन्त सुन्दर और सधी हुई हैं।
४. सोने और चांदी की स्याही से बहुमूल्य चित्रों का निर्माण भी जैन शैली की विशेषता है। इन चित्रों में प्राकृतिक दृश्यों को हांसिये पर अत्यन्त सुन्दरता के

साथ अंकित किया गया है। बेलबूटों का अंकन तो अद्वितीय है। जैनग्रन्थ चित्रों के बीच-बीच में छत्र, कमल और स्वास्तिक आदि का चित्रण उनकी शोभा-सज्जा में चार-चांद लगा देते हैं।

५. नारी रूपों का अंकन एक निश्चित सीमा तक हुआ है। नारी चित्रण की दृष्टि से तीर्थंकरों की शासनदेवियाँ प्रमुख रूप रूप से चित्रित हुई हैं।

६. वस्त्राभूषणों की दृष्टि से जैनचित्रों में धोतियों की सज्जा और वस्त्रों पर स्वर्णकलम से उभारे गये बेलबूटे, दुपट्टे और मुकुट दर्शनीय है। स्त्रियों के शरीर पर चोली, चूनर, रंगीन धोती और कटिपट दर्शाये गये हैं। इनके भाल पर टिकुली, कानों में कुन्डल और बाहों में बाजूबन्द हैं। पुरुषों और स्त्रियों दोनों को रत्नमालाओं से अलंकृत किया गया है।

अहिंसा प्रधान जैन धर्म में जीव दया और लोकोपकार की जो महती भावना सर्वत्र व्याप्त है, जैन कलाकारों ने उससे प्रेरणा प्राप्त कर ऐसी कलाकृतियों का निर्माण किया जिनमें अपार शान्ति और अपार्थिव विश्रान्ति का भाव ध्वनित होता है। इन कृतियों को इतनी मान्यता प्राप्त होने का एक कारण यह भी है कि, इनमें महान मानवीय आदर्शों को प्रस्तुत करने का सराहनीय उद्योग हुआ है।

- जी-४, जीवनसागर अपार्टमेंट,
(एअरसेल आफिस के सामने)
६, मालवीय नगर, भोपाल (म.प्र.)

Jains' Contribution to Indian Culture and Society

Prof. Prakash C. Jain

The Jains are an ancient community of India with their own distinctive religion and philosophy, worship and rituals, social customs and cultural traditions. The Jain identity is crystallized around Jainism which also provides the Jains with a world-view and a way of life that embodies self-reliance, social equality, inter-group tolerance, non-violence, and limiting one's desires and needs. Whatever might have been the numerical strength of the followers of Jainism in the past, presently they add up to less than five million people, which also includes the diasporic Jain population estimated at about 300,000 (Jain 2010; 2011a; 2011b).

The Jains have been a wealthy, though economically stratified community. The overall perception of the Jains as a wealthy community can be attributed to the fact that they have traditionally been engaged mainly in trade, commerce, and banking. Since the 18th century a number of Jains have also been engaged in industrial production in a big way. "Not surprisingly, the Jains have varyingly been described by scholars as "the Jews of India", "the middlemen minority", "the marginal trading community", "the capitalist without capitalism", etc. (See Bonacich 1972; Hardiman 1996; Laidlaw 1995: 104; Nevaskar 1971).

The business and trading character of the Jain community has been continuing even today. Thus according to the 2001 Census, only 18.3% of the Jain population was engaged in "working class" jobs (11.7% cultivators, 3.3% agricultural labourers, 3.3% household industry workers); the rest, that is, 81.7% were in "other" occupations. These other occupations comprise various trade and commercial activities and the modern education-based professions such as teaching, engineering, medicine, law, accountancy, management, information technology, etc. (See Jain 2011b).

Throughout their long history Jains have made tremendous contribution to the Indian culture and society which is quite disproportionate

to the size of the community. Undoubtedly, the most lasting contribution of the Jains has been to Indian Philosophy. The Jain philosophy is an original, independent, distinct and complete thought system with its own brand of metaphysics, ontology, epistemology, logic and ethics (See Radhakrishnan and Moore 1957; Jaini 1979). According to Jain philosophy, the world is real; it is neither an illusion (*maya*) nor untrue or unreal (*mithya*). So is the spirit, or soul. Jainism is also unique in devising an elaborate theory of Karma that explains the interactive nature of soul and matter.

Besides the doctrine of Karma, the other original contribution of the Jain philosophy is the twin-doctrines of *Anekantvad* and *Syadvad*, that is, the doctrines of many-sided view-points, and their comprehension and expression. Apart from helping one to comprehend the complete reality, they also promote intellectual tolerance which is very much needed today in order to avoid religious and ideological fundamentalism.

Jainism has been a living religion for at least 3,000 years now. Its ethical codes of conduct that center around *Anuvratas*, and especially *Ahimsa* and *Aparigraha* are of universal value. Jainism is unique in extending the concern of "Live and Let Live" to all the creatures including microbes and even plants (See Chapple 2002; Singhvi 1990). Jainism had historically exerted a great influence on Shrishvaiva, Vaisnava, Lingayata and other Saint-sects in medieval times in terms of the spread of vegetarianism and teetotalism.

Perhaps the most original items in the Jain ethical codes of conduct are *Sallekhana* (the art of dying) and *Kshama* (forgiveness). On the whole, the Jain ethical code of conduct has tended to steer its followers towards rational thinking regarding certain social customs such as *Sati* and *Shraddha*. It also discourages superstitions such as worshipping certain deities for getting cured of diseases, and/or restoring good health. Again, another characteristic feature of Jainism is the common code of conduct for its ascetics and laymen or laywomen. This perhaps has been an important factor in the survival of Jainism for so long even in the face of adverse political conditions.

Next to philosophy and religion, the contribution to languages and literature by the Jains is quite remarkable (Winternitz 1946). The Jain literature includes a vast body of non-canonical works, poetical narratives (*Puranas*, *Charitras*, *Kathas*, *prabandhas*, *kavyas* and *mahakavyas*, etc) and scientific

and technical literature pertaining to astronomy, astrology, cosmology, mathematics, geography, economics, grammar, logic, philosophy, poetics, lexicography, etc. Much of this literature which put Shramanic values to the fore emphasizes misery and sufferings in the world (*Samsar*) and the ways to overcome them not through sacrifices and priestly help but through good moral conduct and compassion. Through their writings the Jains have enriched not only the ancient languages such as Sanskrit, Prakrit and Apabhramsa, but also many modern Indian languages, namely, Hindi, Gujarati, Marathi, Kannada, Tamil and Telugu. Much of this vast Jain literature continues to be stored in innumerable Jain temples and *Shastra bhandaras*, and remains unclassified and unpublished as yet (Balbir et al. 2006: Bhargava 1968: 226-55; Jain 1991).

Jains' contribution to Indian arts and architecture is no less significant. Their contribution in these fields covers various architectural forms such as temples, cave temples, temple cities, pillars (*manasthambhas*) and towers, sculptures, and a wide variety of paintings, frescoes, and manuscript-illustrations (See Chandra 1949; Nagar 2000). Building temples has been a matter of utmost pride for the Jains. Dilwara Jain temples at Mt. Abu, Ranakpur Jain temples, temples at Khajuraho, ancient cave-temples of Udaigiri and Khandgiri, cave-temples of Ellora, temple cities of Shantrunjaya (Gujarat), Girnar (Gujarat), Sammedshikhar (Bihar), Sonagiri (M.P.), Mudabidri (Karnataka), the Bahubali statue at Shravanbelagola (Karnataka), the *Kirti-Sthambha* at Chittor are some of the best examples of the Jain architecture (See Singhvi and Chopra 2002). Most of these monuments, particularly the temples, had been funded by single wealthy individuals. As temple construction is considered a meritorious act, scores of temples are being built annually by the Jains all over India, in spite of the fact that their heritage monuments are being neglected in the absence of proper funds and management. Needless to say, the Jain heritage, both physical and socio-cultural needs to be appreciated and preserved.

A majority of Jains have always enjoyed relative economic affluence and a high social status due to the fact that they have been traders, merchants, or bankers. A nineteenth century observer went to the extent of claiming that "half the mercantile transactions of India pass through their hands" (Thornton 1898: 40). Be that as it may, the Jains continue to make

their mighty contribution to the Indian economy even though the Indian economy itself has undergone a sea-change. The Jains have taken the full advantage of modern education system and a significant number of them have entered into a wide variety of professions and services, besides consolidating their position as trading and commercial petty bourgeoisie in the Indian economy (See Jain 2011a). Additionally, the Jains hold quite a substantial amount of ownership in real estate, share-market and mass media and publishing industries. *Rajasthan Patrika* Group, *Lokmat* Group (Maharashtra), *Gujarat Samachar*, *The Times of India* Group and *Mathribhumi* Group (Kerala) are the outstanding examples of mass media ownership by the Jains.

Besides the spread of secular education among the Jains, the 20th century also witnessed the development of Jainology that happened along with Indological studies. With the donations of the Jain community, a large number of Jain Sanskrit *vidyalayas* (schools/colleges) were established in which the intending students studied free of charge subjects like Sanskrit language and literature, grammar, logic and Indian philosophy, in addition to Jain religious texts. In north India this movement was spearheaded in the early decades of the 20th century by Ganesh Pasad Varni, a *Kshullaka* who was instrumental in establishing, directly or indirectly, a number of Sanskrit *vidyalayas* all over north India, including the reputed ones at Varanasi, Arrah, Morena, Jaipur, Hastinapur, Indore, Jabalpur, Katni, Sagar, Mahavirji, Papauraji, Sadhumal, etc (See Varni 1948). These *vidyalayas* produced generations of Jain *pandits*, priests, and students who have helped in raising the level of knowledge about Jain philosophy and religion among the Jains.

Until about the 1960s Jains' contribution to the Indian public life in modern times was quite remarkable. With thousands of them serving jail terms and scores of them having sacrificed their lives as martyrs during India's independence movement (Jain 2006), the Jains' political participation was certainly exemplary, which was further sustained by their disproportionately high representation in the Constituent Assembly of India, and in the first few parliaments and in some state assemblies. It is only during the last four decades that their role in public life has significantly dwindled.

Historically, however, this has not been so. “The Jains, especially in southern and western India, produced a large number of monarchs, ministers and generals” (Sangave 2006: 134). Even the Jain saints were no indifferent to the secular affairs of the country. They were frequently consulted by the kings regarding political matters. In south India “the Jain saints were virtually responsible for the founding of the Ganga kingdom in the 2nd century A.D. and the Hoysala kingdom in the 11th century A.D.” (Sangave 2006: 134).

As part of the *Shramanic* value system, Jainism puts a great emphasis on the establishment of egalitarian social order (Nevaskar 1978). Besides social equality, gender equality is an equally important concern for the Jains. It is interesting to note that at least in principle Jainism is open to all irrespective of caste, colour, creed, gender or wealth, though in practice Jains observe all forms of discrimination and exclusion. The Jains do accept the Hindu *Varna Vyavastha*, but only as a system of division of labour, and not in terms of any ascriptive criterion (birth). What is implied here is the fact that the social order is a man-made system, and not a divinely ordained one. This had far reaching impact on the status of Sudras, and also on the institution of slavery. Incidentally, the Jainist conception of society is anarchist or atomistic. It accepts the view that the society is the sum total of individuals. The quality of society is determined by the quality of its constituent units. Obviously, this conception of society does not recognize the *sui generis* (self-dependent) property of society.

The contribution of Jainism to the Indian socio-cultural value system is subtle and diffused yet quite significant. The five *Anubratas* of which *Ahimsa* has become synonymous to Jainism constitute the core of this value system. The Jainist concern of *Ahimsa* extends from controlling individual passions to managing inter-personal and family relations, to inter-group tolerance, to maintaining world peace, and to preserving ecological balance and sustainability (See Amar 2009). Vegetarianism is the most manifest expression of Jainist concern to *Ahimsa*. So much so that the overwhelming majority of Jains not only “rigidly abstain from eating non-vegetarian food and intoxicants, some of them even avoid eating roots and tubers like potatoes, onions, garlic, radish and carrot, while many renounce supper and avoid the use of honey and stale butter because they are afraid of

destroying living creatures in the bargain" (Singh 1998: 1330). For the same reason, most Jains drink only strained water, and avoid eating after sunset.

Mahatma Gandhi's *Satyagraha* in South Africa and India and its impact on the racial equality movement of Dr. Martin Luther King, Jr. in the U.S. are some of the successful political applications of *Ahimsa* (Hay 1979). Therefore, it was highly appropriate that 2nd October, the birth day of Mahatma Gandhi, should have been celebrated as the World *Ahimsa* Day by the United Nations.

Last, but not the least, Jainism stands for self-reliance, humanism and social welfare. It is often said that there are no beggars and criminals in the Jain community. The Jains run the largest network of philanthropic activities, including schools and hostels, hospitals, dispensaries, birds hospitals, cow-sheds, drinking water facilities, and the non-governmental organisations for disbursement of loans and scholarships for students.

References

- Amar, Acharya Gopilal (2009) *Victory over Violence: A Critical Appreciation*. Lucknow and New Delhi: Shree Bharatvarsheeya Digambar Jain Mahasabha.
- Balbir, Nalini, et al. (2006) *Catalogue of the Jain Manuscripts of the British Library*. 3 Vols. London: British Library and Institute of Jainology.
- Bhargava, Dayanand (1968) *Jaina Ethics*. Delhi: Motilal Banarsidass.
- Bonacich, E. (1973) "A Theory of Middleman Minorities", *American Sociological Review* 38(5): 583-94.
- Census of India 2001 (2005) *First Report of Religion Data*. New Delhi: R. G. Office.
- Chandra, Moti (1949) *Jaina Miniature Paintings from Western India*. Ahmedabad: Chapple, Christopher Key (2002) *Jainism and Ecology: Nonviolence in Web of life*. Cambridge: Harvard University Press.
- Desai, P.B. (1957) *Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs*. Sholapur: Hardiman, David (1996) *Feeding the Bania: Peasants and Usurers in Western India*. Delhi: Oxford University Press.
- Jain, Jyoti Prasad (1983) *Religion and Culture of the Jains*. 3rd Edition. Delhi: Bhartiya Jnanpith.
- Jain, Kapoor Chand and Jyoti Jain (2006) *Swatantrata Sangram mein Jain* (Part I) Second Edition. Khatauli: Sarvodaya Foundation.
- Jain, Prakash C. (2010) "Status of the Contemporary Jain Community", *Arhat Vachan* 22(1 & 2): 71-83.
- Jain, Prakash C. (2011a) "Exploring the Global Jain Diaspora", pp. 155-72, in N. Jayaram (ed) *Diversities in the Indian Diaspora*. Delhi: Oxford University Press.

Jain, Prakash C. (2011b) *Jains in India and Abroad: A Sociological Introduction*. New Delhi: International School for Jain Studies.

Jain, Yogendra (2007) *Jain Way of Life*. Getzville, New York: Federation of Jain Associations in North America.

Jaini, Padmanabh S. (1979) *The Jain Path of Purification*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Long, Jeffery D. (2009) *Jainism: An Introduction*. London and New York: I. B. Tauris.

Nagar, Shantilal (2000) *Jaina Sculptures in Indian and World Museums*. New Delhi: Motilal Banarsidass.

Nevaskar, Balwant (1971) *Capitalists without Capitalism: The Jains of India and the Quakers of the West*. Westport, Conn.: Greenwood Publishing Corporation.

Nevaskar, Balwant (ed.) (1978) *Sramana Tradition: Its Contribution to Indian Culture*. Ahmedabad: L. D. Institute of Indology.

Radhakrishnan, Sarvapalli and Charles A. Moore (ed.) (1957) ***A Source Book of Indian Philosophy***. Princeton: Princeton University Press.

Sangave, Vilas A. (1980) (1959) *Jain Community: A Social Survey*, Popular Prakashan, Bombay.

Sangave, Vilas A. (2006) (1990) *Aspects of Jaina Religion*. New Delhi: Bhartiya Jnanpith. 5th edition.

Singh, K. S. (1998) "Jain", pp. 1327-1338, *India's Communities, H-M* (People of India National Series Vol. V). Delhi: Anthropological Survey of India and Oxford University Press.

Singhvi, L. M. (1990) *The Jain Declaration on Nature*. London: Office of the High Commissioner of India.

Singhvi, L. M. and Tarun Chopra (2002) *Jain Temples in India and around the World*. New Delhi: Himalayan Books.

Thornton (2003) (1898) *Parsi, Jaina, and Sikh: Or Some Minor Religious Sects in India*. New Delhi: Mittal Publications.

Varni, Ganesh Prasad (1948) *Meri Jeevan Gatha* (in Hindi). Kashi: Bhargava Bhushan Press.

Winternitz, M. (1946) *The Jainas in the History of Indian Literature, (A Short Outline of the History of Jain Literature)*, Edited by Jina Vijaya Muni, Ahmedabad.

F-109, East of Kailash,

New Delhi-110065

गतांक से आगे.....

प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव एवं अर्धमागधी भाषा : एक अध्ययन

● पद्म मुनि

५. अनादि, असंयुक्त 'द्' प्रायः बना रहता है कहीं-कहीं 'त्' और 'य्' भी बन जाता है, जैसे- प्रदिशः > पदिसो (आचा०), भेद > भेद, अनादिकं > अणादियं (सूअ० २, ७), नदति > णदति, जनपद > जणवद, वेदिहिति (ठा० क्रमशः ३६९, ४५८, ४५९) इत्यादि।

'द्' > 'त्' जैसे- यदा > जता, पाद > पात, निषाद > निसात, नदी > नती > मृषावाद > मुसावात, वादिक > वातित, अन्यदा > अन्नता, कदाचित् > कताती (ठा० क्रमशः ३१७, ३४६, ३९३, ३९७, ४५०, ४५१, ४५८, ४५९) आदि।

'द्' > 'य्' जैसे- प्रतिच्छादन > पडिच्छायण, चतुष्पद > चउप्पय आदि।

६. अनादि, असंयुक्त 'य्' प्रायः कायम रहता है, अनेकशः यह 'त्' में भी परिवर्तित हो जाता है, जैसे- वायव > वायव, प्रिय > पिय, निरय > निरय, इन्द्रिय > इन्दिय, गायति > गायइ आदि।

'य्' > 'त्' जैसे- स्यात > सिता, सामायिक > सामातित, कायिक > कातित, पालयिष्यन्ति > पालतिस्सन्ति, पर्याय > परितात, नायक > णातग, गायति > गातति, स्थायिन् > ठाति, शायिन् > साति, नैरयिक > नेरतित (ठा० क्रमशः ३१७, ३२२, ३२३, ३५७, ३५८, ३९३, ३९४, ३९७, ३९८, ३९९) इत्यादि।

७. अनादि, असंयुक्त 'व्' प्रायः बना रहता है, तथा कहीं-कहीं 'त्' और 'य्' भी हो जाता है, जैसे- वायव > वायव, गौरव > गारव, भवति > भवति, अनुविचिन्त्य > अणुवीति (सूअ० १, १, ३, १३) इत्यादि।

‘व्’ > ‘त्’ जैसे- परिवार > परिताल, कवि > कति (ठा० ३५८, ३९३) इत्यादि।

‘व्’ ‘य्’ जैसे- परिवर्तन > परियट्ठण, परिवर्तना > परियट्ठणा (ठा० ३४९) आदि।

८. शब्द के आदि, मध्य, अन्त्य और संयोग में सर्वत्र ‘ण्’ की तरह ‘न्’ भी प्राप्त होता है, जैसे- नदी > नई, ज्ञातपुत्र > नायपुत्त, आरनाल > आरनाल, अनिल > अनिल, अनल > अनल, प्रज्ञा > पन्ना, अन्योन्य > अन्नमन्न आदि।

९. एव के पूर्व अस् के स्थान पर ‘आम्’ होता है, जैसे- यमेव > जामेव, एवमेव > एवामेव इत्यादि।

१०. दीर्घ स्वर के बाद ‘इति वा’ के स्थान पर ‘ति वा’ और ‘इ वा’ का प्रयोग होता है, जैसे- इन्द्रमह इति वा > इंदमहे ति वा, इंदमहे इ वा आदि।

११. यथा और यावत् शब्द के ‘य्’ का लोप और ‘ज्’ दोनों प्राप्त होते हैं, जैसे- यथाख्यात > अहक्खाय, यथाजात > अहाजाय, यथानामक > यावत्कथा > आवक्हा, यावज्जीव > जावज्जीव इत्यादि।

१२. गद्य में भी अनेक स्थलों पर समास के उत्तर शब्द के पहले ‘म्’ आगम होता है, जैसे- निरयंगामी, उड्ढंगारव, गोणमाइ, सामाइयमाइयाइ आदि।

१३. गृह शब्द के स्थान पर गह, घर, हर, गिह आदि होते हैं जैसे गृहम् > गहं, घरं, हरं, गिहं।

१४. म्लेच्छ शब्द के च्छ के स्थान पर विकल्प से क्खू तथा एकार के स्थान पर विकल्प से आकार और उकार आदेश होते हैं, जैसे- म्लेच्छः > मिलेक्खू, मिलक्खू, मिलुक्खू।

१५. पर्याय शब्द के ‘र्याय’ भाग के स्थान के विकल्प से रियाग, ज्जाय, रितात आदि आदेश होते हैं, जैसे- पर्यायः > परियागो, पज्जायो, परितातो आदि।

१६. बुधादिगण पठित शब्दों के धकार के स्थान पर विकल्प से हकारादेश होता है, जैसे- बुधः > बुहो, बुधो रूधिरं > रूहिरं, रूधिरं आदि।

१७. वर्ज आदि शब्दों में 'व्' के स्थान पर विकल्प से 'उ' आदेश होता है, जैसे- आवर्जः > आउज्जो, आवज्जो। आवर्जनम् > आउज्जणं, आवज्जणं।

१८. पुट और पुर शब्द के पकार का विकल्प से लोप होता है, जैसे- तालपुटम् > तालउडं, तालपुडं। गोपुरम् > गोउरं, गोपुरं। १९. तृतीया विभक्ति के ए० व० में 'ण' के साथ 'सा', चतुर्थी ए० व० में आए या आते तथा सप्तमी ब० व० 'सिं' प्रत्यय भी प्राप्त होते हैं। जैसे- मणसा, वयसा, देवाए, सवणयाए, अहिताते, असुभाते, अखमाते, सव्वेसिं इत्यादि।

२०. कम्म, धम्म शब्द के तृतीया के ए० व० में पालि की तरह कम्मुणा और धम्मुणा होता है- कम्मुणा बम्हणो होइ (उत्तराध्ययन सूत्र)।

२१. तत् शब्द के पंचमी के बहुवचन में 'तेभ्यो' रूप भी मिलता है।

२२. युष्मत् शब्द की षष्ठी का ए० व० संस्कृत की तरह 'तव' और अस्मत् की षष्ठी का ब० व० 'अस्माकं' भी पाया जाता है।

२३. भूतकाल के ब० व० में इंसु प्रत्यय भी प्राप्त होता है, जैसे-पुच्छिंसु, गच्छिंसु, आभासिंसु इत्यादि।

२४. समूह, सम्बन्ध और अपत्यार्थ बतलाने के लिए 'इय', 'अण', और 'इज्ज' प्रत्यय, निज संबन्ध बतलाने के लिए 'इच्चिय' और 'इज्जिय' प्रत्यय, भावार्थ में 'इय', 'इल्ल', 'इज्ज', 'इय', 'इक' और 'क' प्रत्यय, स्वार्थ में 'अण', 'इक', 'इज्ज', 'इय', 'इयण', 'इम', 'इल्ल', 'त्ता', 'उल्लह' और 'मेत्त' प्रत्यय, अतिशय अर्थ बतलाने के लिए 'इ', 'इज्ज', प्रत्यय, भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए 'त्त' और 'तण' प्रत्यय, विकार अर्थ में 'अण' और 'मय' प्रत्यय एवं प्रकार अर्थ में 'हा' प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं।

२५. कर्मवाच्य में 'इज्ज' प्रत्यय और प्रेरणा में 'आवि' प्रत्यय जोड़ने के अनन्तर धातु प्रत्यय जोड़ने से कर्मवाच्य और प्रेरणा के रूप बनते हैं।

२६. कृतप्रत्ययों में सम्बन्धार्थक 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर विभिन्न रूप बनते हैं, जैसे- 'ट्टु' जैसे- कट्टु, साहट्टु, अवहट्टु आदि।

'इत्ता', 'एत्ता', 'इत्ताणं' एत्ताणं जैसे- चइत्ता, तिउट्टित्ता, पासित्ता, करेत्ता, पासित्ताणं, करेत्ताणं इत्यादि।

'इत्तु', जैसे- दुरूहित्तु, जाणित्तु, वधित्तु इत्यादि।

‘च्चा’, जैसे- किच्चा, णच्चा, सोच्चा, भोच्चा, चेच्चा आदि।

‘इया’, जैसे- परिजाणिया, दुरूहिया आदि।

इनके अतिरिक्त ‘त्ता’, ‘तु’, ‘तूण’, ‘उं’, ‘ऊण’, ‘इय’, प्रत्यय भी क्त्वा प्रत्यय के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। तथा इसके अलावा विउक्कम्म, निसम्म, समिच्च, संखाए, अणुवीति, लद्धं, लद्धूण, दिस्सा इत्यादि प्रयोगों में ‘क्त्वा’ के रूप भिन्न-भिन्न तरह के पाए जाते हैं।

२७. हेत्वर्थक् ‘तुमुन्’ प्रत्यय के स्थान पर ‘इत्तए’, ‘इत्तते’, ‘त्तुं’ और ‘उं’ प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। जैसे- करित्तराए, गच्छित्तए संभुंजित्तए, उवसमित्तते (विपा० १३) विहत्तए, करित्तुं, करिउं, पण्णवेत्तए, परूवेत्तए (अंत० ६.३८) सहित्तए, (३.६८) इत्यादि।

२८. वर्तमान कृदन्त के लिए ‘न्त’ और ‘माण’ प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। जैसे- भावेमाणे (अंत० १.१८), भुंजमाणा (अंत० ६.२४), भावेमाणी (अंत० ५.३१), भावेमाणस्स (अंत० ६.५३) इत्यादि।

२९. ऋकरान्त धातुओं से लगने वाले कर्मणि भूतकृदन्त के ‘त’ प्रत्यय के स्थान पर ‘ड’ हो जाता है। जैसे- कृत > कड, मृत > मड, अभिहृत > अभिहड इत्यादि।

३०. ‘तर’ प्रत्यय का रूप ‘तराए’ हो जाता है। जैसे- अणितराए, अप्प-तराए, बहुतराए, कंततराए आदि।

३१. मतुप् और अन्य तद्धित प्रत्ययों के रूप- आउसो, आउसंतो, गोमी, वुसिमं, भगवंतो, पुरत्थिम, पच्चत्थिम, ओयंसी, दोसिणो, पोरेवच्च आदि विभिन्न रूपों में प्राप्त हो जाते हैं।

३२. धातु रूपों में आइक्खइ, कुव्वइ, भुविं, होक्खति, बूया, अब्बवी, होत्था, हुत्था, पहारोत्था, आघं, दुरूहइ, विगिंचए, तिवायए, अकासी, तिउइ, तिउट्टिज्जा, पडिसंधयाति, सारयति, घेच्छिइ, समुच्छिहिंति, आहंसु आदि प्रकृति, प्रत्यय तथा उभय विभिन्न रूपों में अर्धमागधी में प्राप्त हो जाते हैं जो अर्धमागधी की अपनी विशेषता है।

३३. सप्तमी एक वचन की विभक्ति- अंसि। अर्थात् अर्धमागधी में ‘अंसि’ प्रत्यय का प्रयोग सप्तमी ए० व० की विभक्ति के लिए हुआ है, जैसे- रायमगंसि (अंत, ६.१६), नयरंसि, लोगंसि, इहंसि उत्तमो भंते (उत्तराध्ययन सूत्र,

अध्याय ९) इत्यादि।

३४. अर्धमागधी में पूर्वकालिक कृदन्त का प्रत्यय - इया, इयाण, च्चाणं, इयाणं तथा इत्ताणं का भी प्रयोग होता है। जैसे- आणिल्लियाणं, आसासिया, इत्यादि।

३५. पद्म शब्द का 'पम्ह' रूप - अर्धमागधी में पद्म शब्द के 'पउम' और 'पोम्म' के अतिरिक्त 'पम्ह' रूप भी उपलब्ध होता है, जैसे- पद्मलेश्या > पम्हलेस्सा इत्यादि।

३६. तकार का आगम- अर्धमागधी में हेम व्याकरण ८.१.१७७ द्वारा विहित मध्यवर्ती क्, ग् आदि के लोप होने पर शेष उद्वृत्त स्वर के स्थान में 'त्' का विधान प्राप्त हो जाता है। यहाँ हेम व्याकरण में 'अ' या 'आ' के बाद स्थित उद्वृत्त स्वर 'अ' या 'आ' हो तो उसे 'य' श्रुति होने का विधान है, किन्तु अर्धमागधी में 'त्' का विधान व्यापक रूप में (इ, उ, ए, ओ, के बाद भी) प्राप्त हो जाता है। जैसे- देवईए > देवतीते, धणवइ > धणवति, महत्तरगयं > महत्तरगतं, माआ > माता, मिइ > मिति, काइय > कातित, सामाइय > सामातित, पालइस्संति > पालतिस्संति, इत्थिओ > इत्थितो (अगस्त्यचूर्णि २.२), सयणाणि > सतणाणि (वही), आदि।

३७. अर्धमागधी में मध्यवर्ती 'त्' और 'थ्' के बदले में 'द्' और 'ध्' के प्रयोग प्राप्त होते हैं।

३८. तृतीया विभक्ति ब० व० में विभक्ति प्रत्यय- 'भि' प्राप्त हो जाती है।

३९. सर्वनाम शब्दों में सप्तमी वि० ए० व० में 'म्हि' प्रत्यय भी प्राप्त होता है।

४०. स्त्रीलिंगी शब्दों के ए० व० में 'य्' 'या', 'ये' विभक्तियाँ भी प्रयुक्त होती हैं।

४१. वर्तमान कृदन्त में 'मीन' प्रत्यय भी प्राप्त हो जाता है।

डॉ. के. आर. चन्द्र ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन अर्धमागधी की खोज में' उपर्युक्त विशेषताओं का सविस्तार चर्चा की है। उनका मन्तव्य है कि उपर्युक्त विशेषताओं में 'त्' और 'थ्' के बदले में 'द्' और 'ध्' के प्रयोग मागधी और शौरसेनी के अवश्य हैं परन्तु ऐसे प्रयोग कभी-कभी पालि में भी

मिलते हैं, साथ ही प्राचीन शिलालेखों में भी मिलते हैं। 'भि' विभक्ति पालि के प्राचीन साहित्य में मिलती है। वर्तमान कृदन्त 'मीन' अशोक के शिलालेखों में मिल रहा है। भूतकाल का 'इ' प्रत्यय इसिभासियाई तथा पालि भाषा में प्राप्त हो जाता है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार निष्कर्षतया कहा जा सकता है कि परंपरा की दृष्टि से अर्धमागधी का उद्भव भगवान् ऋषभदेव के समय में हुआ है और वर्तमान अवसर्पिणी काल के वे प्रथम अर्धमागधी प्रयोक्ता थे। अर्धमागधी भाषा का वह प्रवाह भगवान् महावीर काल तक विभिन्न रूपों में प्रवाहित होता हुआ पहुंचा था, अतः भ. महावीर अर्धमागधी के उस भाषा-स्वरूप के अंतिम प्रयोक्ता थे। भगवान् महावीर के परवर्ती साधकों में भाषातिशय की उपलब्धि न होने के कारण उस भाषा का स्वरूप आगे नहीं बढ़ सका। वर्तमान में हम जिस अर्धमागधी भाषा को जानते हैं वह भगवान् महावीर के परवर्ती काल की भाषा है। स्वरूप की दृष्टि से उसमें कुछ वैभिन्य दृष्टिगोचर होता है।

अर्धमागधी भाषा प्राकृत भाषा परिवार की एक संप्राण शाखा है। उसका अस्तित्व स्वतंत्र है। वह न तो मागधी और शौरसेनी का मिश्रण है न महाराष्ट्री की कोई शाखा विशेष है। आगमों के अनुसार अर्धमागधी भाषा का रूप-गठन आरह प्रकार की देशी भाषाओं से मिलकर हुआ है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्धमागधी मात्र आधे मगध की भाषा न होकर एक विस्तृत भूभाग की भाषा रही है तथा उस जमाने में इसकी लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि तीर्थंकर महावीर ने इसे 'आर्यभाषा' बताते हुए 'देवताओं को भी अत्यन्त प्रिय' लगने वाली भाषा कहा है। इससे इसकी महिमा और गरिमा का भी बोध हो जाता है।

गतांक से आगे ...

सल्लेखना, समाधिमरण व भग. आराधना के तत्संबन्धित अन्य पारिभाषिक और आत्मघात

• डॉ. वृषभ प्रसाद जैन

पादोपगमनमरण में अपने पैरों से चलकर अर्थात् संघ से निकलकर उपयुक्त स्थान पर आश्रय लेने की बात है, इसलिए पैरों से चलकर उपगमनपूर्वक होने वाले मरण को पादोपगमनमरण कहा गया है, इसी पादोपगमनमरण को प्रायोपगमनमरण और प्रायोवेशनमरण के नाम से भी उद्धृत किया गया है, वहाँ प्राकृतपाठ 'पाउग्गमणमरणं' है। यहाँ प्रायोग्य से अभिप्राय संसार का अंत करने योग्य संहनन और संस्थान से लेना अपेक्षित है। संसार का अंत करने योग्य संहनन और संस्थान की प्राप्ति पूर्वक होने वाले मरण को प्रायोपगमनमरण और प्रायोपवेशनमरण माना गया है।^१ इस तरह की समाधि लेने वाला न स्वयं अपनी सेवा करता है और न दूसरों से कराता है, किन्तु इतना विशेष है कि प्रायोपगमन में तृणों के संथरे का अर्थात् तृणशय्या का निषेध है।^२ इस प्रकार प्रायोपगमन स्व और परकृत प्रतीकार से रहित है। वैसे तो निश्चय से प्रायोपगमन अचल है, परन्तु उपसर्ग अवस्था में मनुष्य के द्वारा चलायमान किये जाने पर चल भी होता है अर्थात् स्वयं शरीर को न चलाने की दृष्टि से तो अचल है, किन्तु दूसरे के द्वारा हिलाने आदि के कारण चल है। उपसर्ग अवस्था में एक स्थान से दूसरे स्थान पर डाल दिए जाने के कारण यदि वह वहीं मरण करता है, तो उसे नीहार कहते हैं, और ऐसा नहीं होने पर पूर्व स्थान पर ही यदि मरण हो जाए, तो उसे नीहार कहते हैं और ऐसा नहीं होने पर पूर्व स्थान पर ही यदि मरण हो जाए तो वह अनीहार कहलाता है। यह भी मान्यता है कि जिनकी आयु का काल अल्प शेष रहता है, वे प्रतिमायोग धारण करके प्रायोपगमन करते हैं^३, इसलिए पंडित आशाधर जी की मान्यता है कि कुछ तो सल्लेखना न करके ही कायोत्सर्गपूर्वक प्रायोपगमन करते हैं और

कुछ चिरकाल तक उपवास करके प्रायोपगमन करते हैं।

पंडितमरण के तीन प्रकारों में इंगिणीमरण भी एक है। इंगिणीमरण के बारे में विजयोदया टीका में उल्लेख आता है कि -

‘इंगिणीशब्देन इंगितमानो भण्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणम् इंगिणीमरणम्’^{१९}

अर्थात् इंगिणीमरण पारिभाषिक में ‘इंगिणी’ शब्द से अभिप्राय आत्मा से लिया गया है, भाव यह है कि आत्मिक चरम अवस्था को लक्ष्य कर स्वयं अपने को समाधि में स्थिर कर किया जाने वाला मरण इंगिणीमरण है। खास बात यह है कि इंगिणीमरण में साधक अपनी वैयावृत्ति स्वयं करता है और दूसरे से नहीं करता है। इसीलिए धवला में उल्लेख आया है कि-
‘आत्मोपकारसव्वपेक्षं परोपकारनिरपेक्षामिङ्गिनीमरणम्’^{२०}

इंगिणीमरण का इच्छुक साधु अपने संघ को इंगिणीमरण की विधि की साधना में सक्षम बनाते हुए अपने चित्त में यह निश्चय करे कि मैं इंगिणीमरण की साधना करूँगा, फिर शुभ परिणामों की श्रेणी में आरोहण कर तप आदि की भावना करे और फिर अपने शरीर व कषायों को कृश करे। उक्त निश्चयानुसार इंगिणीमरण का इच्छुक साधु अपने संघ के सब गणों से क्षमायाचना पूर्वक संघ को छोड़कर गुफा आदि में एकाकी आश्रय लेता है, वह कोई सहायक नहीं रखता है, गाँव आदि से शुद्ध तृण आदि को मांगकर लाकर जीवों आदि से रहित शुद्ध स्थान पर अपना संस्तरा स्वयं बनाता है, फिर पूर्व या उत्तर की ओर अपना सिर रखते हुए उस पर आरोहण करता है। अर्हतादिकों के पास रत्नत्रय में लगे दोषों की आलोचना कर शुद्ध करता है, आठों पहरो के लिए निद्रा का परित्याग कर एकाग्र मन से तत्त्वों का चिंतन करता है, षडावश्यक कर्म निश्चित रूप से करता है, अपनी परिचर्या स्वयं करता है, तीन शुभ संहननों में से कोई एक संहनन वाला होने के कारण परिचर्या स्वयं करता है, तीन शुभ संहननों में से कोई एक संहनन वाला होने के कारण बिना विचलित हुए आने वाले उपसर्ग को सहन करता है, यदि पैर में काँटा लग जाए तो आँख में धूल चली जाए, तो स्वयं दूर नहीं करता, मौन आदि का पालन करने में लीन रहता है, रोग आदि से होने वाले कष्ट को दूर

करने का प्रयत्न नहीं करता, इसी प्रकार भूख-प्यास आदि का भी प्रतीकार नहीं करता, जीवन-भर के लिए समस्त प्रकार के आहार के विकल्प को तथा समस्त अभ्यंतर व बाह्य परिग्रह को त्याग देता है, निरंतर अनुप्रेक्षा रूप स्वाध्याय में लीन रहता है। कुछ आचार्यों के मत में अनुरोध किए जाने पर वह बहुत थोड़ा धर्मोपदेश देता है। इस प्रकार इंगिणीमरण की साधना करके कोई साधु तो समस्त क्लेशों से छूटकर मुक्त हो जाता है, तो कोई मरकर वैमानिक देव होता है।^{१३} बहरहाल वह मुक्ति की ओर उन्मुख अवश्य होता है।

अब पंडितमरण के तीन प्रकारों में से अवशिष्ट भक्तप्रतिज्ञा या भक्तप्रत्याख्यान की चर्चा अभीष्ट है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में भक्तप्रतिज्ञा को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है- ‘भज्यते सेव्यते इति भक्तं, तस्य पङ्गणा त्यागो भक्तपङ्गणा। इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसंभवेऽपि रूढिवशान्मरणविशेषे शब्दोऽयं प्रवर्तते।’^{१४} भाव यह है कि ‘भक्त- का अभिप्राय आहार से है और ‘प्रतिज्ञा’ का अर्थ त्याग है, इस प्रकार आहार का त्याग कर मरण करना ‘भक्तप्रत्याख्यान’ है। यद्यपि आहार का त्याग अन्य दोनों मरणों में भी होता है, तथापि इस लक्षण का प्रयोग रूढिवश मरणविशेष अर्थात् ‘भक्तप्रतिज्ञा’ या ‘भक्तप्रत्याख्यान’ के लिए ही किया जाता है। यह ‘भक्तप्रतिज्ञा’ या ‘भक्तप्रत्याख्यान’ इस पंचम काल में प्राप्य भी है। इस पंचम काल में प्राप्त होने वाली संहनन की क्षमता के अभाव में अन्य दोनों मरण अर्थात् इंगिणीमरण व पदोपगमनमरण प्राप्य नहीं है। खास बात यह भी है कि इस भक्तप्रतिज्ञा मरण में साधक स्वयं भी अपनी सेवा करता है और दूसरों से भी सेवा या उपकार की सेवा लेता है, इसीलिए धवला में उल्लेख मिलता है कि ‘आत्मपरोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति।’^{१५} इस ‘भक्तप्रत्याख्यान’ के सविचार और अविचार के भेद से दो प्रकार कहे गए हैं और अविचार के भी निरुद्ध, निरुद्धतर व परमनिरुद्ध आदि तीन भेद तथा निरुद्ध के भी प्रकाश और अप्रकाश रूप दो प्रकार माने गए हैं। ‘भक्तप्रतिज्ञा’ या ‘भक्तप्रत्याख्यान’ मरण पर भगवती आराधना में चर्चा भी विस्तार से की गई है। आचार्य शिवार्य सविचार भक्तप्रत्याख्यान पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि सहसा मरण के उपस्थित न होने की स्थिति में यह मरण साहस और पराक्रम व बल से युक्त साधु के होता है।^{१६} ठीक इसके विपरीत अविचार भक्तप्रत्याख्यान सहसा

मरण के उपस्थित होने पर पराक्रमरहित साधक के होता है। उक्त प्रस्तुति से ऐसा लगता है कि आचार्य का यहाँ मंतव्य यह है कि पराक्रमी, बलयुक्त और साहसी साधु मरण से पूर्व समय रहते ही सचेत हो जाता है और योग्य कारण उपस्थित होने पर सविचार भक्तप्रत्याख्यान को धारण कर लेता है।

आचार्य के अनुसार सविचार भक्तप्रत्याख्यान की सबसे पहली शर्त है अर्हता की। उनके मत में जिसके दुष्प्रसाध्य व्याधि हो या श्रमण धर्म को प्रभावित करने वाली अर्थात् हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था हो या देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यचकृत ऐसा उपसर्ग हो, जिसमें आगे के जीवन की आस क्षीण हो गई हो, वही भक्तप्रत्याख्यान के योग्य होता है, वे और आगे कहते हैं कि अनुकूल बंधु-मित्र शत्रु हो गए हों जो चारित्र का विनाश करने वाले हों, भयंकर दुर्भिक्ष हो या भयंकर जंगल में भटक गया हो और जहाँ से निकलने की आस न रह गई हो, जिसकी दृष्टि दुर्बल हो गई हो या कान दुर्बल हो गए हों, या जंघाबल क्षीण होने के कारण विहार करने में जो असमर्थ हो गया है, वही भक्तप्रत्याख्यान के योग्य होता है। इसके आगे वे और कहते हैं। कि उक्त कारणों के समान अन्य भी कोई प्रबल कारण उपस्थित हो जाए, तो भी साधक भक्तप्रत्याख्यान के योग्य हो जाता है।

इसके विपरीत जिसके चारित्र का पालन चिरकाल तक बिना किसी क्लेश के अतिचार रहित अच्छी तरह हो सकता हो, समाधिमरण कराने योग्य निर्यापक आचार्य उपलब्ध हों, परन्तु दुर्भिक्ष का भय आदि अन्य कारण न हों और यदि वह मरण कराने की प्रार्थना करता है, तो वह मुनिपद से विरक्त होता है -

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा।

णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि॥

तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवुद्वि भये पुरदो।

सो मरणं पच्छिंतो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो॥

- भगवती आराधना, ७४-७५

इससे स्पष्ट है कि भक्तप्रतिज्ञा ग्रहण करने व कराने से पहले ग्रहार्थी को व कराने वाले निर्यापक आचार्य को ग्रहार्थी की अर्हता की परीक्षा कर लेना आवश्यक है, यदि ऐसा नहीं किया गया, तो सल्लेखना सल्लेखना न

होगी और वैसे में की गई क्रिया मुक्तिमार्ग की साधक न बनकर बाधक बन जाएगी, इसीलिए समाधिमरण से पूर्व ली जाने वाली सल्लेखना की प्रतिज्ञा में बहुत सजग रहने की जरूरत है, यदि ऐसा न हुआ, तो गंभीर हानि होने के खतरे सामने है। इस भक्तप्रत्याख्यान के संकल्प लेने की अधिकतम अवधि आचार्यों ने बारह वर्ष व न्यूनतम अवधि अन्तर्मुहूर्त मानी है। इससे भी स्पष्ट है कि ग्रहार्थी साधक और निर्यापक आचार्य दोनों के पास सल्लेखना के संकल्प लेने से पूर्व परीक्षा के लिए पर्याप्त या समुचित समय है।

अविचार भक्तप्रत्याख्यान के ऊपर जो निरुद्ध, निरुद्धतर व परम निरुद्ध भेद कहे गए हैं, उनमें निरुद्ध के बारे में आचार्य कहते हैं कि जो रोग से ग्रस्त हैं और पैरों में चलने की शक्ति न होने से दूसरे संघ में जाने में असमर्थ हैं और सहसा मरण उपस्थित हो गया है, उसके अविचार निरुद्ध भक्तप्रत्याख्यान होता है।^{१७} जिसके सर्पादि के काटे जाने के कारण उत्पन्न हुए रोग से तत्काल मरण उपस्थित हो जाए और जब तक बोली आदि बंद न हुई हो, उसी अंतराल में अपने आचार्य के पास जाकर अपने दोषों की आलोचना करके रत्नत्रय की आराधना में लग जाए, उस साधक के अविचार निरुद्धतर भक्तप्रत्याख्यान होता है।^{१८} जिसके सर्पादि के काटे जाने के कारण उत्पन्न हुए रोग से तत्काल मरण उपस्थित हो जाने पर तत्काल बोली आदि बंद हो गई हो, परन्तु इससे पूर्व अपने आचार्य के पास जाकर अपने दोषों की आलोचना न कर सका हो, फिर भी अंतरंग में अरहंत, सिद्ध व आचार्य आदि को लक्ष्य कर अपने दोषों की आलोचना करके रत्नत्रय की आराधना में जो लग जाए, उस साधक के अविचार परम निरुद्ध भक्तप्रत्याख्यान होता है।^{१९} इन तीनों प्रकार के प्रत्याख्यानों में से अविचार निरुद्ध भक्तप्रत्याख्यान यदि लोगों की जानकारी में आ जाता है, तो प्रकाश रूप व यदि साधक की साधना में किसी के द्वारा भी विघ्न आदि उपस्थित किए जाने की संभाव्यता के कारण उसका प्रकाशित किया जाना अपेक्षित न हो और प्रकाशित न हो, तो अप्रकाश रूप के भेद से दो प्रकार का और माना गया है।^{२०}

इस प्रकार उक्त चर्चा से यह बात स्पष्ट है कि सल्लेखना पूर्वक किया गया मरण ही मुक्तिमार्ग की ओर ले जाने वाला मरण है, इसलिए वही सार्थक मरण है और वही पंडितमरण और समाधिमरण भी। चूँकि भगवती

आराधना के समाधिमरण संबन्धी सभी पारिभाषिकों में भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियों में होने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की सल्लेखना व उसकी प्रक्रिया को समाहित करते हुए आचार्य शिवार्य ने समाधिपूर्वक मरण की बात की है, इसलिए वे सब सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण की बात करते हैं।

इधर संथारा, सल्लेखना और समाधिमरण को कुछ लोग बिना इनके स्वरूप को जाने हुए आत्महत्या या आत्मघात मानने की भूल कर रहे हैं, जबकि वस्तुतः संथारा, सल्लेखना या समाधिमरण आत्महत्या या आत्मघात नहीं है। वास्तव में आत्महत्या या आत्मघात या आत्महिंसा के मूल में नकारात्मक विचार है तथा वैसा करने वाला व्यक्ति समाज से लड़ने में अपने आप को अक्षम मानने लगता है और अपने जीवन को समाप्त करने को ही समस्या का एकमात्र समाधान मानने लगता है तथा तदनुसार ही वह आगे बढ़ता भी है, जबकि संसार में **शरीर और आत्मा के/ जीव के** संयोग मात्र तक की अवधि में निवास का नाम जीवन है, उसका इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि जीवन का नष्ट होना एक शरीर के विनाश-भर तक सीमित नहीं है, जीवन सतत है, एक शरीर छूटता है, फिर दूसरा जुड़ता है और यह प्रक्रिया जब तक जीवन के साथ संसार है, तब तक चलती रहती है और इसीलिए जीव के साथ कर्मों का बंधन जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है, समस्या का कारण यह कर्मबंधन है, न कि केवल शरीर-भर, क्योंकि जो समस्या भी उपस्थित हुई है, वह इस कर्मबंधन के कारण ही हुई है; इसलिए जीव यदि समस्या का स्थायी छुटकारा चाहता है, तो उसे कर्मबंधन से स्थायी छुटकारा पाना चाहिए, न कि केवल शरीर-भर से, आत्महत्या या आत्मघात से तो केवल उस जनम-भर का शरीर-भर छूटता है, कर्मबंधन नहीं, बल्कि कर्मबंधन तो और सघन होता है जिसका परिणाम यह होता है कि सांसारिक समस्याएं छूटने के बजाय और बढ़ती है, जबकि अर्थात् सल्लेखना और समाधिमरण समस्याओं सांसारिक समस्याओं के स्थायी समाधान का नाम है, शरीर छुटकर जब तक संसार है, तब तक अगले जनम में मिलेगा ही, पर धर्म-आराधना का अवसर जरूरी नहीं है कि अगले जनम में मिले ही, पता नहीं कि वह कब फिर मिले?... इसलिए संथारा, सल्लेखना और समाधिमरण करने वाला साधक इस जनम में मिला यह धर्म-आराधना का अवसर जाने नहीं देना चाहता और इसीलिए वह संसार

के सब प्रपंचों से दूर हटकर समाधिस्थ होकर जुट जाता है कर्मबंधन से स्थायी छुटकारा के लिए आत्म-साधना में, उसका मनोबल बढ़ा रहता है, जबकि आत्मघाती का मनोबल क्षीण हो चुका होता है। इसलिए संथारा, सल्लेखना और समाधिमरण आत्महत्या या आत्मघात या आत्महिंसा का यत्न नहीं है, जैसाकि कुछ लोग अज्ञान के कारण मानने लग गए हैं। जो लोग संथारा, सल्लेखना और समाधिमरण को आत्महत्या या आत्मघात या आत्महिंसा के मूल में कहीं न कहीं राग, द्वेष व कषाय की तीव्रता या सघनता होती है और उस सघनता के कारण ही आत्मघाती अपनी हत्या करने के लिए आमादा हो जाता है, यदि आप किसी भी आत्महत्या या आत्मघात या आत्महिंसा के कारण की पड़ताल करें, तो उक्त तथ्य प्रमाणित होता है; जबकि सल्लेखना धारण करने वाला साधक वीतरागी साधना में लगा होता है, इसीलिए तो वह अपनी आलोचना करता है, सबसे क्षमा-याचना करता है और बड़ा निर्मोही होकर बढ़ता है सल्लेखना के पथ पर और यही कारण है कि सल्लेखना की क्रिया के मूल में शरीर के कृश करने के साथ-साथ बल है कषायों के कृश करने पर अर्थात् सल्लेखना में कषाय क्षीण होते हैं या उनकी प्रवृत्ति क्षीण होने की होती है। आत्महत्या या आत्मघात या आत्महिंसा करने वाले के मन में इस तरह का कोई विचार नहीं चलता और न उभरता है, वह तो अत्यधिक राग के कारण किसी बहुत चाही वस्तु या व्यक्ति के न मिलने के कारण या फिर किसी से अत्यधिक द्वेष के कारण अपनी इहलीला समाप्त-भर करना चाहता है बिना कुछ विचार किए हुए; इसीलिए तो यह तथ्य है कि आत्महत्या या आत्मघात या आत्महिंसा करने वाले के कषाय इतने प्रबल होते हैं कि वह राग-द्वेष या मोह के आवेश में आकर विष, शस्त्र या आग आदि के द्वारा उतारू हो जाता है अपना घात करने पर और बन जाता है।

एक और महत्वपूर्ण बात है कि बड़ा साहसी व्यक्ति ही संथारा, सल्लेखना या समाधिमरण का संकल्प ले पाता है, क्योंकि संसार में रहने वाले हर व्यक्ति की प्रवृत्ति बन जाती है किसी भी तरह जीवन को बचाने की और इसमें वह इतना मशगूल हो जाता है कि वह भूल जाता है कि जिस तरह संसार में जन्म निश्चित है, ठीक वैसे ही मृत्यु भी अवश्यभावी है और यह मृत्यु शरीर-परिवर्तन की प्रक्रिया की एक कड़ी-भर है, इसलिए उस पर विषाद

क्यों?.... संथारा, सल्लेखना या समाधिमरण का संकल्प लेने वाला व्यक्ति जीवन से हारा हुआ व विकार सहित विचार वाला नहीं होता, इसीलिए वह हर्ष से मृत्यु को गले लगाता है, जबकि आत्महत्या या आत्मघात या आत्महिंसा करने वाला व्यक्ति जीवन से हारा हुआ व मस्तिष्क में विकारों से भरा हुआ होता है, इसलिए वह विषाय से शरीर छोड़ता है अर्थात् गहरे विषाद में उसकी मृत्यु होती है, इसलिए सागारधर्माभूत में पं. आशाधर जी लिखते हैं कि जिसका विनाश निश्चित है, उस शरीर के लिए इच्छित वस्तु को देने वाले धर्म का घात नहीं करना चाहिए, क्योंकि शरीर नष्ट हुआ तो पुनः अवश्य प्राप्त होगा, किन्तु धर्म अर्थात् समाधिमरण तो अत्यन्त दुर्लभ है, वे और उल्लेख करते हैं कि स्वीकार किये गये व्रतों के विनाश के कारण उपस्थित होने पर जो विधि के अनुसार भक्तप्रत्याख्यान आदि के द्वारा समभाव से शरीर छोड़ता है, उसे आत्मघात का दोष नहीं लगता; क्योंकि क्रोधादि के आवेश से जो विषपान करके या शस्त्रघात द्वारा या पानी में डूबकर अथवा आग लगाकर प्राणों का घात करता है, उसे आत्मघात का दोष लगता है। यथा -

कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात् प्रतीकार्यश्च रोगितः।

उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा॥

नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।

देहो नष्टो पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः॥

न चात्मघोतोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितुः।

कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यैः हिंसतः स हि॥

-सागारधर्माभूत, ८/६-७-८

इससे स्पष्ट है कि संथारा, सल्लेखना या समाधिमरण आत्महत्या या आत्मघात या आत्महिंसा नहीं है, जैसाकि कुछ लोग नासमझीवश मानने लगे गए हैं।

सन्दर्भ :

८. भगवती आराधना की विजयोदया टीका, गाथा-२८

९. णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।

आदमरपओगेण य पडिसिद्धं सब्बपरियम्मं॥ - भग. आराधना, गाथा-२०५८

१०. एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता।

णियमा अणिहारं तं सिया य णीहारमुवसगे॥

उवसगेण वि साहरिदो सो अण्णत्थ कुण्णदि जं कालं।

तम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं॥

पडिमापडिवण्णा वि हु करंति पाओवगमणप्पेगे॥ - भग.आ., गाथा, २०६३-६५

११. भगवती आराधना की विजयोदशा टीका, गाथा-२८

१२. धवला, १/१.१.१/२३

१३. भगवती आराधना, गाथा- २०२४-५५

१४. भगवती आराधना की विजयोदशा टीका, गाथा-२८

१५. धवला, १/१.१.१/२३

१६. दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमघ अविचारं।

सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे॥ - भग. आराधना, गाथा-६४

१७. तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो।

जंघाबलपरिहीणो परगागमणम्मि ण समत्थो॥ - भग. आराधना, गा. २००७

१८. णच्चा संवट्ठिजंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू।

गणियादीणं सण्णिहिदाणं आलोचए सम्मं॥ - भग. आराधना, गाथा-२०१४

१९. बालादिएहिं जइया अक्खिता होज्ज भिक्खुणो वाया।

तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं॥

णच्चा संवट्ठिजंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू।

अरहंतासिद्धसाहूण अंतिगं सिग्घमालोचे॥ - भग. आराधना, गा. २०१६-१७

२०. दुविहं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च।

जणणदं च पगासं इदरं जणेण अण्णादं॥ - भग. आराधना, गाथा-२०१०

- प्रो. व अध्यक्ष, भाषा-विद्यापीठ
महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रिय हिंदी विश्वविद्यालय,

लब्धि स्वरूप एवं विश्लेषण

● डॉ. निर्मला जैन (बैनाड़ा)

आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शन स्वरूप है। इस गुण को आठों कर्मों ने आच्छादित कर दिया है। आत्मा में ज्ञान आदि शक्ति विशेष लब्धि है।

लब्धि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-

“लम्भनं लब्धिः - प्राप्त होना। ज्ञानावरण कर्म क्षयोपशमविशेषः” (स.सि. २/१८, २९६ पृष्ठ १२७)

अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं।

“इन्द्रियनिर्वृत्ति हेतुः क्षयोपशम विशेषो लब्धिः।” (रा.वा. २/१८, १, १३०, २०)

जिस ज्ञानावरण क्षयोपशम के रहने पर आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के लिए व्यापार करता है उसे लब्धि कहते हैं

द्रव्येन्द्रिय - शरीरधारी जीव को जानने के लिए साधन-स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण बाह्य इन्द्रियाँ द्रव्येन्द्रिय हैं।

भाव इन्द्रिय - द्रव्येन्द्रिय के पीछे रहने वाले जीव के ज्ञान का क्षयोपशम व उपयोग भावेन्द्रिय है, जो साक्षात् जानने का साधन है।

“लब्धुपयोगौ भावेन्द्रियम्।” लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय है। - त.सू. २/१८ लब्धि के अनुसार होने वाला आत्मा का ज्ञानादि व्यापार उपयोग है।

“तन्निमित्तः परिणाम विशेष उपयोग” - रा. वा. २/१८, २०, २ पृष्ठ १३०

“मतिज्ञानावरण क्षयोपशमोत्था विशुद्धि जीवस्यार्थ-ग्रहणशक्ति लक्षणलब्धिः” - गो. जी./जी.प्र./१६५/३९१/४

जीव के मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विशुद्धि और उससे उत्पन्न पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति लब्धि है।

इन्द्रिय की निवृत्ति का कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष लब्धि है। इसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना में व्यापार करना है, ऐसे ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष लब्धि है।

“तपोविशेषाद्द्विप्राप्तिर्लब्धिः।”- स.सि. २/४७, ३५३/२

तप विशेष से प्राप्त होने वाली ऋद्धि लब्धि है।

लब्धि भेद -

पांचलब्धि- दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धि। ये पांच लब्धियाँ दानान्तराय आदि के क्षयोपशम से होती है।

“लब्धी पंच वियप्पा दाण-लाह-भोगुपभोग-वीरिय-मिदि।” क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य।^१

दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए य सम्मत्ते।

णव केवल- लब्धीओ दंसणं णाणं चरित्ते य।।

अर्थात् दान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चरित्र ये नौ केवल लब्धियाँ हैं।^२

लब्धिःकाल करणोपदेशोपशमप्रायोग्यता भेदात् पंचधा।

जीवों की सुखादि की प्राप्ति रूप लब्धि काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता पांच प्रकार की होती हैं।^३

खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धि य।^४

क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्यता और करण ये पांच लब्धियाँ हैं।
स्पर्धक - अनेक प्रकार की अनुभाग शक्ति से युक्त कार्मण वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं।

इन पांच लब्धियों के हुए बिना सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है।

क्षयोपशम लब्धि - आठों कर्मों की समस्त अप्रशस्त प्रकृतियों की अनुभाग शक्ति प्रति समय अनन्तगुणी घटती हुई आगे क्रम से उदय में आने लगे उस काल में क्षयोपशम लब्धि है।

स्पर्धक:- उदय प्राप्त कर्म के प्रदेश

अभव्य - अनन्त गुणे, सिद्धो - अनन्त भाग

जो सर्वघाती स्पर्धक के उदय का अभाव यम और सर्वघाती स्पर्धक उदय अवस्था को प्राप्त तो नहीं हुए परन्तु जिनकी सत्ता विद्यमान है वह उपशम ऐसे संयोग की प्राप्ति जिस समय होती है, वह क्षयोपशम लब्धि है।

पूर्व संचित कर्मों के मल रूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय

विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुण हीन होते हुए उदीरणा (नियत काल से पूर्व बद्धकर्मों का उदय में लाकर भोगना) को प्राप्त होते हैं उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है।^६

विशुद्धि लब्धि - क्षयोपशम लब्धि के प्रभाव के बन्ध का कारण धर्मानुराग रूप शुभ भावों की प्राप्ति होना विशुद्धि लब्धि है।^७

इस प्रकार क्षयोपशम लब्धि से साता वेदनीय आदि प्रकृतियों के बन्ध का कारण धर्म अनुराग रूप शुभ भावों की प्राप्ति होती है वह विशुद्धि लब्धि है।

देशना लब्धि - ६ द्रव्य, नवपदार्थों के उपदेश देने वाले आचार्य आदि का मिलना, उपदेश की प्राप्ति होना, उसके स्वरूप को धारणा में लेना देशना लब्धि है।

नरक आदि में जहाँ पर उपदेश देने वाले नहीं हैं वहाँ पर पूर्व जन्म में जो तत्त्व स्वरूप जाना था उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन हो जाता है।

जीव को द्रव्य पदार्थों को बताने वाले आचार्य आदि का समागम, उपदेश का ग्रहण और धारण करने का लाभ देशना लब्धि में होता है।

प्रायोग्य लब्धि - सर्वकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को तीन लब्धियों सहित जीव जब समय-समय विशुद्धता को बढ़ाते हुए आयु कर्म के अलावा सात कर्मों की स्थिति अंतःकोडाकोडि सागर शेष रह जाये। घातियां कर्मों का अनुभाग- रस, दाक और लता रूप बचता है और अघातियाँ कर्मों का अनुभाग- निबं- कांजीर रूप बचता है। ऐसा कार्य करने की योग्यता की प्राप्ति, वह प्रायोग्य लब्धि है।

यह भव्य और अभव्य दोनों के हो सकती है।

इस प्रकार तीन लब्धि- क्षयोपशम, विशुद्धि और देशना लब्धि सहित जीव प्रति समय विशुद्ध होता है और अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग को द्विस्थानीय (लता दारू, अस्थि-शेल में से लता-दारू रूप) करता है।

करण लब्धि - करण कषायों की मन्दता से होने वाले विशुद्धिरूप आत्म परिणाम।

(अ) अधःकरण (ब) अपूर्वकरण और (स) अनिवृत्तिकरण^८

करण का अर्थ है परिणाम - करणाः परिणामाः।^१

जीव के शुभ-अशुभ परिणाम करण है।

अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण तीनों की विशिष्ट निर्जरा के साधन विशुद्ध परिणाम है।^{१०}

(अ) अधःकरण -

प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि से वृद्धिगत होता है। इस करण में नीचे के समय के परिणामों की संख्या और विशुद्धता ऊपर के समयवर्ती किसी दूसरे जीव के परिणामों से समानता लिये होती है। इसलिए इसे अधःप्रवृत्त करण भी कहते हैं।

१. सातादिप्रशस्त प्रकृतियों का प्रतिसमय अनन्तगुणा चतुःस्थानीय अनुभाग बंध गुड, खाण्ड, शर्करा, अमृत के समान चार प्रकार का अनुभाग बन्ध।

२. स्थिति बन्ध का अपसरण होता है।

३. असातावेदनीय अप्रशस्त प्रकृतियों का प्रतिसमय अनन्तगुण घटता हुआ द्विस्थानीय अनुभागबन्ध।

प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि से वृद्धिगत होता है।

इस करण में ऊपर के समय में वर्तमान जीव के परिणाम जैसी विशुद्धता वैसी ही विशुद्धता लिए हुए परिणाम नीचे के समय में वर्तमान जीव के भी होते हैं वह अधःप्रवृत्त करण है।

(ब) अपूर्वकरण -

अ (नहीं) + पूर्व (पहले) = जो पूर्व में नहीं थे। करण = परिणाम अर्थात् आज तक जो परिणाम नहीं थे ऐसे अत्यन्त नवीन परिणाम।

(१) गुण श्रेणी निर्जरा

(२) गुण संक्रमण

(३) स्थिति खण्डन

(४) अनुभाग खण्डन

(१) गुणश्रेणी निर्जरा :- गुणित रूप से उत्तरोत्तर समयों में कर्म परमाणुओं का झरना।

(२) गुण संग्रहण :- प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणी क्रम से परमाणु प्रदेश अन्य प्रकृति रूप परिणामे।

(३) स्थिति खण्डन :- पहले बंधी हुई उन सत्ता में रहने वाली कर्म

प्रकृतियों की स्थिति का घटाना।

(४) अनुभाग खण्डन :- पहले बंधी हुई उन सत्ता में रहने वाली अशुभ कर्म प्रकृतियों का अनुभाग घटाना।

(स) अनिवृत्तिकरण -

अ (नहीं) + निवृत्ति (भेद) + करण (परिणाम)

अर्थात् भेद रहित समान परिणाम।

यहाँ समान समयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम समान होते हैं जितने अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त के समय हैं उतने ही अनिवृत्तिकरण के परिणाम हैं।

करण लब्धि तो भव्य जीवों को ही होती है। “करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात्”^{११}

करण लब्धि भव्य जीव के सम्यक्त्व ग्रहण अथवा चारित्र ग्रहण के काल में ही होती है।

इस प्रकार ज्ञान आदि शक्ति विशेष लब्धि है। सम्यक्त्व प्राप्ति में उक्त पांच लब्धियों (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण) का होना आवश्यक है। इनमें पूर्व की चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों के हो सकती हैं लेकिन पांचवी लब्धि (करण लब्धि) भव्य जीवों के होती है।

संदर्भ :

१. रा. वा. २/५/८/१०७/२८

२. - धवला ५/१, ७, १/१११/३

३. धवला १, १, १/५८-६५; वसु क्षा/५२७ गो. सा. जीव/ जी.प्र./६३/१६४/६

४. नियमसार/ता. दृ. १५६

५. - धवला ६/१-९-८/३, गाथा १/२०४

६. - धवला ६/१.९.८३/२०४-३

७. - धवला ६/१, ९-८, ३/२०४/ ५

८. - धवला ६/१/? ९-८, ४/२१४/५; गो. क.जी.प्र./९/८९७/१०७६/४

९. - धवला १/१, १, १६/१८०/१

१०. - ल. सा./जी. प्र. ३३/६९

११. गो. जी./ जी.प्र. ६५१ / ११०० /९

- हाउस नं. ३९, रोड नं.१,

मयंक कालोनी, १००फिट सौभागपुरा रोड,

उदयपुर (राजस्थान)

पुरुषार्थसिद्धि का स्वरूप और उपाय : एक चिन्तन

● प्राचार्य पं. निहालचन्द जैन

आचार्य अमृतचन्द्र - जैन वाङ्मय में प्रखर भास्वर के समान दसवीं शताब्दी के ऐसे महान आचार्य हैं, जिनका नाम आ. कुन्दकुन्ददेव, उमास्वामी और समन्तभद्र के पश्चात् बड़े आदर के साथ लिया जाता है। “पुरुषार्थसिद्ध्युपाय” इनकी मौलिक रचना है, जिसे श्रावकों की ‘आचार-संहिता’ कह सकते हैं।

इस ग्रन्थ में पुरुष के अर्थ की सिद्धि के उपाय को बताया गया है। पुरुष नाम है आत्मा का, जो चेतन स्वरूप है, स्पर्श रस गंध वर्ण से रहित अमूर्तिक है। पुरुष = पुर यानी उत्तम चैतन्य गुण उनमें जो + शेते यानी स्वामी होकर रहे, आनन्द लेवे, उसका नाम पुरुष है। दूसरे शब्दों में- ज्ञान दर्शन चेतना के स्वामी का नाम पुरुष है। चेतना- आत्मा का असाधारण लक्षण है, जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीन दोषों से रहित है। परिणामों की अपेक्षा चेतना तीन प्रकार की होती है - १. ज्ञान-चेतना २. कर्म-चेतना ३. कर्म-फल-चेतना। जब चेतना, शुद्ध ज्ञान स्वभाव रूप परिणमन करती है, तो ज्ञान-चेतना कहलाती है। जब यह चेतना रागादि कार्य रूप परिणमन करती है तो कर्म-चेतना और जब यह सुख-दुःख आदि भोगने रूप परिणामों को करती है तो कर्म-फल चेतना कहलाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि चैतन्य पुरुष के अशुद्धता कैसे और क्योंकर हो गई ? जिसके कारण इसको अपने अर्थ की सिद्धि करने की आवश्यकता पड़ी। समाधान है- इस आत्मा की अनादिकाल से ही रागादि परिणामों में परिणमन करने के कारण अशुद्ध दशा हो रही है। द्रव्य कर्म से रागादिभाव होते हैं और रागादि भावों से फिर नवीन द्रव्य कर्मों का बंध होता है- आचार्यश्री कहते हैं -

जीवकृतं परिणामं निमित्त मात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्रपुद्गलाः कर्म-भावेन॥१२॥

जिस समय जीव, राग-द्वेष-मोह भाव रूप परिणमन करता है, उस समय उन

भावों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य आप ही कर्म अवस्था को धारण कर लेते हैं यदि आत्मा धर्म-पूजन-अहिंसा आदि प्रशस्त रागादि परिणमन करता है तो शुभबंध होता है और यदि अप्रशस्त मोहादि करता है तो पाप बंध होता है।

जिस प्रकार लाखों वर्षों तक भूगर्भ में दबा काला कोयला - कार्बन तत्त्व, अपनी कालिमा को दूर कर चमकता हुआ हीरा बन जाता है और फिर विशेष यंत्रों से घर्षण और मार्जन से उसकी अलौकिक आभा, कान्ति व पारदर्शिता आ जाती है। इसी प्रकार यह जीवात्मा अनादिकाल से निगोद में दबा पड़ा रहता है, वहाँ से निकलने पर एकेन्द्रियादि पर्यायों में इसका चैतन्य गुण प्रकाशित नहीं हो पाता। मनुष्य भव पाकर, सद्गुरु से संसर्ग व सम्यक्चारित्र की रगड़ से इसका अनन्त ज्ञानादि स्व-चतुष्टय प्रकाश में आता है और तप आदि से कर्मों की कालिमा दूर होकर सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है।

अतः पुरुषार्थ- पुरुष (आत्मा) का अर्थ यानी प्रयोजन उस सर्वोच्च सिद्ध पद पाना है जहाँ शाश्वत-शान्ति है। आत्मा को वह पद किस उपाय से मिल सकता है, इस ग्रन्थ में बताया है। पुरुषार्थ- चार बताये गये हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। प्रारंभ के तीन पुरुषार्थ तो इस लोक के गृहस्थों (श्रावकों) के लिए बताये गये हैं। चौथा पुरुषार्थ संसार के दुःखों से सदा के लिए छूटने के लिए- मोक्ष पुरुषार्थ है। संसार के दुःखों से घूटने का उद्यम ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय - पूर्ण रत्नत्रय है जिसका उपदेश इस ग्रन्थ में श्रावकों के लिए किया गया है। प्रत्येक प्राणी सुख-शान्ति चाहता है, परन्तु इसको पाने का उपाय भूले हुए हैं। आचार्य अमृतचन्द्र देव, जीवों को उस रत्नत्रय-धर्म का उपदेश कराना चाहते हैं। रत्नत्रय है - सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यही आचार्य का अभिधेय है। यह रत्नत्रय धर्म- निश्चय व व्यवहार रूप नयाश्रित है। व्यवहार नय से धर्म- सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र रूप तीन तरह का है, परन्तु निश्चय नय से धर्म वीतरागता रूप ही है।

एक श्रावक अपनी योग्यता व क्षमता पूर्वक उक्त चारों पुरुषार्थों को साधता है। वह न्यायोचित ढंग से अर्थ का उपार्जन करता है। स्वदार संतोष व्रत को पालता हुआ, स्वपरिणीता के साथ संतान प्राप्ति के लिए कामेच्छा करता है अतः वह भी पुरुषार्थ में लिए गया है, क्योंकि उससे श्रावक- कुल परम्परा बनी रहती है। प्रमादवश यदि श्रावकोचित पथ से भटकता है, तो

सम्यक्दर्शन के सहारे पुनः मोक्षमार्ग का ज्ञान प्राप्त कर अभ्यास को दुहराता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने मंगलाचरण में अनेकान्त को इसलिए नमस्कार किया कि वह जैनागम का प्राण है। अनेकान्त का वैशिष्ट्य है कि - “यदि दृष्टि में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और आचरण में अहिंसा हो तो- लौकिक और विश्व के विवादों का शांतिपूर्ण ढंग से हल निकाला जा सकता है। ये ३ सूत्र पुरुषार्थसिद्धि के भी सशक्त साधन या उपाय हैं। बिना अनेकान्त दृष्टि के ज्ञान- अधूरा होता है। अनेकान्त में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का एक सार्थक समन्वय है। यदि लोक में जीना है तो लोक-व्यवहार बनाकर चलो। यदि लोकोत्तर होना चाहते हो तो शुद्ध सम्यक्दृष्टि बनकर लोक व्यवहार से ऊपर उठकर आत्मा की निश्चय दृष्टि अपनाती होगी।

उक्त पुरुषार्थों में ‘मोक्ष-पुरुषार्थ’, जीव का अन्तिम व अभीष्ट लक्ष्य है। उसे प्राप्त करने के उद्देश्य से ही ग्रन्थ में पुरुषार्थसिद्धि के उपायों का विवेचन है। जिसे प्रमुख पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(i) सम्यक्त्व- विवेचन	(ii) सम्यग्ज्ञान- व्याख्यान
(iii) सम्यक्-चारित्र व्याख्या	(iv) सल्लेखना व समाधिमरण तथा
(v) सकल चारित्र व्याख्यान।	

उपदेश सुनने के अभिलाषी को, पहले मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिए और वह यदि मुनिधर्म ग्रहण करने के योग्य सामर्थ्य न रखता हो तो बाद में श्रावकधर्म का उपदेश देवें। मूल लक्ष्य श्रमण धर्म का पालन करते हुए मोक्षमार्गी बनाना है, जहाँ सकल चारित्र का पालन किया जाता है। वस्तुतः उपदेश तो महाव्रत धारण करने का दिया जाता है परन्तु जीव के कल्याण हेतु क्रमिक देशना का व्याख्यान कर श्रावक धर्म का उपदेश आचार्य ने किया।

श्रावक धर्म का व्याख्यान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं-

एवं सम्यग्दर्शन बोध चारित्रत्रयात्मको नित्यम्।

तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः॥२०॥

मुनिराज तो मोक्षमार्ग का सेवन पूर्णरूप से करते ही हैं, किन्तु गृहस्थ को भी यथाशक्ति सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की एकता जो मोक्षमार्ग है, का पालन करना चाहिए। अब यहाँ तीनों का स्वरूप संक्षेप

में बताया जा रहा है।

सम्यक्दर्शन -

इस जीव का परमहितकारी उपाय सम्यक्दर्शन है। अनादिकाल से भूले-गुमराह हुए शिष्य का पहला कर्तव्य मूलभूल मिथ्यात्व को हटाना है। अतः आचार्य सम्यक्त्व का विवेचन करते हुए कहते हैं कि संसार में भूल का मूल कारण- विपरीत बुद्धि का होना है और उसको हटाने का मुख्य उपाय - सम्यक्दर्शन है।¹

विपरीताभिनिवेश हटाकर, सम्यक् निश्चय करता है,
और उसी में लीन होयकर, सम्यक्चारित्र धरता है।
वह ही एक उपाय जीव का, पुरुषार्थ की सिद्धि का,
मोक्ष दशा का बीज वही है, संसारी जड़ कटने का।

मेरा आत्मा पर से भिन्न है- ऐसा निश्चय कर जानना 'सम्यक्ज्ञान' है। तथा आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर व श्रद्धान कर उसमें स्थिर होना, लीन होना या तन्मय होना निश्चय से चारित्र है।

आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम में चारित्र का लक्षण निरूपित करते हुए लिखा है - “पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्” - अर्थात् पाप क्रियाओं का छूटना ही चारित्र है। यहो पाप से तात्पर्य - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद व कषाय- ये चार पाप क्रियायें हैं इनके द्वारा ही घातिया कर्मों का आस्रव व बंध होता है।

सम्यक्ज्ञान -

सम्यक्दर्शन प्राप्त करने के बाद आत्म कल्याण के इच्छुक, आगम, अनुमान एवं प्रत्यक्ष, इन तीन प्रमाणों के द्वारा सम्यक्ज्ञान की पुरुषार्थ के साथ आराधना करना चाहिए। बिना सम्यक्ज्ञान के आत्म कल्याण की सिद्धि नहीं हो सकती। सम्यक्ज्ञानी शुभोपयोग की भूमिका में रहते हुए, यही लक्ष्य रखता है कि जब तक शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं होता, इसका आलम्बन लें।

सम्यक्चारित्र -

सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने से चारित्र रूपी बीज की भूमिका तैयार हो पाती है, जिस बीज का फल, मोक्ष रूप कल्पवृक्ष का उत्पन्न हो जाना है। सम्यक्चारित्र की भूमिका में मुमुक्षु सम्पूर्ण कषायों से

रहित, निर्मल परिणामी होता है।

आचार्य श्री कहते हैं -

चारित्रं भवति यतः समस्त सावद्य योग परिहरणात्।

सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥३९॥

मोह कर्म से रहित योग जब, पाप रहित हो जाते हैं।

अरु कषाय के नष्ट हुए से, निर्मलता पा जाते हैं॥

स्थिरता आ जाती है तब, नाम उसी का है 'चारित'।

वह है आत्म रूप का दर्शन, उदासीनता अवतारित॥

इस सम्यक्चारित्र को पाने के लिए श्रावक १२ व्रतों का पालन, ग्यारह प्रतिमाओं के माध्यम से करता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक के १२ व्रत बताये हैं। वे बारह व्रत- तीन प्रकार के चारित्र के रूप में उपदिष्ट हैं - पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। वे १२ व्रत इस प्रकार हैं- ५ अणुव्रत हैं- अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाण व्रत, ३ गुणव्रत हैं- दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत, ४ शिक्षाव्रत हैं- सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाणव्रत, अतिथिसंविभाग व्रत ये ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत सप्तशील के नाम से भी जाने जाते हैं। उक्त १२ व्रतों को धारण करता हुआ ग्यारहवीं प्रतिमा में वह उत्कृष्ट श्रावक का दर्जा प्राप्त कर लेता है जो श्रमण (साधु) बनने की पूर्व तैयारी है अर्थात् वह पांचवें गुणस्थान से छठवें- सातवें गुणस्थान में पहुँचने का पुरुषार्थ करता है।

सल्लेखना एवं समाधिमरण -

मरण का काल निकट होने पर श्रावक शान्तभाव से अपने शरीर का त्याग करे, इसीलिये आहार और कषाय के त्याग रूप सल्लेखना की भावना करनी योग्य है। सम्यक् प्रकार से काय व कषाय के क्षीण करने को सल्लेखना कहते हैं।^१ इससे अहिंसा व्रत का पालन भी हो जाता है। सल्लेखना करने में आत्मघात का दोष नहीं लगता है। धर्मात्मा श्रावक-पुरुष को जब शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न हो जाती है, तो उसे दूर करने के लिए औषधादिक का सेवन करता है। परन्तु यदि रोग असाध्य हो, बचना सम्भव नहीं हो तो, तो सल्लेखना धारण कर धर्म की रक्षा करता है।

श्रावक का लक्ष्य :

पंचम गुणस्थान से ऊपर जाने का होता है। वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव करके, प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्रमशः अभाव करता हुआ ग्यारह प्रतिमाओं के एकदेश चारित्र का पालन करता है और आत्मध्यान का अभ्यास बढ़ाता जाता है। जब वह प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव कर लेता है, तब मुनिपद को ग्रहण करने की शक्ति या योग्यता आ जाती है और उसका पुरुषार्थ एकदेश-चारित्र से सकल चारित्र के पालन में लग जाता है। सकल चारित्र में बारह प्रकार के तप (छह आभ्यन्तर तप व छह बाह्य तप) षट् आवश्यक, पाँच समिति, तीन गुप्ति और दस धर्म का पालन करते हुए श्रमणाचार्य बनता है तथा निरन्तर २२ परीषहों को समतापूर्वक सहता हुआ बारह भावनाओं का चिन्तन करता रहता है।

उपसंहार - मोक्ष के अभिलाषी श्रावकों का कर्तव्य है कि वे मोक्ष का उपाय अपनावें तभी उसकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति में पहले अपूर्ण या विकल रत्नत्रय ही सही, उसे प्राप्त करें, धारण करें। पश्चात् वह समग्रता को प्राप्त होता है।^१ जो श्रावक यह चाह करत है, मुक्ति मुझे प्राप्त होवै।

उसका यह कर्तव्य कहा है, रत्नत्रय को वह सैवे॥

चाहे वह अपूर्ण ही होवे, तो भी धारण है करना।

क्रम-क्रम से पूरण होता है, मुक्ति रमा अन्तिम वरना॥

संदर्भ :

१. विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्माद विचलनं स एव पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम्॥१५॥ पुरुषार्थ
२. गृहीणा त्रेधा त्रिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षा वृतात्मकं चरणं।
पंच त्रि चतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यामाख्यातम्॥५१-रत्न॥
३. मरणेऽवश्यंभाविनि कषाय सल्लेखना तनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्मि॥१७७- पुरुषा.
४. इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता॥२०९॥

- निदेशक, वीर सेवा मंदिर,

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' स्मृति व्याख्यानमाला २२ दिस. २०१३ में दिया गया व्याख्यान -

आचार्य समन्तभद्र का आप्त मीमांसा

प्रो. श्रीयांश कुमार सिंघई, जयपुर

जिनोपदेश को सर्वोदय तीर्थ^१ उद्धोषित करने वाले महान् तार्किक आचार्य समन्तभद्र ने ईसा की द्वितीय-तृतीय शताब्दी में भारत भूमि को अलंकृत किया था।^२ उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की जो विरासत हमें मिली है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि वे अप्रतिम प्रतिभा के धनी थे। निर्दोष भक्ति भावना के उन्नायक स्तोत्रकार तो वे आज भी हैं। समीचीन धर्म को प्रसिद्ध करने वाले आचार्य समन्तभद्र को निर्द्वन्द्व रूप से हम जिनधर्मोन्नायक महान् श्रमण मान सकते हैं। मुक्ति मूलक पुरुषार्थ की अभिव्यञ्जना और सन्मार्ग की प्रभावना के लिये युक्त्यनुशासन के प्रस्तोता के रूप में उनकी ख्याति सदा अमर रहेगी। उनकी देशना सर्वत्र हितमितस्वरूपा और अपराजिता होने का गौरव से मंडित है। उनके भद्रार्थ का प्रद्योत जहाँ सर्वत्र ज्योतिर्मय है तो वहीं युक्तियों का प्रयोग भी सर्वथा अकाट्य माना जा सकता है। उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रमेय प्रमाणपरिधि का उल्लंघन नहीं करते हैं और सत्यानुगुम्फित होकर मानों भद्र प्रयोजन पर केन्द्रित होते हुये प्रस्फुटित होते हैं। शायद इसीलिये ही आचार्य शुभचन्द्र ने अपने पाण्डव पुराण में उन्हें भारतभूषण के विशेषाख्यान से अभिहित किया है।^३

समन्तभद्र की रचनाओं में स्तुतिविद्या (जिनशतकम्), स्वयम्भूस्तोत्रम् (समन्तभद्रस्तोत्रम्), युक्त्यनुयनुशासनम् (वीरजिनस्तोत्रम्), आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्रम्) और रत्नकरण्डश्रावकाचारः (समीचीनधर्मशास्त्रम्) नामक संस्कृत रचनायें आज हमें उपलब्ध हैं।^४

आप्तमीमांसा पर दो महान् तार्किकों आचार्य भट्टकलंकदेव और विद्यानन्द ने टीकायें लिखी हैं। जिनका दार्शनिक जगत् में अपना अप्रतिहत वैशिष्ट्य है। इनमें भट्टकलंक ने अपनी टीका को आप्तमीमांसा भाष्य से

अभिहित किया है, जो आठ सौ श्लोक प्रमाण होने से अष्टशती के नाम से विख्यात हुई। यह कृति अत्यन्त क्लिष्ट एवं गूढार्थ निवेशित है। आचार्य विद्यानंद की टीका अष्टशती के गूढ़ रहस्यों को समझ सकना संभव हुआ है। अष्टसहस्री में अष्टशती को पूर्णरूप से यथा स्थान आत्मसात कर लिया गया है। टीकाकार ने स्वयं अपनी इस टीका को आप्तमीमांसालंकृति नाम दिया है।^१

आप्तमीमांसा या देवागमस्तोत्र समन्तभद्र की अनुपलब्ध कृति गन्धहस्ति महाभाष्य का मंगलाचरण प्रतीत होता है। क्योंकि चौदहवीं शती के विद्वान् विक्रान्तकौरव के रचनाकार हस्तिमल ने देवागम स्तोत्र के उपदेशक आचार्य समन्तभद्र को तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्यान स्वरूप गन्धहस्ति का प्रवर्तक माना है।^२ विक्रमसंवत्सर की तेरहवीं शती में हुये अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघु समन्तभद्र ने भी अपने पादटिप्पण में आचार्य समन्तभद्र को स्याद्वादविद्या का अग्रगण्यगुरु और तत्त्वार्थधिगम स्वरूप मोक्षशास्त्र के महाभाष्य गन्धहस्ति का उपनिबन्धकर्त्ता बताया है। उनके अनुसार समन्तभद्र ने इसी गन्धहस्तिमहाभाष्य के मंगलाचरण में मंगल को पुरस्कृत करके मंगलस्तवन के विषयभूत परम आप्त अर्हन्त परमेष्ठी को अतिशय परीक्षा से उजागर या उपक्षिप्त करते हुये देवागम स्तोत्र नामक प्रवचनतीर्थ की सृष्टि (रचना) को पूरा किया था।^३

उक्त उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा परक देवागमस्तोत्र को गन्धहस्ति महाभाष्य के मंगलाचरण के रूप में तत्त्वार्थसूत्र की टीका करने के लिये लिखा था। यहाँ उन्होंने अपनी परीक्षा प्रधान दृष्टि से आप्त पुरुष अर्हत्परमेष्ठी के ही अपना आराध्य घोषित किया है। 'अर्हन्नेव सर्वज्ञः' की तार्किक मीमांसा इस स्तोत्र में अत्यन्त सहज भाव से हुई है, मंगलाचरण स्वरूप लिखे गये किसी विशेष श्लोक के प्रमेय को व्याख्यापित करने के लिये नहीं। आप्तमीमांसा स्तोत्र में जो प्रमेय अवतरित हुआ है, वह अत्यन्त स्पष्ट है और हमें समन्तभद्र की विलक्षण प्रतिभा का आभास करा देता है। आचार्य समन्तभद्र नानाशास्त्रों के अध्येता एवं जैन-जैनेतर दार्शनिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने अपने आराध्य या उपास्य आप्त पुरुष को सर्वज्ञ स्वीकार किया है जिसकी तार्किक सिद्धि करना ही उन्हें

अभीष्ट रहा है। मोक्ष मार्ग के नेतृत्व और कर्मभूभृत् के भेतृत्व को सिद्ध करने वाली प्रतिपत्ति हमें यहाँ दिखाई नहीं देती है फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि “मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥” - यह मंगलाचरण समन्तभद्र के सामने था और उन्होंने उसमें प्रतिपादित आप्त की ही व्याख्या आप्तमीमांसा स्तोत्र में की है। अपने आप्त को वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी के रूप में जानना और समझना उन्हें केवल तत्त्वार्थसूत्र से ही नहीं तदितर वाङ्मय से भी संभव था। अतः यह कहना कि उपर्युक्त श्लोक उनके सामने था और उससे प्रेरित होकर ही उन्होंने आप्त की मीमांसा की, यह समीचीन एवं अपरिहार्य नहीं माना जा सकता है। उस श्लोक के बिना ही आप्त की मीमांसा करना समन्तभद्र के लिये असम्भव था, यह नहीं माना जा सकता है।

आप्त मीमांसा स्तोत्र ११४ अनुष्टुप छन्दों में अपने प्रमेय को प्रस्फुटित करता है। जिसे विषय निरूपणा की दृष्टि से दश परिच्छेदों में विभाजित करना टीकाकारों को अभीष्ट रहा है। उसी अनुक्रम से उसकी कुछ झलक यहाँ प्रस्तुत है -

प्रथमपरिच्छेद -

प्रथमपरिच्छेद का प्रमेय तेईस छन्दों में अपने अनूठे वैशिष्ट्य को लिये हुये उपस्थित हुआ है। आरम्भ के छह छन्दों में ही आचार्य समन्तभद्र ने अपने आप्त पुरुष (अर्हत्परमेष्ठी) का समुल्लेख बिना किसी नामोल्लेख के कर दिया है। क्या विलक्षण शैली है उनकी ? विचार करोगे तो पायेंगे कि स्तोत्र के रूप में ख्यात उनका यह मंगलाचरण विषयक स्तवन कितनी सशक्त प्रेरणा है और कितना बहुमूल्य है। मानों हमें ही तो सचेत कर रहा है कि अपने आराध्य या उपास्य को हम आप्त की मर्यादा में जाने और उनकी शरण में जाने से पहले भक्तिभाव प्रसूनपुञ्ज होकर भी उनके बारे में सोचें अवश्य। उनके निर्दोष व्यक्तित्व पर ही रीझें, दिखाई देने वाले बाह्य व्यक्तित्व पर ही लूट नहीं हों, परमार्थशून्य ढकोसलों में उलझें नहीं, निर्णय अवश्य करें तथा अपने निर्णय को तर्क की कसौटी पर कसकर ही किसी को आप्त मानें। देखिये समन्तभद्र क्या कह रहे हैं - “देवों का आना, आकाश में गमन, छत्र चामरादिक विभूतियाँ आपकी हैं पर इस कारण से तुम महान् नहीं हो क्योंकि

ये सब तो मायावियों में भी दिखाई देने लग जाती हैं। आपका दिखाई देने वाला अन्तरंग एवं बहिरंग विग्रहादि महोदय भी यद्यपि दिव्यता और सत्यता को लिये हुये हैं तथापि उनके कारण से तुम महान् नहीं हो सकते क्योंकि वे तो रागादि स्वरूप वाले स्वर्ग के देवों में भी होते हैं।^{१८}

यहाँ अभिलक्षित विग्रहादि महोदय, चामरादि विभूतियाँ और देवागमादिक प्रवृत्तियाँ तीर्थकरों की होती हैं, यह जानते हुये भी समन्तभद्र उनके सद्भाव से ही किसी तीर्थकर को महान् मानने को तैयार नहीं है। इसका कारण यह है कि उस समय तक सुगत आदि अनेक तीर्थकर प्रस्थापित हो चुके थे। किन्तु उनके तीर्थकरत्व स्वरूप समय यानि शास्त्र परस्पर विरोधी प्ररूपणा करने वाले होने से अपने तीर्थकरों की आप्तता को सिद्ध करने में असमर्थ थे। उन तीर्थकरों के उपदेश में की गयी वस्तु विवेचना भी पारस्परिक मतभेदों को द्योतित कर रही थी, जिससे वे सभी के सभी तीर्थकर आप्त नहीं हो सकते थे क्योंकि आप्त तो सत्य वस्तु का प्ररूपक होता है और सत्य वस्तु तो सर्वदा सर्वत्र सभी के लिये समान ही होती है। वह प्ररूपणकर्त्ता के भेद से बदल नहीं सकती है। यदि प्ररूपणा के आधार पर आप्त का निर्णय करें भी तो इनमें कोई एक ही तो आप्त होता। यही समन्तभद्र का कहना है -

“तीर्थकृत्समयानाज्य परस्परविरोधतः।

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः॥”^{१९}

इसके उपरान्त समन्तभद्र की स्पष्टोक्ति^{२०} है कि जिनकी राग द्वेष आदि दोषों की और ज्ञान सामर्थ्य के आवरक कारणों की सम्पूर्णतः (सर्वथा) हानि हो चुकी है, उन तीर्थकरों को आप्त माना जा सकता है। जैसे किसी पुरुष विशेष में अन्तरंग और बहिरंग मलों का नाश उसके अपने कारणों के मिल जाने पर देखा जाता है वैसे ही किसी पुरुष विशेष में पाये जाने वाले दोषों और आवरणों की हानि भी उसके अपने कारण मिलने पर संभव होती है। यह हानि न्यूनाधिक भी देखी जाती है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि किसी में यह हानि सातिशय होने से सर्वाधिक या सम्पूर्ण भी होती है। रागादि दोषों की सम्पूर्ण हानि होने से वीतरागता और आवरणों (ज्ञान के आवरक की कारणों) की सम्पूर्णतः हानि हो जाने से सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है, यही परम आप्त होने की अपरिहार्य योग्यता है।

“सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा। तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥”^{१२} इस वचन से स्पष्ट होता है कि शास्त्रवचनों से किसी के सर्वज्ञ होने का निर्णय करना दुरुहतर कार्य है। यह अन्योन्याश्रित होने से अप्रमाण भी होगा। कोई सर्वज्ञ प्रत्यक्षतः उपलब्ध भी नहीं है। फिर कैसे कोई सर्वज्ञ होता है, यह मान लिया जाये। समन्तभद्र ने संभवतः इसी का समाधान करने के लिये निम्न करिकायें लिखी हैं -

“सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥”^{१३}

यहाँ अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि की गयी है जो दार्शनिक जगत् में सर्वाधिक प्राचीन प्रतिपत्ति मानी जा सकती है। यहाँ “सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः” यह प्रतिज्ञा वाक्य है। “अनुमेयत्वात्” यह हेतु वचन है। “यथा अग्न्यादिः” यह उदाहरण है। इसका मतलब यह है कि स्वभाव से विप्रकृष्ट सूक्ष्मपदार्थ परमाणु आदि, कालविप्रकृष्ट अन्तरितपदार्थ राम रावण आदि तथा देशविप्रकृष्ट दूरस्थपदार्थ मेरु पर्वत आदि किसी के लिये प्रत्यक्ष होते हैं क्योंकि वे हमारे अनुमान का विषय है। जो अनुमान का विषय होता है वह किसी के लिये प्रत्यक्ष होता है। जैसे पर्वत पर मौजूद अग्नि धूमदर्शन से अनुमेय होती है तो किसी को प्रत्यक्ष भी होती है। यहाँ सूक्ष्म पदार्थ परमाणु हमारे लिये अनुमान गोचर है। स्कन्ध की अन्यथानुत्पत्ति परमाणु के साथ है और अपना अविनाभाव सम्बन्ध द्योतित करती है। इसीलिये किसी स्कन्ध को देखकर यह परमाणुओं के मेल से बना है, यह ज्ञान होता है। इस प्रकार परमाणु अनुमेय हैं। ऐसे ही पिता से पुत्र की उत्पत्ति होती है मेरे पिता की भी पुत्र के रूप में उत्पत्ति अपने पिता से हुई होगी। उनके पिता की अपने पिता से हुई होगी। इस प्रकार सुदीर्घ पितृ परम्परा का ज्ञान हमें अनुमान से होता है, अतः वे हमें अनुमेय हैं। ऐसे ही निकटवर्ती पर्वत, नदी आदि को देखकर सुदूरवर्ती नदी आदि का अनुमान संभव है, अतः वे भी अनुमेय हैं। ये सभी हमारे अनुमेय हैं। इसलिये किसी के प्रत्यक्ष भी हैं। इस प्रकार सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वही तो सर्वज्ञ है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि सर्वज्ञ को हम प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं कर सकते हैं तो कोई भी सर्वज्ञ नहीं है, कहीं पर भी सर्वज्ञ नहीं है, कभी भी कोई सर्वज्ञ नहीं होता है - यह भी सिद्ध नहीं कर सकते हैं। सर्वकाल और सर्वदेश में सभी को जानकर ही यह कहा जा सकता है कि कोई सर्वज्ञ नहीं है। यदि बिना जाने कहेंगे कि सर्वज्ञ नहीं है तो कथन की प्रामाणिकता नहीं होगी तथा जानकर कहे जाने पर कहने वाला ही सर्वदेश और सर्वकालवर्ती सर्व को जानने वाला होने से सर्वज्ञ कहलायेगा।

इस प्रकार कोई सर्वज्ञ हो सकता है यह सिद्ध करने के उपरान्त समन्तभद्र ने घोषणा कर दी कि हे भगवन्! वह सर्वज्ञ तुम ही हो क्योंकि तुम निर्दोष हो। आपकी वाणी अर्थात् संसार मोक्ष और उनके कारणों का कथन करने वाली देशना भी युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध स्वभाव वाली है इसलिये आप युक्तिशास्त्राविरोधी वाक् हो। (युक्तिशास्त्राभ्यामविरोधिनी वाक् यस्य स त्वमेव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् इति) हे भगवन्! आपके वचनों में कोई विरोध या विसंवाद भी नहीं है। इसका कारण आपके इष्ट तत्त्व अर्थात् संसार मोक्ष और उनके कारणों की प्ररूपणा करने रूप उपदेश में किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधा नहीं आती है। किन्तु आपके उपदेशामृत से वञ्चित या आपके मत को न मानने वाले अर्थात् आपके स्याद्वाद मत से बाह्य जन जो सर्वथा एकान्तस्वरूप वस्तु की प्ररूपणा करते हैं और आप्त न होते हुये भी आप्तविभमान से दग्ध हैं। उनका स्वेष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण से बधित हो जाता है।^{१४} क्योंकि वस्तु सर्वथा नित्य है या अनित्य है - ऐसे सर्वथा एकान्त के ग्रहण से रञ्चित-रोमाञ्चित या प्रसन्न होने वाले एकान्तग्रह रक्त लोग स्वपर सिद्धान्त के बैरी हैं क्योंकि एकान्त की प्ररूपणा करने से लोक विरुद्धता आ जाती है। इस प्रकार स्वपर सिद्धान्त के वैरी सर्वथैकान्तवादियों के यहाँ पुण्य-पाप कर्म एवं परलोक का होना कहीं पर किसी भी प्राणी में सिद्ध नहीं होता है जबकि पुण्यपापादिक कुशल या अकुशल कर्म लोक जीवन में स्वतः अनुभूत होकर प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होते हैं। यह सर्वथैकान्तवादियों के माने गये स्वेष्ट को मानने में स्वानुभवगम्य या लोक प्रत्यक्ष रूप दुष्ट प्रमाण से बाधा है।^{१५}

सर्वथैकान्त को मानने पर प्रत्यक्ष गोचर लोक व्यवस्था किस प्रकार

असंभव या मिथ्या हो जायेगी यह बताने के लिये आचार्य समन्तभद्र ने कहा कि भावैकान्तवाद, अभावैकान्तवाद और भावाभावैकान्तवाद को मानने पर दूषणों की प्रादुर्भूति अपरिहार्य हो जाती है। पदार्थों का सर्वथा सद्भाव धर्म ही होता है - ऐसा कहने पर अभाव धर्म का अपह्नव होता है अर्थात् वस्तु में अभाव धर्म होने पर भी उसको नहीं मानने का भ्रम खड़ा हो जाता है। सर्वथाभावैकान्तवादियों के अनुसार यदि पदार्थों को मात्र सर्वथा सत्त्व स्वरूप भावैकान्त मान लिया जाये तो उन पदार्थों में अभावधर्म का अपह्नव होने से हमारी बुद्धि भ्रमित हो जायेगी। यदि इस भ्रम मूलक बुद्धि को सही मान लें तो सारी वस्तु व्यवस्था ही मिथ्या हो जायेगी क्योंकि प्रत्येक वस्तु में विद्यमान अभावधर्म को अस्वीकार करने पर सभी वस्तुएं एकमेक (सर्वात्मक) हो जायेंगी। किसी वस्तु का कोई स्वरूप ही नहीं ठहरेगा। तथा सबसे बड़ी विसंगति यह खड़ी हो जायेगी कि भावैकान्तवादी को कहना पड़ेगा कि सर्वथा भावैकान्त को मानने से समुत्पन्न लोकविरोध स्वरूप प्रतिफलित वस्तु मेरी ही है, तुम्हारी नहीं। (तवेदं तावकं न तावकमतावकमिति प्रतिपत्त्या न तवेदं ममेदमेव प्रसाधयति अतावकं पदमिति)। पदार्थों को मात्र भाव स्वरूप ही मानने पर भावैकान्तवाद में अत्यन्ताभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव रूप चतुर्विध अभावधर्म का अपह्नव हो जाने से उनका यह वस्तुगत विरोध उपर्युक्त दूषणों से दूषित होकर भावैकान्तवादियों को ही स्वेष्ट हो सकता है, यथार्थवादियों को नहीं, यह स्पष्ट हो जाता है। आचार्य समन्तभद्र के निम्न श्लोकों का पर्यवलोकन भी यहाँ आवश्यक लगता है -

“भावैकान्ते पदार्थानामभावानामह्वात्।

सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्॥

कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्वे।

प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां ब्रजेत्॥

अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा।”^{१६}

अर्थात् सर्वथा भावैकान्त मानने पर पदार्थों के अत्यन्ताभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव से ज्ञापित चतुर्विध अभावधर्म का अपह्नव हो जाने से सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे उन्हें अनादि अनन्त और स्वरूप

रहित भी करना पड़ेगा। प्रागभाव का निहव मानने पर कार्यद्रव्य अर्थात् द्रव्यों में होने वाला कार्य अनादि मानना पड़ेगा और प्रध्वंस धर्म का प्रच्यव होने पर अर्थात् प्रध्वंसाभाव का अभाव मानने पर कार्यद्रव्य अनन्तता को प्राप्त हो जायेगा, उसका कभी नाश ही नहीं हो सकेगा। अन्यापोह का व्यतिक्रम अर्थात् अन्योन्याभाव न मानने पर अनन्तधर्मात्मक तत्त्व (वस्तु) सर्वात्मक या एक रूप ही हो जायेगा। तथा अत्यन्ताभाव के अभाव में अर्थात् अन्यत्र समवाय मानने पर (अमुक गुण का अमुकगुणी में ही समवाय होता है इसलिये गुण विशेष का कहीं अन्यत्र भी समवाय मानना अत्यन्ताभाव का लोप है) यह पदार्थ सर्वथा इस गुणवाला ही है यह व्यपदेश-कथन भी नहीं किया जा सकेगा।

वस्तु में भाव रूप धर्म है ही नहीं- इस प्रकार सद्भावधर्म का अपहव करने वालों के यहाँ सर्वथा अभावैकान्त मानने पर कुछ भी सिद्धि नहीं की जा सकती है क्योंकि उनके यहाँ न तो बोध (ज्ञान) को प्रमाण सिद्ध किया जास सकता है और न ही वाक्य को। फिर वे किससे स्वपक्ष का साधन करेंगे और परमत का दूषण दिखायेंगे। अतः अभावैकान्तवाद में कुछ भी संभव नहीं हो सकता है। यह समन्तभद्र ने स्पष्ट कर दिया है।^{१७}

सर्वथाभावैकान्त और अभावैकान्त के दोषों से बचने के लिये कुछ लोग वस्तु में भाव और अभाव धर्मों को तो मानते हैं पर उन्हें सापेक्ष नहीं मानकर सर्वथा निरपेक्ष ही मानते हैं। क्योंकि सापेक्ष मानने पर उन्हें स्याद्वाद न्याय को मानना पड़ेगा। ऐसे उभयैकान्तवादियों को भी लक्षित करके आचार्य न कहा कि इस स्याद्वादन्याय के विद्वेषी जनों के यहाँ भाव अभाव सापेक्ष रूप से नहीं माने जा सकते हैं और उनका निरपेक्ष अस्तित्व उनके यहाँ बन नहीं सकता है। फिर दोनों की सर्वथा एकात्मता कैसे बनेगी? उनमें परस्पर विरोध होने से उनकी सर्वथा एकात्मता मानने में विरोध आता है।^{१८} अतः भाव और अभाव को निरपेक्ष मानने वाला उभयैकान्तवाद भी समीचीन नहीं है।

तत्त्व सर्वथा अवाच्य है अतः उसका प्ररूपण कथमपि संभव नहीं है- ऐसा कहने वाले अवाच्यतैकान्तवादियों को भी सही नहीं माना जा सकता है क्योंकि जब तत्त्व सर्वथा अवाच्य है और किसी भी अपेक्षा से उसका कथन नहीं किया जा सकता है तो 'तत्त्व अवाच्य है' यह उक्ति भी सर्वथा

अवाच्यतैकान्त में युक्त नहीं है।^{१९} क्योंकि अवाच्य है, यह कहने पर वाच्य नहीं है इस रूप में तो तत्त्व वाच्य हो ही गया। अन्यथा उसे कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार सर्वथा अवाच्यतैकान्त सदोष सिद्ध होता है। तत्त्व को कथञ्चित् वाच्य मानकर ही उपर्युक्त दोष से बचा जा सकता है। अतः समन्तभद्र ने कथञ्चित् भावैकान्त, कथञ्चित् अभावैकान्त, कथञ्चित् उभयैकान्त और कथञ्चित् अवाच्यतैकान्त स्वरूप तत्त्व को यानि वस्तु को प्ररूपित किया और उसे सिद्ध करने के लिये स्याद्वादन्याय को भी प्रतिष्ठित किया है -

“कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
 तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा॥
 सदैव सर्व को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्।
 असदेव विपर्यसान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥
 क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तिततः।
 अवक्तव्योत्तराः शेषस्यो भंगाः स्वहेतुतः॥^{२०}

यहाँ आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट कर दिया है कि आपके अर्थात् जिन परमेष्ठी आप्त के द्वारा निर्दिष्ट जो इष्ट तत्त्व है वह किसी अपेक्षा से (कथञ्चित्) सत् ही है, किसी अपेक्षा से असत् ही है, किसी अपेक्षा से सत् भी है और असत् भी है, किसी अपेक्षा से अवक्तत्व है, किसी अपेक्षा से सद् अवक्तव्य है किसी अपेक्षा से असद् अवक्तव्य है और किसी अपेक्षा से सदसत् अवक्तव्य है। ये सब कथन विवक्षा भेद से अर्थात् नय के योग से संभव है, सर्वथा नहीं। ऐसा कौन होगा जो सभी वस्तुओं को उनके अपने द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव रूप चतुष्टय से सत् नहीं मानेगा। स्वचतुष्टय का विपर्यास अर्थात् विलोम पर चतुष्टय है उसकी अपेक्षा से अर्थात् पर पदार्थ का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का होना स्व द्रव्य में नहीं है, इस अपेक्षा से वह असत् ही है। यदि ऐसा न माना जाये तो कोई भी तत्त्व व्यवस्थित ही नहीं माना जा सकेगा अथवा किसी भी तत्त्व की व्यवस्था का निश्चय ही नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार सत् और असत् दोनों ही धर्म प्रत्येक वस्तु में स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से सिद्ध हैं और कहे जा सकते हैं। इसलिये सत्त्व को

कहने के समय वस्तु कथञ्चित् सत् कहलाती है और असत्त्व को कहने के समय कथञ्चित् असत्। किन्तु यदि सत्त्व असत्त्व दोनों को क्रम से कहने के समय वस्तु को कथञ्चित् उभयरूप या द्वैतस्वरूप (सत्-असदात्मक) कहा जाता है। इन दोनों धर्मों (सत्त्व-असत्त्व) का क्रम से कथन करना तो संभव होने पर भी एक साथ (युगपत्) कथन करना अशक्य होने से वस्तु अवक्तव्य या अवाच्य कहलाती है।

यहाँ तक सत्-असत् धर्मयुगल की अपेक्षा वस्तु को समझाने के लिये भंग कहे - (१) वस्तु कथञ्चित् सत्त्व रूप है। (२) वस्तु कथञ्चित् असत्त्व रूप है। (३) वस्तु कथञ्चित् सदसदात्मक उभयरूप है। और (४) वस्तु कथञ्चित् अवक्तव्य है।

इनकी प्रतिपत्ति कराके समन्तभद्र ने शेष तीनभंग अभी शेष हैं जिन्हें अपने-अपने हेतु से समझ लेना चाहिये। इसका मतलब स्पष्ट है कि किसी एक धर्मयुगल की मुख्यता से वस्तु को सात भंगों के बिना निर्द्वन्द्व समझना या कहना संभव नहीं है। इस प्रकार सात भंगों से वस्तु को समझने समझाने रूप सप्तभंगी न्याय की प्रतिष्ठा समन्तभद्र के समय तक हो चुकी थी।

जैन परम्परा में सदसत् रूप परस्पर विरोधी धर्म युगल प्रत्येक वस्तु में है, यह कैसे संभव है ? इसे स्पष्ट करने हेतु समन्तभद्र कहते हैं -

“अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।

विशेषणत्वत् साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया॥

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।

विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया॥”^{२९}

प्रत्येक धर्मों में अस्तित्व अपने प्रतिषेध्य (नास्तित्व) के साथ अविनाभावी है। नास्तिक अस्तित्व के होने पर ही प्रतिषेध्य रूप हो सकता है। बिना अस्तित्व के नास्तित्व नहीं होता है। अतः अस्तित्व और नास्तित्व वस्तु में वैसे ही विशेषण हैं जैसे हेतु में साधर्म्य और वैधर्म्य होते हैं। प्रत्येक धर्मों में अस्तित्व नास्तित्व का अभिनाभावी है क्योंकि वह विशेषण है वह अपने धर्मों में प्रतिषेध्य धर्म का अविनाभावी होता है जैसे हेतु में साधर्म्य भेदविवक्षा से वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है। यहाँ साधर्म्य अन्वय को तथा वैधर्म्य व्यतिरेक

को कहते हैं। साध्य के साथ हेतु का अन्वय व्यतिरेकपने से अविनाभाव होता ही है। वही हेतु समीचीन है जिसमें अन्वय व्यतिरेक अर्थात् साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों घटते हों। “पर्वत पर अग्नि है, धूम होने से”। यहाँ पर्वत पर अग्नि साध्य है और धूम का होना हेतु है। अग्नि के होने पर ही धूम होता है, यह अन्वय धर्म है तथा अग्नि के नहीं होने पर धूम नहीं होता है यह व्यतिरेकधर्म है। इस प्रकार धूमहेतु में साधर्म्य वैधर्म्य घटित हो जाते हैं जिससे दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध भी अभिव्यक्त हो जाता है।

इसी प्रकार नास्तित्व भी अपने प्रतिषेध्य अस्तित्व के साथ प्रत्येकधर्मी में अविनाभावी है। क्योंकि नास्तित्व भी एक धर्मी का विशेषण है। यह घट है, पट नहीं है क्योंकि घटपने है पटपने नहीं। यहाँ घट का अस्तित्व रूप विशेषण ‘घटपने है’ इससे ज्ञात हो जाता है। तथा ‘पट’ नहीं है’ - से नास्तित्व विशेषण ज्ञात होता है। नास्तित्व विशेषण होने से अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी होता है। वैसे ही जैसे हेतु में अभेद विवक्षा से वैधर्म्य साधर्म्य का अविनाभावी है।

यहाँ यदि यह कहा जाये कि एक धर्मी में अस्तित्व नास्तित्व विशेषण भले हों पर वे विशेष्य नहीं माने जा सकते हैं और वे अभिलाष्य भी नहीं है तो समन्तभद्र कहते हैं कि -

‘विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः।

साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्ष्या॥”^{२२}

अर्थात् अस्तित्व नास्तित्व विशेषणों से ही धर्मी विशेष्य कहलाता है तथा शब्दगोचर भी है। जैसे साध्य का धर्म अपेक्ष के भेद से हेतु भी होता है और अहेतु भी होता है।

प्रत्येक वस्तु अस्तित्व (विधेय) और नास्तित्व (प्रतिषेध्य) स्वरूप वाली है। यहाँ वस्तु विशेष्य है। शब्द का विषय बनने वाली विशेष्य रूप वस्तु विधि प्रतिषेध ही होती है। अपने स्वरूप से कही जाने की विवक्षा में विधिरूप तथा पर रूप से कही जाने की विवक्षा में निषेधरूप होती है वैसे ही जैसे साध्य का धर्म सिद्ध करने में हेतु का विधि निषेध रूप होता है। “शब्दाः अनित्याः कृतकत्वात्” यहाँ ‘कृतकत्व’ शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने में हेतु है किन्तु शब्द की नित्यता को सिद्ध करना हो तो अहेतु है। इस प्रकार अपेक्षा

भेद से विधि प्रतिषेध रूप धर्मों और जीवादि धर्मों की यथार्थ प्रतीति संभव हो जाती है। तथा क्रमशः विधेय और प्रतिषेध्य दोनों ही धर्म वस्तु में अभिलाष्य हैं, यह सिद्ध हो जाता है। शेष तीन भंगों अर्थात् कथञ्चित् अस्ति अवक्तव्य, कथञ्चित् अस्तिनास्ति अवक्तव्य को पूर्वोक्त विवक्षाओं से समझ लेना चाहिये। अस्तित्व नास्तित्व वस्तु के विशेषण होकर परस्पर अविनाभावी है जिसे वस्तु उभयरूप और शब्द का विषय होकर वक्तव्य होती है। वक्तव्यत्व अपने प्रतिषेध्य अवक्तव्यत्व के साथ एक धर्मों में अविनाभावी है इसलिये वस्तु अवक्तव्य भी है क्योंकि अवक्तव्यत्व भी वस्तु का विशेषण है। और अपने प्रतिषेध्य वक्तव्यत्व का अविनाभावी है। वस्तु सदवक्तव्य है और अपने प्रतिषेध्य असदवक्तव्यत्व का अविनाभावी है। वस्तु असदवक्तव्य का अविनाभावी है। इसी प्रकार वस्तु सदसदवक्तव्य भी है। इस प्रकार सातों भंग वस्तु के विशेषण होते हैं और अपने-अपने प्रतिषेध्य के अविनाभावी भी। वस्तु में अनन्त धर्मयुगल पाये जाते हैं उनमें प्रत्येक धर्म युगल की अपेक्षा सात सात भंग बनते हैं। वस्तु गत अनन्त धर्मों की अपेक्षा अनन्त सप्तभंगियाँ बन जाती हैं। हे जिनेन्द्र ! आपके शासन में कहीं कोई विरोध नहीं आता है। प्रत्येक वस्तु में सदसत् धर्मयुगल तादात्म्य रूप से है अतः जो वस्तु सत् है वह असत् भी है। अपेक्षा भेद से उसे मानने में कोई विरोध नहीं आता है। निम्न कारिका यहाँ द्रष्टव्य है -

शेषभंगाश्च नेतव्याः यथोक्तनययोगतः।

न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र तव शासने॥^{२३}

वस्तु में सदसत् आदि परस्पर विरुद्ध धर्म मानने पर विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकट, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव नामक आठों दोषों का निराकरण सप्तभंगीन्याय से संभव हो जाता है और अनेकान्तात्मक वस्तु को स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं रहता है। यदि वस्तु को 'सत्-असत्' आदि अनेकान्त से युक्त नहीं मानेंगे तो वस्तु में अर्थ क्रियाकारित्व का ही अभाव हो जायेगा। अतः विधि निषेध के द्वारा अनवस्थित अर्थात् सत्त्व-असत्त्व में एक रूप से अवस्थित न होकर उभयरूप वस्तु ही अर्थ क्रिया करने में समर्थ होती है। यदि यह न माना जाये तो जैसे अन्तरंग बहिरंग कारणों से कार्य निष्पन्न होता है, वह नहीं बन सकेगा। भावैकान्त या अभावैकान्त या निरपेक्ष

भावाभावैकान्त मानने पर वस्तु में अर्थ क्रियाकारित्व नहीं होने से कार्य संभूति का अभाव मानना पड़ेगा। अतएव जो सत् है वही असत् भी है - यह अनेकान्तात्मक वस्तु में ही सप्तभंगीन्याय से सिद्ध होता है और विधिनिषेध द्वारा उसे फलित करके समझना चाहिये अन्यथा वस्तु में अर्थक्रिया नहीं होगी। यथा -

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत।

नेति चेन्न यथा कार्य बहिरत्नरूपाधिभिः॥^{१४}

जब हम किसी अनन्तधर्म वाले धर्मों के किसी सत्त्व-असत्त्व जैसे धर्मयुगल को मुख्य करके वस्तु का कथन करते हैं तो सप्तभंगी न्याय से किया गया कथन यथार्थ अधिगम करा देता है। धर्मों। एवं धर्मों में तादात्म्य सम्बन्ध या अभिन्नत्व होने से यह नहीं कहा जा सकता है कि एक धर्म का ज्ञान होने पर उससे ही अन्य धर्मों का भी ज्ञान हो जायेगा। क्योंकि अनन्त धर्म वाले धर्मों में प्रत्येक धर्म के बने रहने में अपना अपना अन्य ही अर्थ या प्रयोजन है। उनमें से जब हम जिस किसी भी एक धर्म को अंगीकार करके कथन करते हैं तो अन्य धर्मों की गौणता हो जाती है। धर्म धर्मों में परस्पर अंग अंगी भाव होने से अनेकान्त के कथन में कोई विरोध नहीं रहता है। जैसा कि निम्न कारिका में परिलक्षित है -

“धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।

अङ्गीत्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता॥”^{१५}

अन्त में प्रथम परिच्छेद का समाहार इस उपदेश से किया है कि न्याय की योजना एक- अनेक, नित्य- अनित्य आदि सभी धर्मों में नय विशारदों द्वारा नयों के योग से करनी चाहिये -

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्।

प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः॥^{१६}

द्वितीय परिच्छेद :

इस परिच्छेद में १३ कारिकाओं में स्तोत्रकार आचार्य समन्तभद्र ने अद्वैतैकान्तवाद पृथक्त्वैकान्तवाद के दूषणों का उल्लेख कर अद्वैतवेदान्त, वैशेषिक एवं बौद्धदर्शनों को समीक्षात्मक परिधि में लाकर जानने और समझने

की प्रेरणा दी है।

समन्तभद्र की स्पष्ट प्रतिपत्ति है कि अद्वैतैकान्तपक्ष को स्वीकार करने पर कर्ता कर्म आदि कारकों का और क्रिया का जो भी भेद जगत् में प्रत्यक्ष सिद्ध है वह विरोध को प्राप्त होता है। कोई एक अद्वितीय तत्त्व या वस्तु स्वयं से उत्पन्न नहीं होती है। जगत् में तो नाना वस्तुयें हैं और उनमें प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति भिन्न भिन्न कारकों से ही होती हुई देखी जाती है। पदार्थों में जायमान क्रिया भी भिन्न-भिन्न ही ज्ञात होती है। कारकों में भी परस्पर अनन्तता और अनेकता है तो क्रियायों भी अन्य क्रियाओं से भिन्न जानने में आती है। इस प्रकार क्रिया और कारकों के भेद से अनेकता ही हम लोगों को अनुभव में आती है जिससे ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि प्रतीतियोग्य नहीं माने जा सकते हैं।

अद्वैतैकान्तवादों में शुभ-अशुभ कर्म, पुण्य पाप भाव या सुख-दुख रूप कर्मफल, लोक-परलोक, विद्या-अविद्या, बन्ध-मोक्ष आदि द्वैतभावों की सत्यता नहीं मानी जा सकती है। जगत् में नाना पदार्थ एवं द्वैतभावी दिखायी देने पर भी मात्र एक अद्वितीय सत्ता को सिद्ध करने के लिये अथवा द्वैतता का अभाव सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रमाण का प्रयोग तो अद्वैतैकान्त वादियों को करना ही पड़ेगा क्योंकि प्रत्यक्ष से अद्वैतैकान्त माना ही नहीं जा सकता है। अनुमान वाक्य की प्रस्तुति साध्य और हेतु के विना कैसे होगी अतएव वहाँ हेतु और साध्य का द्वैत सिद्ध करेंगे तो उसकी प्रामाणिकता नहीं होगी। कोई सिद्धि वचन मात्र के प्रयोग से तो हो नहीं सकती यदि मानेंगे तो अतिप्रसंग का दोष पैदा हो जायेगा। हेतु के विना अद्वैतैकान्त ही क्यों अनेकात्वाद की सिद्धि भी वचनमात्र से ही क्यों न मान ली जाये। इस प्रकार तो अद्वैतैकान्तवाद काल्पनिक ही हो जायेगा। सर्वथा अद्वैत ही है। द्वैत की कोई सत्ता या प्रतिपत्ति सम्यक् नहीं है यह मानने वाले अद्वैतैकान्तवादियों को यह तो सोचना चाहिये कि द्वैत को माने बिना अद्वैत की सिद्धि कैसे होगी ? यदि हम केवल अद्वैत को मानना चाहते हैं तो द्वैत को मानना ही पड़ेगा क्योंकि द्वैत और अद्वैत का परस्पर अविनाभाव वैसे ही है जैसे हेतु और अहेतु के बारे में है। हेतु का आकलन किये विना अहेतु की कल्पना सर्वथा मिथ्या

होती है। पुनश्च किसी भी संज्ञी तत्त्व (जीवादिक) का प्रतिषेध-निषेध या अभाव उसके प्रतिषेध्य के बिना कैसे सम्भव है इस प्रकार कहीं पर भी जीवादिक संज्ञा से अभिहित संज्ञियों का प्रतिषेध संभव नहीं है। परिणामतः द्वैतसिद्धि अपरिहार्य हो जाती है। आचार्य समन्तभद्र के द्वारा प्रस्तुत कारिकायें इस प्रकार हैं -

“अद्वैतकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते।

कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते॥

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतञ्च नो भवेत्।

विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा॥

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।

हेतुना चेद्विना सिद्धिद्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्॥

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।

संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृतेऽचित्॥”^{१७}

एक अद्वैत सत्ता से पृथक् कुछ भी उपलब्ध नहीं है - ऐसे अद्वैतैकान्त पक्ष का निरसन करने के उपरान्त आचार्य समन्तभद्र पृथक्त्वैकान्त का निरसन करने हेतु लिखते हैं -

“पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ।

पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यासौ गुणः॥”^{१८}

इस श्लोक में नैयायिकवैशेषिकों के उस पृथक्त्वाद का खंडन है जिसमें वे गुण को गुणी से, अवयव को अवयवी से, क्रिया को क्रियावान् से, सामान्य को सामान्यवान् से और विशेष को विशेषवान् से पृथक् कहते हैं। यहाँ गुण गणी आदि में सर्वथा पृथक्त्व मानें तो प्रश्न होता है कि गुण और गुणी (द्रव्य) क्या पृथक्त्व गुण से पृथक् हैं या अपृथक् ?

यदि पृथक्त्व गुण द्रव्य आदि से पृथक् मानेंगे तो द्रव्याश्रयाभाव के कारण वह गुण ही नहीं ठहरेगा। गुण तो किसी एक द्रव्य के आश्रय में रहता है तभी वह स्वलक्षण भी बनता है क्या अनेक द्रव्यों में स्थित मानकर भी उसे गुण कहा जाये। तथा द्वितीय पक्ष में पृथक्त्व गुण को द्रव्य आदि से अपृथक्

मानें तो पृथक्त्वैकान्त को छोड़ देने से स्वमतविरोध हो गया। गुण गुणी में भेद मानने के कारण नैयायिकों वैशेषिकों के यहाँ पृथक्त्व गुण को पृथक् भूत पदार्थों से अपृथक् गुण पृथक्भूत पदार्थों से पृथक् है तो पृथक्-पृथक् पाये जाने वाले पदार्थ परस्पर में अपृथक् हो जायेंगे। फिर पृथक्त्व गुण भी पृथक्त्व नाम से नहीं जाना जायेगा (पृथक्त्वे न पृथक्त्वं) इस दोष से बचने के लिये पृथक्त्वगुण को सर्व पदार्थों में स्थित होना चाहिये जो आपके यहां संभव नहीं है क्योंकि गुण तो अपने गुण तो अपने गुणी में ही रहता है, सबमें नहीं। अतः पृथक्त्वगुण अपने पृथक्त्ववान् गुणी में ही रहे।

पृथक्त्व गुण के कारण पदार्थों में पृथक्त्व भी मानना ठीक नहीं है। क्योंकि इससे तो सभी पदार्थ अपने गुणों से सर्वथा हो जायेंगे और यह कथन भी असंभव हो जायेगा कि ज्ञान आत्मा का गुण है और गन्ध पृथ्वी का गुण है।

बौद्ध मानते हैं कि परमाणु अपने सजातीय विजातीय परमाणुओं से पृथक् होते हैं। और सभी पदार्थ निरंश, निरन्वय और क्षणिक होते हैं। उनके इस पृथक्त्वैकान्त का निरसन आचार्य समन्तभद्र इस प्रकार करते हैं -

“सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यञ्च निरंकुशः।

प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिहवे॥”^{२९}

अर्थात् जीवादिक पदार्थों में सर्वथा पृथक्त्व यानि एकत्वपने का अभाव मानें तो संतान (जायमान पर्यायों में एकता रूप द्रव्य का अन्वय), समुदाय (एक स्कन्ध में अपने अवयवों की एकता) और साधर्म्य (जिन पदार्थों के समानधर्म हैं उनके समान परिणामों की एकता) पृथक्त्वैकान्त पक्ष में निरंकुश हो जायेंगे अर्थात् खंडित या असिद्ध हो जायेंगे। तथा जीवादिकों में पायी जाने वाली बाल्य, युवा, जरा आदि अवस्थाएँ और परलोक में प्राप्त भव (प्रेत्यभाव) भी एकत्व का निहव करने वाले पृथक्त्वैकान्त में संभव नहीं रहेंगे।

पुनश्च, ज्ञान को ज्ञेयवस्तु से सत् स्वरूप की अपेक्षा सर्वथा भिन्न मानें जाने पर तो वह असत् हो जायेगा। ज्ञान को जीवसत् द्रव्य से सर्वथा भिन्न मानेंगे तो सत् के अभाव में वह ज्ञान असत् कहलायेगा। तथा घट पर आदिक बाह्य ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानेंगे तो वे बाह्य पदार्थ ज्ञेय ही

नहीं कहलायेंगे। इस प्रकार पृथक्त्वैकान्त पक्ष में ज्ञान और ज्ञेय दोनों असत् हो जाते हैं। वही इस श्लोक में कहा है -

“सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत्।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम्॥”^{३०}

बौद्धमत में शब्द सामान्य के ही वाचक हैं उनमें विशेष का कथन नहीं किया जा सकता है। जब सामान्य का प्रतिपादन शब्द करते हैं तब सामान्य वहाँ पारमार्थिक नहीं है। यथा गोपदार्थों में कोई गोत्व सामान्य नहीं रहता है किन्तु सभी गोपदार्थ अगोपादार्थों से व्यावृत्त हैं - ऐसा बौद्ध मानाते हैं। शब्द का वाच्य कोई पदार्थ तब होता है जब उस पदार्थ में संकेत ग्रहण कर लिया गया हो। अमुक शब्द अमुक अर्थ को द्योतित करता है इस प्रकार की बौद्धिक शक्ति विशेष से वक्ता या श्रोता शब्द का अर्थ में वाच्य वाचक सम्बन्ध स्वीकार कर लेते हैं, यही संकेतग्रहण है। यहाँ शब्द वाचक और पदार्थ वाच्य कहे जाते हैं। विशेष अनन्त हैं। उन अनन्त विशेषों में संकेत संभव नहीं हो सकते हैं। इसलिये विशेष शब्द के वाच्य नहीं है। तथा संकेत काल में ज्ञात या विद्यमान विशेष क्षणिक होने से अर्थ प्रतिपत्ति के काल में नहीं रहते हैं। स्वलक्षण विशेष का जैसा स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है वैसा शब्द से सम्भव नहीं है तथा शब्दज्ञान में स्वलक्षण रूप विशेष की सन्निधि भी अपेक्षित नहीं होती है। स्वलक्षण के विना ही शब्द ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतएव कोई विशेष शब्द का वाच्य नहीं है केवल सामान्य ही शब्द का वाच्य होता है।

समन्तभद्र कहते हैं कि बौद्धों का यह कथन समीचीन नहीं हो सकता है क्योंकि अपारमार्थिक सामान्य तो अवस्तुभूत ही है बौद्धमत में। यदि शब्द का वाच्य सामान्य है विशेष नहीं तो शब्द का वाच्य अवस्तुभूत कहलायेगा फिर वहाँ शब्दोच्चारण और संकेत ग्रहण की आवश्यकता कहाँ रही यदि मानेंगे तो अवस्तु का ज्ञान असमीचीन या अप्रमाणिक होगा। इस प्रकार शब्द मिथ्या हो जायेंगे। कहा भी है -

“सामान्यार्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाभिलष्यते।
सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः॥”^{३१}

अद्वैतैकान्तवाद (सर्वथा अभेदैकान्त), पृथक्त्वैकान्तवाद (सर्वथा भेदैकान्त) दोनों को जो निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं, उनके यहाँ अर्थात् उभयैकान्तवादियों के मत में परस्पर विरोध होने से उभयैकात्मकता नहीं मानी जा सकती है तथा उपर्युक्त तीनों के यहाँ वस्तु सिद्ध न होने पर कोई यह कहे कि वस्तु तो अवाच्य है। किन्तु इस प्रकार अवाच्य होने से सर्वथा अवाच्यतैकान्त भी ठीक नहीं है क्योंकि 'न अवाच्यम्' इस उक्ति से वस्तु वाच्य हो जाती है। जैसा कि कहा गया है -

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युच्यते॥^{३२}

इसके बाद समन्तभद्र कहते हैं कि यदि निरपेक्ष रूप से अद्वैतत्व (एकत्व) और पृथक्त्व मानने पर दोनों ही अवस्तु हो जाते हैं क्योंकि एकत्वनिरपेक्ष होने से पृथक्त्व अवस्तु है तथा पृथक्त्व निरपेक्ष होने से एकत्व अवस्तु है। इसलिये प्रत्यक्ष से पदार्थ जैसे प्रतीत होता है उसको वैसा ही अर्थात् कथञ्चित् अभेद (अद्वैत-एकत्व) रूप तथा कथञ्चित् भेद (पृथक्त्व) रूप मानना चाहिये। उसी प्रकार जैसे हेतु एक होकर भी अपने भेदों से अनेकरूप होता है। यही कहा गया है -

‘अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः।

तदेवैक्यं पृथक्त्वञ्च स्वभेदैः साधनं यथा॥^{३३}

जिस वस्तु में परस्पर सापेक्षपने एकत्व पृथक्त्व धर्म पाये जाते हैं वही वस्तु अर्थक्रिया कर सकती है। अतः सभी पदार्थ सत्ता सामान्य की अपेक्षा से एकरूप हैं अर्थात् उनमें एकपने की प्रतीति होती है और भेद की अपेक्षा से अनेक रूप है अर्थात् उनमें अनेकपने की प्रतीति होती है जैसे हेतु भेद की विवक्षा में अनेक रूप और अभेद की विवक्षा में एकरूप होता है। यथा -

‘सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः।

भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत्॥^{३४}

यहाँ अगर कोई यह कहे कि एक वस्तु एकत्व और पृथक्त्व यानि अभेद और भेद की विवक्षा से सिद्ध होती है किन्तु विवक्ष अविवक्षा वस्तुगत विषय नहीं है वक्ता की इच्छा मात्र हैं इससे तो वस्तु के धर्म का निर्णय होता

नहीं है क्योंकि इच्छा तो असत् हो सकता है। इसका उत्तर समन्तभद्र इस प्रकार देते हैं -

‘विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि।

सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तर्थाभिः॥’^{३५}

अर्थात् अनन्तधर्म विशिष्ट विशेष्य धर्मों में जो विवक्षा अविवक्षा होती है वह विद्यमान (सत्) विशेषण की होती है। अविद्यमान (असत्) की नहीं। वस्तु में अद्वैतत्व (एकत्व) या पृथक्त्व को जानकर कहने की इच्छा करने वाले लोग अद्वैतत्व है या नहीं, पृथक्त्व है या नहीं ऐसी विवक्षा करते हैं अथवा वस्तु के होने पर उसे जानकर भी उसे कहने की इच्छा नहीं करते, यह अविवक्षा है।

अन्त में आचार्य स्पष्ट कर देते हैं कि प्रत्येक वस्तु अद्वैत (अभेद-एकत्व) तथा पृथक्त्व (भेद-अनेकत्व) प्रमाणभूत-वास्तविक प्रमेय हैं काल्पनिक-औपचारिक (अपरमार्थभूत) नहीं है। गौण और मुख्य की विवक्षा में वे दोनों एक वस्तु में सिद्ध हैं, यह प्रतीति करा देते हैं। कारिका इस प्रकार है-

‘प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती।

तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया॥’^{३६}

तृतीय परिच्छेद :

यहाँ नित्यत्वैकान्त, क्षणिकत्वैकान्त, निरपेक्ष तदुभयैकान्त और अवाच्यत्वैकान्त की समीक्षा प्रस्तुत हुई है। नित्यत्वैकान्तवाद का प्रस्थापक सांख्य प्रस्थान को माना जा सकता है क्योंकि सांख्य सिद्धान्त में सभी पदार्थ कूटस्थ नित्य मान लिये गये हैं। जो सदा एकरूप ही रहे वह कूटस्थ नित्य कहलाता है। सांख्य मत में प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व हैं जो परिणाम को प्राप्त होते हैं। किन्तु पर्याय की अपेक्षा भी वहाँ किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है केवल परिणामों का आविर्भाव (प्रकटन) और तिरोभाव होता है। सांख्य के अनुसार सभी कार्य अपने कारणों में छिपे रहते हैं यह तिरोभाव है तथा उचित कारण सामाग्री के मिलने पर प्रकट हो जाते हैं यह आविर्भाव है। आविर्भाव तिरोभाव में मूल तत्त्व प्रकृति या पुरुष सदा ही ज्यों के त्यों बने रहते हैं। यही नित्यत्वैकान्त है। आचार्य समन्तभद्र ने इसकी

समीक्षा करते हुये कहा है कि पदार्थ को सर्वथा नित्य मानने पर क्रिया की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थ कार्योत्पत्ति से पहले और कार्योत्पत्ति के समय कारक नहीं हो सकता। कारकाभाव में पदार्थ प्रमाता नहीं हो सकता तथा प्रमातृत्व के अभाव में प्रमिति (प्रमाण का फल) का होना भी असंभव है। अतएव सर्वथा नित्यत्वपक्ष में प्रमाण कहाँ और प्रमाण का फल कहाँ माना जाये। कारिका में भी द्रष्टव्य है -

‘नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।

प्रागेव कारकाभावः, प्रमाणं, तत्फलम्।’^{३७}

पुनश्च, व्यक्त प्रकृति से महदादिक की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति प्रमाण द्वारा होती है तो प्रमिति कहलाती है तथा कारकों से होती है तो उत्पत्ति कहलाती है। प्रमाण और कारकों से नित्यत्वैकान्त पक्ष में विक्रिया नहीं हो सकती है क्योंकि प्रमाण और कारकों के द्वारा महदादि की प्रमिति और उत्पत्ति रूप अभिव्यक्ति भी नित्य हो जायेगी जो सांख्य सिद्धान्त में सम्भव नहीं है। यदि यहाँ प्रमाण, कारक, महदादि सभी को सर्वथा नित्य मान लें तो उनमें व्यंग्य व्यञ्जक भाव कैसे संभव होगा ? नहीं होगा। यह मानना ठीक नहीं है कि प्रधान कारण है और महदादि उसके कार्य हैं। कार्य सत् और असत् दोनों हो सकते हैं। यदि सत्कार्यवाद मानेंगे अर्थात् कार्य को सर्वथा सत् कहेंगे तो सर्वथा सत् होने से पुरुष के समान उसकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है। जो सर्वथा सत् है वह कार्य नहीं हो सकता है यथा चैतन्य। सांख्य चैतन्य को कार्य नहीं मानते हैं क्योंकि इसलिये ही उन्हें चैतन्य स्वरूपी पुरुष को भी कार्य करना होगा। जो सर्वथा सत् होता है किसी भी प्रकार से असत् नहीं है उसमें कार्यत्व असंभव है तथा जो सर्वथा असत् है वह भी कार्य नहीं हो सकता। आकाश कुसमु किसी के भी कार्य नहीं होते हैं। सांख्य कार्य को सर्वथा असत् न मानकर सत् मानते हैं और उसकी उत्पत्ति न मानकर परिणाम की कल्पना करते हैं यह परिणाम प्रकलुप्ति नित्यत्वैकान्तवाद की बाधिका हो जाती है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार सांख्यों के सर्वथा नित्यत्वपक्ष में पुण्यपाप क्रिया, उसका फल, प्रेत्यभाव और बन्धमोक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं होते हैं।^{३८}

बौद्ध दार्शनिक क्षणिकैकान्त को सत्य समझते हैं उसकी समीक्षा

करते हुये समन्तभद्र का मन्तव्य है कि क्षणिकैकान्त पक्ष में प्रेत्यभाव, बन्ध, मोक्ष आदि को मानना असंभव है क्योंकि नित्य आत्मा के अभाव में प्राणियों में प्रत्यभिज्ञान आदि का होना सम्भव नहीं है। जिसके अभाव में पुण्य पाप आदि कार्यों का आरम्भ करना नहीं होता और पुण्य पाप आदि के अभाव में प्रेत्यभाव आदि फल कैसे होंगे ? सर्वथा क्षणिकैकान्त में उनका होना सम्भव ही नहीं है।^{३९}

वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानने पर उसमें सत् रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। वह तो असत् रहकर ही उत्पन्न होता रहता है, यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि सर्वथा असत् कार्य आकाश कुसुम की तरह उत्पन्न नहीं हो सकता है। ऐसा न मानने पर उपादान कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है, यह नियम भी क्षणिकवाद में नहीं रहेगा फिर कैसे कार्यों के होने का विश्वास किया जाये।^{४०}

क्षणिकवाद में अन्वय का सर्वथा अभाव होने से हेतुफलभाव, वास्यवासकभाव, कर्मफलभाव, प्रवृत्ति निवृत्ति आदि के भाव नहीं बनेंगे। प्रत्येक क्षणवर्ती कार्य का परस्पर में अन्वय न होने कार्यकारणपना भी नहीं माना जा सकता है। प्रत्येक कार्य सन्तति भिन्न भिन्न ही है। इसलिये सन्तानान्तरों के समान वर्तमान क्षणवर्ति एक सन्तान सन्तानवान् के साथ अन्वय न होने से सन्तान सत्यार्थ नहीं कही जा सकती है। सत्यार्थ सन्तान के होने पर ही हेतु फल आदि का व्यवहार संभव है जो क्षणिकवाद में असंभव है। भिन्न भिन्न क्षणों में अनन्य शब्द का व्यवहार सन्तान है या पृथक्-पृथक् क्षणों को एक मानना सन्तान है तो यह सन्तान कल्पना तो संवृति मात्र है, उपचार कथन है, वास्तविक नहीं होने से उसे मुख्य नहीं कर सकते हैं। मुख्यार्थ के अभाव में सञ्जात संवृति मिथ्या क्यों न कही जाये।

सन्तान और सन्तानवान् में एकत्व या अन्यत्व अवाच्य है क्योंकि उनके (१) सत् रूप है (२) असत् रूप है, (३) सदसत् उभय रूप है और (४) सत् असत् दोनों रूप नहीं है, इन चार विकल्पों का अयोग है। इसका उत्तर देते हुये आचार्य ने कहा कि यदि सन्तान सन्तानवान् चार कोटियों से अवक्तव्य हैं तो यह विकल्प भी उनके नहीं मानना चाहिये। जिससे सर्वविकल्पों से रहित सन्तान या सन्तानवान् अवस्तु ही ठहरेंगे, क्योंकि सभी धर्मों से रहित

एवं विशेष्य विशेषण से रहित जो होता है वह अवस्तु ही तो होता है।^{४१} तथा जो वस्तु विशेष्य विशेषण से रहित होती है उसका प्रतिषेध करना भी नहीं बनता है। अतः अवस्तु का प्रतिषेध भी सम्भव नहीं है। यह पुष्ट करते हुये कहा गया है कि सत्तात्मक संज्ञी पदार्थ का प्रतिषेध द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा में द्रव्यान्तर क्षेत्रान्तर कालान्तर और भावान्तर की अपेक्षा ही किया जा सकता है। जो सर्वथा असत् है वह विधि निषेध का स्थान नहीं हो सकता है।^{४२}

इस प्रकार बौद्धाभिमत क्षणिक तत्त्व सभी धर्मों से परिवर्जित होने से अवस्तु हैं। अवस्तु होने से अनभिलाप्य है। अनेकान्तवादियों के यहाँ वस्तु ही द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप प्रक्रिया के विपर्यय से अवस्तु कहलाती है। अपने धर्मों से परिवर्जित कोई वस्तु कभी होती ही नहीं है।^{४३} क्षणिकैकान्त पक्ष में परमाणुओं की सिद्धि संभव नहीं है।^{४४} बौद्ध लोग पाँच प्रकार के स्कन्ध मानते हैं। यथा (१) रूपस्कन्ध (२) वेदना स्कन्ध (३) विज्ञान स्कन्ध (४) संज्ञा स्कन्ध और (५) संस्कार स्कन्ध। इन स्कन्धों की सन्तति चलती रहती है। इनकी सन्तान संवृत्तिरूप होने से अपरमार्थभूत है। परमार्थभूत तो स्वलक्षण होता है। पदार्थ का स्वलक्षण तो स्थिति उत्पत्ति और व्यय है, जो अपरमार्थभूत स्कन्धों में सम्भव नहीं है।

सर्वथा नित्यत्वैकान्त और क्षणिकैकान्त में दोष देखकर निरपेक्ष नित्यत्व और क्षणिकत्व का वस्तु में विरोध है। इस दोष से बचने के लिये यदि वस्तु को अवाच्य मानेंगे तो यह उक्ति भी ठीक नहीं है क्योंकि 'न वाच्यम्' इस कथन से उसके वाच्य होने का प्रसंग आ जाता है।^{४५}

सर्वथा नित्यत्व, क्षणिकत्व, तदुभयत्व और अवाच्यत्व आदि एकान्तों में वस्तु की सिद्धि नहीं होती है किन्तु कथञ्चित् नित्यत्व और कथञ्चित् क्षणिकत्व की प्रसिद्धि वस्तु में होती है यह बताने के लिये निम्न कारिका प्रस्तुत हुई है -

“नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।

क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्धयसंचरदोषत्ः॥”^{४६}

वस्तु प्रत्यभिज्ञान का विषय बनती है यह आकस्मिक अर्थात् अकारण

नहीं है। 'यह वही वस्तु है', इस प्रत्यभिज्ञान में पूर्वदृष्ट वस्तु का अविच्छेदपने ज्ञान होता है जिससे उस वस्तु को क्षणमात्र अवस्थायी ही नहीं माना जा सकता है। अतएव उसका नित्यपना है। तथा कालभेद से वस्तु अपने अपने क्षणों में तत्तद्वर्ती अवस्थाओं वाला ही होता है। वे अवस्थायें क्षणिक होती हैं इसलिये वस्तु क्षणिक भी है।

कोई भी वस्तु अपने सामान्य स्वरूप से न उत्पन्न होती है और न ही व्यय को प्राप्त होती है। उत्पाद विनाश शील पर्यायों में सामान्य धर्म का अन्वय पाया ही जाता है। अतः सामान्य स्वरूप की अपेक्षा वस्तु नित्य ध्रुव शाश्वत या अनादि अनन्त है। तथा विशेष पर्याय धर्म की अपेक्षा वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद विनाश देखा जाता है। वर्तमान पर्याय का व्यय होता है तो उसकी जगह अन्य पर्याय का उत्पाद हो जाता है यह क्रम सदा चलता रहता है। पर्याय विशेष द्रव्यसामान्य के बिना नहीं पाया जाता है तथा द्रव्य सामान्य भी कभी भी पर्यायविशेष के बिना नहीं रहता है। दोनों ही सामान्य विशेष धर्मों में परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः उत्पाद व्यय और स्थिति की त्रयात्मकता प्रत्येक वस्तु में सदैव होती है - जिससे वह सत् कहलाती है। कहा भी गया है -

“न सामन्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।

व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥”^{४७}

प्रत्येक वस्तु में पाये जाने वाले उत्पाद व्यय और ध्रौव्य कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं, यह समझाने के लिये आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं -

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्।

न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षा ख पुष्पवत्॥^{४८}

किसी भी कार्य के प्रति नियामक हेतु उपादान कारण होता है जो द्विविध है - त्रैकालिक (शाश्वत) और क्षणिक। द्रव्य के प्रत्येक गुण में प्रतिक्षण परिणमनधर्मा पर्याय होती है। प्रत्येक पर्याय का त्रिकाली उपादान उसका गुण होता है तथा पर्यायें स्वयं क्षणिक उपादान कहलाती हैं। क्षणिक उपादान पूर्वक्षणवर्ति पर्याय, तत्क्षणवर्तिपर्याय और उत्तरक्षणवर्तिपर्याय के भेद से त्रिविध होता है किसी भी कार्य के होने में त्रिकाली उपादान अन्वय रूप से रहता है

तो क्षणिक उपादान व्यय, उत्पाद और स्थिति रूप होता है। कार्य के होने में यह क्षणिक उपादान ही नियामक हेतु है। इस क्षणिक उपादान रूप हेतु के कारण ही वर्तमान क्षण में स्थित पर्याय की स्थिति होती है तथा पूर्णक्षणवर्ति पर्याय का व्यय एवं उत्तर क्षणवर्ति पर्याय का उत्पाद देखा जाता है। यह प्रक्रिया सतत चलती रहती है जिससे हर क्षण उत्पाद व्यय और स्थिति का बना रहना संभव हो जाता है। अपने-अपने लक्षणों के कारण उत्पाद-व्यय पृथक् आकलित होते हैं किन्तु जाति के अवस्थान से ये भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार द्रव्य में इनकी कथञ्चित् भिन्नता और अभिन्नता निश्चित हो जाती है। निरपेक्षतः उत्पाद व्यय और स्थिति आकाशकुसुम के समान अवस्तु होते हैं तथा द्रव्य में सान्वित होने के कारण सम्यक् हैं।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप वाली है यह समझाने के लिये स्तोत्रकार समन्तभद्र ने दो श्लोक उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये हैं -

“घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।

शोक प्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥”^{४९}

चतुर्थपरिच्छेद :

इस परिच्छेद में न्यायवैशेषिक दर्शन की उस मान्यता की समीक्षा हुई है जिसमें उन्होंने अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, कार्य-कारण, सामान्य-सामान्यवान्, विशेष-विशेषवान् आदि में पृथक्त्व को स्वीकार किया है और उनके योजक पदार्थ समवाय की निरूपणा की है। आचार्य समन्तभद्र उनके पक्ष का उपस्थापन इस कारिका से करते हैं -

‘कार्यकारणानानात्वं गुणगुण्यन्यताऽपि च।

सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते॥”^{५०}

यदि नैयायिक वैशेषिकों द्वारा कार्य कारणों में नानात्व को, गुण-गुणी में अन्यता को और सामान्य-सामान्यवान् में अन्यत्व को सर्वथा एकान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है तो वह विचारणीय माना जाना चाहिये। उन्होंने

लिखा कि यह विचार कथञ्चित् एकान्त के रूप में आर्हतमत में तो स्वीकृत हो सकता है किन्तु नैयायिक वैशेषिक मत में यह संभव नहीं है। आर्हतमत में अवयव-अवयवी, गुण गुणी आदि में तादाम्य सम्बन्ध है किन्तु नैयायिक वैशेषिक मत में उन्हें पृथक् पृथक् मानकर समवाय से उनका परस्पर आश्रयाश्रयी भाव बताया गया है। समन्तभद्र इसे ध्यान में रखकर लिखते हैं -

‘एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा।

भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते॥’^{५१}

अर्थात् एक अवयवी की अनेक अवयवों में, एक गुण की अनेक गुणी पदार्थों (द्रव्यों) में, एक सामान्य की अनेक सामान्यवान् पदार्थों में वृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि एक अवयवी के भागों (खण्डों या अंशों) का अभाव है। यदि एक के अनेक भाग मानेंगे तो भागवाला होने से उस अवयवी के एकपना नहीं रहेगा। इस वृत्ति विकल्प के कारण अनेक दोषों की उद्भूति हो जायेगी। एक समवाय अनेक समवायियों में या भागों में बंटकर नहीं रहता है उसके भागों या अंशों का अभाव होने से अनेक में उसकी वृत्ति कैसे संभव होगी। सर्वव्यापक मानने पर किसी गुण की किसी गुणी में ही वृत्ति क्यों होती है। समवाय तो एक ही है, वह अनेकों में गुणों और गुणी पदार्थों का योजक कैसे हो सकता है ? यह विचारणीय है।

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि में पृथक्त्व (भेद) मानने पर उनमें देशभेद और कालभेद भी मानना पड़ेगा जिससे अवयव या गुण अन्यदेश में रहेंगे और अवयवी या गुणी अन्य देश में। ऐसे ही काल भेद को भी समझना होगा। जैसे दही और कुण्ड युतसिद्ध पदार्थ हैं और उनका देश काल भी भिन्न-भिन्न होता है वैसे ही अवयव अवयवी आदि में क्यों न माना जाये। जैसे मूर्त कारण कार्य में समान देशता नहीं होती है वैसे ही गुण-गुणी एवं अवयव अवयवी आदि के मूर्त होने से एक देश में उनकी वृत्ति नहीं बन सकती है। यही कहा गया है इस कारिका में -

‘देशकालविशेषेऽपि स्याद् वृत्तिर्युतसिद्धवत्।

समानदेशता न स्यात् मूर्तकारणकार्ययोः॥’^{५२}

संदर्भ :

१. सर्वन्तवत्तदुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिघोऽनपैक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥ (युक्त्यनुशासनम्-६१)
२. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २ पृष्ठ १८३ (अखिल भारतीय दिग. जैन विद्वत्परिषद्)
३. समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः (पाण्डवपुराण) आप्तमीमांसा की तत्त्वदीपिका प्रस्तावना पृष्ठ २६ (श्री गणेशवर्णी दिग. संस्थान १९७४) से उद्धृत।
४. तीर्थमहावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग-२, पृष्ठ १८४
५. इत्याप्तमीमांसलङ्कृतौ प्रथमपरिच्छेदः । - अष्टसहस्री पृष्ठ १३३
६. आप्तमीमांसा की तत्त्वदीपिका पृष्ठ ३६ से उद्धृत।
७. अष्टसहस्री पृष्ठ १३४ ८. सर्वार्थसिद्धि टीका पृष्ठ १
९. देवागमनभोयान चामरादिविभूतयः मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमपि नो महान्।
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि महोदयदिव्यसत्यः दिवौकस्स्यस्ति रागदिमत्सु सः॥
१०. आप्तमीमांसा श्लोक ३ ११. आत्तमीमांसा, श्लोक ४ १२. अष्टसहस्री में उद्धृत पृ. ३
१३. आप्तमीमांसा ५-६ १४. तदेव ७ १५. तदेव ८
१६. तदेव ९-११ १७. तदेव १२ १८. तदेव १३ १९. तदेव १३
२०. तदेव १४-१६ २१. तदेव १७-१८ २२. तदेव १९ २३. तदेव २०
२४. तदेव २१ २५. तदेव २२ २६. तदेव २३ २७. तदेव २४-२७
२८. तदेव २८ २९. तदेव २९ ३०. तदेव ३० ३१. तदेव ३१
३२. तदेव ३२ ३३. तदेव ३३ ३४. तदेव ३४ ३५. तदेव ३५
३६. तदेव ३६ ३७. तदेव ३७ ३८. तदेव ३८-४० ३९. तदेव ४१
४०. तदेव ४२ ४१. तदेव ४३-४५ ४२. तदेव ४७ ४३. तदेव ४८
४४. तदेव ५४ ४५. तदेव ५५ ४६. तदेव ५६ ४७. तदेव ५७
४८. तदेव ५८ ४९. तदेव ५९-६० ५०. तदेव ६१ ५१. तदेव ५६२
५२. तदेव ६३

- राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, त्रिवेणी नगर,
मानसरोवर , जयपुर (राजस्थान)

क्रमशः अगले अंक में....

पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' स्मृति व्याख्यानमाला २२ दिस. २०१३ में दिया गया व्याख्यान -

आचार्य समन्तभद्र का सर्वोदय तीर्थ

डॉ. सुशील जैन, मैनपुरी

बहुगुणसम्पदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम्।

नयभक्त्यवतंसकलं तवदेव मतं समन्तभद्रं सकलम्॥

उक्त कारिका में उन्होंने अपना नाम समन्तभद्र दिया है। स्तुतिविद्या ग्रन्थ के ११६वें काव्य से एक अर्थ निकलता है “शान्तिवर्म कृतं”। व्याख्याकार इसका अर्थ शान्ति वर्मान्त का लिखा मानते हैं परन्तु अन्य किसी मुनिराज के नाम में वर्मान्त शब्द का प्रयोग न होने से ऐसा विचार किया जाता है कि यह उनके गृहस्थावस्था का नाम हो सकता है और इस तथ्य की पृष्टि इस बात से होती है कि मदम्ब, गंग और पल्लव आदि वंशों में उत्पन्न अनेक क्षत्रिय राजाओं का नाम वर्मान्त पाया जाता है। इस प्रकार वे चोल राजवंश के राजपुत्र थे, क्षत्रिय थे, दक्षिण के फणि मंडल अंतर्गत उरगपुर के राजा थे जो कावेरी के तट पर बसा हुआ बन्दरगाह था एवं उस समय विशाल जनपद था। (आप्तमीमांसा की ताड़ प्रति के आधार से)। सारस्वताचार्यों में सर्वप्रमुख आचार्य समन्तभद्र स्वामी थे। इनकी समकक्षता श्रुतधराचार्यों से भी की जा सकती है। जिस प्रकार आचार्य उमास्वामी संस्कृत के प्रथम सूत्रकार हैं, उसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र प्रथम संस्कृत कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं।

मणुवकहल्ली स्थान में उन्हें कर्मोदय से भस्मक व्याधि हो गयी थी, जिसका निराकरण काशी में हुआ था। वाराणसी में आचार्य समन्तभद्र की स्तुति से पिण्डी फट जाने पर भगवान चन्द्रप्रभु की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रकट होने पर जब राजा शिवकोटि ने उनका परिचय पूछा तो उन्होंने कहा -

आचार्योऽहं कविरहं वादिशट्पण्डितोऽहं।

देवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तान्त्रिकोऽहं॥

राजन्नस्या जलधिविलयामेखलायामिलाया -

माज्ञासिद्धः किमित बहुना सिद्धसरास्वतोऽहम्॥३॥

मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, पण्डित हूँ, वैद्य हूँ, मात्रिक हूँ, तांत्रिक हूँ, इस संपूर्ण पृथ्वी पर मुझ वचन सिद्धि है अधिक क्या कहूँ मैं सिद्ध सारस्वत हूँ।

किसी को यह गर्वोक्ति प्रतीत हो सकती है किन्तु वास्तविकता व तथ्योक्ति यही है।

श्रवणवेलगोला के विंध्यगिरि पर्वत पर मल्लिषेण रचित एक शिलालेख में कहा गया है - मैं कांची नगरी में नगरी में दिगम्बर साधु था, उस समय मेरा शरीर मलिनता पूर्ण था, लांतुश नगर में मैंने अपने शरीर में भस्म लगाई थी, उस समय मैं पांडुरंग था। पुण्ड्र नगर में मैंने बौद्ध भिक्षु का रूप धारण किया था। दशपुर नगर में मैं मिष्ठान्न भोजी परिव्राजक बना। वाराणसी में आकर मैंने चन्द्र समान धवल कान्ति युक्त शैव तपस्वी का वेश धारण किया। हे राजन ! मैं जैन निर्गन्ध मुनि हूँ जिसकी शक्ति हो वह मेरे समक्ष आकर शास्त्रार्थ करे।

दक्षिण के होते हुए भी उन्होंने देश में भ्रमण किया, जिसका पुष्टि श्रवणवेलगोला के शिलालेख नं. ५४ से होती है।

पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।

पश्चान्मालव सिन्धु ठक्क विषये कांचीपुरे वैदिशे।

प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटम्।

वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥

पहिले मैंने पाटलिपुत्र नगर में वादि के हेतु भेरी बजाई, पश्चात् मालवा, सिन्धु ठक्क (पंजाब), कांचीपुर, विदिशा में भेरीताड़न किया, इसके पश्चात् मैं विद्वानों तथा शूरवीरों से समलंकृत करहाटक देश में गया। हे नरपति ! मैं शास्त्रार्थ का इच्छुक हूँ। मैं शार्दूल के समान निर्भय होकर विचरण करता हूँ।

अनेक शिलालेखों में आचार्य समन्तभद्र का उल्लेख व प्रशंसा की गई है। ईसा की पहली व दूसरी तथा विक्रम की दूसरी, तीसरी शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र का समय माना जाता है। कन्नड़ ग्रन्थ 'कर्नाटक कवि चरिते' में आर० नरसिंहाचार्य ने इनका शक संवत् ६० ईस्वी संवत् १२८ माना है।

आचार्य जिनसेन, आ० विद्यानन्दि, आ० शुभचन्द्र, आ० वादीभ सिंह, भट्टारक प्रभाचन्द्र, हस्तिमल्लि आदि अनेकों आचार्यों व विद्वानों ने आ० समन्तभद्र की बहुत बहुत प्रशंसा की है व अनेक उपाधियों से विभूषित किया है। विक्रान्त कौरव हस्तिमल्ल ने उन्हें श्रुतकेवली ऋद्धि प्राप्त थी, उनके वचन

भगवान महावीर के समान थे, प्रकाण्ड दार्शनिक, गम्भीर चिंतक, स्तुति काव्य के सूत्रपात, तर्क कुशल मनीषी, वादी, वाग्मी, कवि, गमक, कवि वेधा, कवीन्द्र भास्करण, कविकुन्जर, मुनिवन्द्य, जनानन्द आदि अनेक विभूषणों से युक्त संस्कृत, प्राकृत एवं विभिन्न भाषाओं के पारंगत विद्वान् थे। पद्मावती देवी की दिव्य शक्ति के द्वारा उन्हें विशेष शक्ति प्राप्त हुई थी।

आचार्य परम्परा में भद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त, इनके वंशज पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द), इनके बंशज गृद्धपिच्छाचार्य, इनके शिष्य बलाक पिच्छाचार्य व उनके वंशज आ० समन्तभद्र स्वामी थे। उनके दो शिष्यों आ० शिवकोटि व शिवायन का उल्लेख मिलता है।

आचार्य समन्तभद्र की निम्न रचनायें मानी जाती हैं -

१. वृहद् स्वयंभू स्तोत्र, २. स्तुतिविद्या-जिनशतक, ३. देवागम स्तोत्र आप्तमीमांसा, ४. युक्त्यानुशासन, ५. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, ६. जीवसिद्धि, ७. प्रमाण पदार्थ, ८. तत्त्वानुशासन, ९. प्राकृत व्याकरण, १०. कर्मप्राभृत टीका, ११. गन्धहस्ति महाभाष्य-तत्त्वार्थसूत्र की टीका।

वृहत् स्वयंभू स्तोत्र में भगवान मल्लिनाथ की स्तुति करते हुये आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने उनके तीर्थ को जन्म-मरण रूप समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिये तरण पथ-पार होने का उपाय बताया है।

तीर्थमपिस्वं जननसमुद्दत्रासितसत्त्वोतरणपथोऽगम॥१०९॥

तीर्थ शब्द 'तृ' धातु से निष्पन्न हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से देखें तो 'तीर्यन्ते अनेन वा' तृप्तवन्तरणयो' पातृतुदि इति थक। अर्थात् तृ धातु के साथ थक प्रत्यय लगकर तीर्थ शब्द की निष्पत्ति होती है, इसका अर्थ है जिसके द्वारा अथवा जिसके आधार से तरा जाय, उसे तीर्थ कहते हैं।

आचार्य जिनसेन स्वामी आदिपुराण में लिखते हैं -

संसारब्धे पारस्य तरणेतीर्थमिष्यते।

चेरितं जिननाथानां तरयोक्तितीर्थसंकथा।

यहाँ जिनेन्द्र भगवान के चरित्र को तीर्थ कहा है। जिन भगवान का चरित्र प्राणीमात्र के लिये तारने वाला है, सभी के लिये शरणागत है, अतः उसे

सर्वोदय तीर्थ कहा है।

सर्वोदय शब्द सर्व एवं उदय दो शब्दों से मिलकर बना है। अर्थात् सभी उदय अर्थात् उन्नति कल्याण। जिस स्थान से या जिनके द्वारा या जिनके माध्यम से, जिनके अवलम्बन से जीव का कल्याण हो, उसे सर्वोदय तीर्थ कहते हैं।

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त सुख चाहें दुख तें भयवन्त।

संसार के सभी चराचर प्राणी दुखी हैं तथा शाश्वत सुख चाहते हैं। इस हेतु जो मार्गदर्शन देता है, वह हमारे लिये कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न के समान प्रतीत होता है और इस शाश्वत् निराकुल सुख की प्राप्ति हमें धर्म से ही होती है।

याचें सुरतरु देय सुख चिंतत चिंता रैन

बिन याचें बिन चिंतये धर्म सकल सुख देन।

जिन या जैन तीर्थकरों ने इन विपरीत परिस्थितियों से मानव को तारने हेतु या शाश्वत सुख की प्राप्ति हेतु स्वयं शाश्वत सुख एवं अभ्युदय मार्ग का अवलम्बन लेते हुये पहले तो स्वयं उसको प्राप्त किया और फिर एक कुशल वैज्ञानिक की भाँति जब उसको स्वयं प्राप्त कर लिया तो उसका उपदेश दिव्यध्वनि के द्वारा लोगों के हितार्थ दिया। प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता। यह एक ऐसा सर्वोदय तीर्थ है जिस पर कोई भी प्राणी आकर तदनुकूल प्रयास/पुरुषार्थ करता है तो वह मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार यह शाश्वत सुख का मार्ग संसार के सभी प्राणियों के लिये खुला हुआ है।

इस प्रकार यह जो सर्वोदय के उपाय दिये गये, इसमें मानव मात्र ही नहीं अपितु प्राणी मात्र को, चारों गतियों के जीवों को, चौरासी लाख योनियों के लोगों को, त्रस स्थावर सभी का हित निहित था। अतः यह जनोपयोगी सर्वोदय तीर्थ कहलाया जिसमें बिना किसी भेदभाव के, बिना किसी धर्म, संप्रदाय, जाति, योनि, वर्ण आदि किसी भी पक्षपात से रहित प्राणी मात्र के उद्धार का मार्ग था। यह सर्वोदयी धर्म प्राणी के मन-वचन-काय को सुखमय बनाने का श्रेष्ठ आधार है और रहेगा। यहाँ आकर यदि “श्रेणिक” तिरता है तो उसके

हाथी के पैर के नीचे आने वाले मेढक जैसे तुच्छ तिर्यच प्राणी के लिये भी उद्धार का मार्ग खुला है।

सर्वोदय तीर्थ का लक्ष्य सर्वतोन्मुखी, सर्वदुःखहारा, सर्वजनहिताय, सत्त्वेषु मैत्री की भावना से युक्त, परस्पर विचारों की ऐक्यता कायम कर जीव मात्र को समता की अनुभूति कराने वाला है। मानव जाति के लिये यह अस्तित्व की भावना सर्वोदय तीर्थ से प्राप्त होती है। सर्वोदय तीर्थ में सबका आदर है, सबकी मंगल कामना है। होवे सारी प्रजा को सुख की भावना से प्राणीमात्र का कल्याण है।

Sarvodaya is a term means universal uplift and progress of all. Economic and social development and improvement of a community as a whole.

नेट व सोशल मीडिया पर देखें तो सर्वोदय शब्द का प्रयोग महात्मा गाँधी ने प्रारंभ किया, ऐसी उनकी अवधारणा है परन्तु यह सही नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र की ११ रचनाओं में युक्त्यानुशासन ६४ पदों की रचना है। भगवान महावीर के सर्वोदय तीर्थ का महत्व प्रतिपादित करने के लिये उनकी स्तुति की गई है। इसमें युक्ति पूर्वक भगवान महावीर के शासन का मण्डन और विरुद्ध मतों का खण्डन किया गया है। जिनशासन की वृहत् भावना को इन पदों में समाविष्ट करके आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने गागर में सागर भर देने की कहावत को चरितार्थ किया है। यह एक बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसके ६२वें श्लोक में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं -

सर्वान्तवत्तद् गुणमुख्य कल्पं
सर्वस्व शून्य च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वपदामत्नकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।

अर्थात् आपका यह तीर्थ सर्वोदय सबका कल्याण करने वाला है, जिसमें सामान्य-विशेष, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, अस्ति-नास्ति रूप सभी धर्म गौण मुख्य रूप से रहते हैं। यह सभी धर्म परस्पर सापेक्ष हैं अन्यथा द्रव्य में कोई धर्म या गुण नहीं रह पायेगा तथा यह सभी की आपत्तियों को दूर करने

वाला है और किसी मिथ्यावाद से उसका खण्डन नहीं हो सकता, अतः आपका यह तीर्थ सर्वोदय तीर्थ कहलाता है।

इस कारिका में सर्वान्तवत्, सर्वान्त शून्य मिथ्यात्व, सर्वपदामन्तकर विशेषणों के प्रयोग से सर्वोदय शासन तीर्थ को बताया गया है।

यह आचार्य समन्तभद्र ही थे जिन्होंने सर्वोदय तीर्थ की भावना अनुसार चाण्डाल को भी महत्व दिया।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नपि मातङ्गदेहजम्

देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥२८ २०श्रा०

गणधरादिदेव मातङ्ग देहज चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुये भी सम्यग्दर्शन से युक्त जीव को भस्म से आच्छादित अंगार के भीतरी भाग के समान तेज से युक्त जानते हैं।

इससे अगली २९वीं कारिका में -

श्वापिदेवोऽपि देवः श्वाः जायते धर्मकिल्बिषात्॥२९र.श्रा.

यदि कुत्ता भी इस धर्मतीर्थ सर्वोदय तीर्थ का पालन करता है तो देव हो जाता है, कहकर कुत्ते को तिर्यच जाति के जीव को भी धर्म धारण करने का अधिकारी बनाकर सर्वोदय तीर्थ की स्थापना की है। अन्धविश्वास एवं पाखण्ड से रहित, अहिंसा, सत्य, यथार्थ विश्वास की स्वच्छ वायु में विचरण करने वाले शूद्र को भी देवपूज्यता से विभूषित किया। भिन्न विचारधारा वालों में भी समता एवं माध्यस्थ भाव का उद्घोष अर्थात् एक साथ रहने की कला का प्रकाश इस सर्वोदय तीर्थ का प्राण है। विरोध में अवरोध, मतभेद में अभेद भाव ही समस्त संघर्षों को समाप्त कर विश्वशान्ति व सह अस्तित्व स्थापित करने वाला है।

खम्मामि सव्व जीवाणं - में सव्व शब्द का प्रयोग प्रकट करता है कि धर्म प्रवर्तन सर्वोदय सभी के हित के लिये ही है, किसी विशेष के लिये नहीं। आ० समन्तभद्र कहते हैं कि जगत में जितने प्राणी हैं, सबको, सबके भाग्य को, सबके पुण्य को आपके पादमूल में उदय मिलता है, अतः आपका तीर्थ सर्वोदय तीर्थ है। जगत के सभी प्राणी आपके पादमूल में रह सकते हैं। इन दो कारिकाओं के द्वारा आचार्यों ने कुछ अन्य दर्शनों से विचारों को भी नष्ट करने की कोशिश की है कि हम नित्यवादी नहीं, नित्य एकान्तवादी नहीं कि

जो होगा, देव देव ही रहेंगे कुत्ता कुत्ता ही रहेगा, यह स्याद्वाद दर्शन नहीं मानता। स्याद्वाद दर्शन में या सर्वोदय तीर्थ में अगर कुत्ता पुरुषार्थ करता है तो देव हो सकता है और यदि देव पाप करता है तो कुत्ता हो सकता है। द्रव्य कूटस्थ नहीं है, द्रव्य नित्यानित्य है, द्रव्य दृष्टि से नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। यह आचार्य समन्तभद्र की गरिमा ही थी कि उन्होंने कहा संसार में कण-कण स्वतंत्र है। जिसको अपनी स्वतंत्रता का ही बोध नहीं, वह कैसे तिर पायेगा ? कोई भगवान या कोई शक्ति आपको भगवान बनने से नहीं रोक सती तथा न ही कोई कृपा करके आपको मोक्ष पहुँचा सकती है, यह तो आपका ही पुरुषार्थ है जो आपको फल देगा और यह पुरुषार्थ सभी कर सकते हैं, इसीलिए इसे सर्वोदय तीर्थ कहा है।

आचार्य समन्तभद्र दूरदर्शी एवं लोकहितैषी आचार्य थे। सभी श्रावकाचारों में रत्नकरण्डक श्रावकाचार प्रथम श्रावकाचार है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके पूर्ववर्ती आ० कुन्दकुन्द ने जहाँ निश्चय शैली को प्राथमिकता दी वहाँ आ० समन्तभद्र ने व्यवहार शैली को अपनाया। आ० कुन्दकुन्द ने जहाँ अपने श्रमणों को ही सन्मार्ग पर लाने तथा आगम युक्त चर्या का पालन करने पर जोर लगाया, वहाँ आ० समन्तभद्र के समक्ष सबसे प्रमुख कार्यक्षेत्र था 'पर मत परिहार' एवं भगवान महावीर के अनेकान्त दर्शन की स्थापना, जैन न्याय की रचना एवं प्रसार। अन्य दर्शनों की एकान्तिक, भ्रमपूर्ण, विभिन्न गलत मान्यताओं का निरसन कर स्याद्वाद, अनेकान्त, न्याय, प्रमाण, नयनिक्षेप की सम्यक्ता को स्थापित कर जिनधर्म की प्रभावना का महत्वपूर्ण कार्य आ० समन्तभद्र स्वामी ने किया। उनको सार्वजनिक क्षेत्र में प्रमाणविद्या, हेतुविद्या, तर्कविद्या का सूत्रधार कहा जाना सम्मत ही है। उनके गंभीर, तर्कपूर्ण, अकाट्य प्रमाणों का ही यह परिणाम था कि अन्य मतों को मानने वाले अनेक राजाओं ने जैनधर्म और दर्शन को स्वीकार किया। उनके प्रभाव से ही राजा शिवकोटि ने संपूर्ण साम्राज्य के साथ जैन धर्म स्वीकार किया तथा बाद में निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि दीक्षा अंगीकार कर बाद में आचार्य पद प्राप्त कर मूलाराधना-भगवती आराधना ग्रन्थ की रचा की। आचार्य समन्तभद्र अत्यन्त उत्कृष्ट सिंह वृत्ति के निशंक तथा शास्त्रार्थ करने में अग्रणी थे।

स्वयंभू स्तोत्र में आचार्यश्री कहते हैं -

न पूजयार्थस्त्वपि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त वैरे।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातुचित्तंदुरिताज्जनेभ्यः॥

हे भगवन ! आप वीतराग हैं, अतः आपको पूजा-स्तुति से कोई प्रयोजन नहीं है, आप वैर-विरोध से रहित हैं, अतः आपको निंदा से भी कोई प्रयोजन नहीं है फिर भी हे प्रभो ! जो आपके गुणों का स्मरण करता है, उसका मन पाप रूपों से रहित हो जाता है।

स्तुतिविद्या के ११४वें श्लोक में एवं स्वयंभूस्तोत्र के ६९वें पद में आचार्य कहते हैं जो एकाग्रचित्त होकर स्तुति करता है वह आपके गुणानुवाद, प्रेम व भक्तिभाव के द्वारा विशिष्ट सौभाग्य को प्राप्त होता है। यहाँ दोनों में ही जो भी कर्ता है, वह पाप से रहित हो जाता है, ऐसा कहकर सभी प्राणियों के कल्याण की संभावना व्यक्त की है।

आचार्य समन्तभद्र प्रथम साधक आचार्य हैं जिन्होंने एक ओर एकान्तवादियों की संकीर्ण मानसिकता की उग्रता को शिथिल कर समन्वय एवं सर्वोदयी संदेश देकर विश्वबन्धुत्व की कामना की तो दूसरी ओर रत्नकरण्डक श्रावकाचार जैसे सरल और संस्कृत भाषा शैली में श्रावकों के लिए आदर्श आचार संहिता Code of Conduct के लेखन से आने वाली पीढ़ी को धर्म से जुड़ने हेतु प्रोत्साहित किया। उन्होंने जीवन और आचारों की मीमांसा नपे तुले शब्दों में करते हुये मानव मात्र के नैतिक जीवन का मार्ग प्रशस्त करने की कोशिश की।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार के १९वीं व २०वीं कारिका में आ० समन्तभद्र स्वामी ने सम्यक्दर्शन के आठ अंगों में प्रसिद्ध आठ लोगों का नामोल्लेख किया है -

तावदंजनचौरोड.गे, ततोऽनन्तमतिः स्मृता।

उद्दायनस्तृतीयेऽपि, तुरीये रेवतीमता॥१९

ततो जिनेन्द्र भक्तोऽन्यो, वारिषेणस्ततः परः।

विष्णुश्च वज्रनामा च, शेषयोर्लस्यातांगतौ॥ २० र०श्रा०

प्रथम अंग में अंजन चोर, द्वितीय अंग में अनन्तमयी, तृतीय अंग में उद्दायन राजा, चौथे अंग में रेवती रानी, पांचवे अंग में जिनेन्द्र भक्त सेठ, छठे

अंग में वारिषेण राजकुमार, सातवें अंग में विष्णु कुमार मुनि एवं आठवें अंग में वज्रकुमार मुनि प्रसिद्ध हुए हैं।

ये दो कारिकायें आचार्य समन्तभद्र की सर्वोदयी भावना का बहुत बड़ा प्रमाण है। वह चाहते तो आठों अंगों में आठ मुनिराज या राजाओं का नामोल्लेख कर सकते थे पर उन्होंने सर्वोदयी भावना को दृष्टिगत रखते हुये इसमें मुनि हैं तो श्रावक भी हैं, राजा हैं तो रानी भी हैं, सेठ भी हैं तो चोर भी हैं, पुरुष भी हैं तो महिलायें भी हैं। आठों अंगों में सभी प्रकार के नामोल्लेख कर अपनी सर्वोदयी भावना का श्रेष्ठतम प्रमाण दिया है।

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने अनेक दार्शनिकों के एकान्तवाद की मीमांसा कर और उनका समन्वय कर उन्हें यथार्थ स्थिति का बोध कराया, वहीं अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगी नय, प्रमाण आदि के विकास हेतु अपने चिन्तन द्वारा अनेक नयी उद्भावनायें प्रस्तुत कीं। साथ ही समाज के बीच जाकर समन्वय, सौहार्द, विश्वबन्धुत्व तथा प्राणीमात्र के प्रति हित एवं सुख की मंगल कामना के प्रतीक “सर्वोदय” को प्रथम संदेश द्वारा सर्वोदयी भावना से युक्त सुखी, समृद्ध और शान्तिप्रिय समाज की राह निर्माण का संदेश दिया।

- जैन नर्सिंग होम,
सिटी पोस्टऑफिस के सामने,
मैनपुरी - २०५००१ (उ.प्र.)

श्रद्धांजलि : श्रीमती दर्शनमाला जैन

दिल्ली जैन समाज के अध्यक्ष एवं लोकप्रिय समाजसेवी श्री चक्रेश जैन की मातेश्वरी श्रीमती दर्शनमाला जैन का निधन १७ दिसम्बर, २०१३ को ९० वर्ष की उम्र में पूर्ण चैतन्य अवस्था में हो गया। अंतिम क्षणों तक आपकी भावना जिनेन्द्र प्रभू के दर्शन की होती रही।



श्रीमती दर्शनमाला जी दरियागंज नई दिल्ली की एक धर्मपरायण सेवाभावी, मुनिभक्त व मिलनसार महिलारत्न थीं। आपका वीर सेवा मंदिर के लिए सदैव सहयोग रहा है और श्री चक्रेश जैन, वीर सेवा मंदिर के कार्यकारिणी सदस्य के रूप में इस शोध संस्थान को समर्पितभाव से सहयोग देते हैं।

आपकी श्रद्धांजलि सभा में श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी, ऐलाचार्य प्रज्ञसागर जी, आचार्य शिवमुनिजी के सांत्वना व आशीर्वाद संदेश पढ़े गये। शताधिक संस्थाओं, परिषदों, विद्यालयों आदि से शोक संदेश पत्र आये। विभिन्न वक्ताओं में प्रमुख दिल्ली की पूर्व मुख्यमंत्री श्रीमती शीला दीक्षित, भा.ज.पा. अध्यक्ष विजय गोयल, पूज्य लोकेश मुनिजी, वीर सेवा मंदिर के निदेशक निहालचंद जैन, विधायक प्रह्लाद सिंह साहनी, विजेन्द्र गुप्ता, स्वदेश भूषण जैन (पंजाब केसरी), पंकज जैन आदि ने श्रीमती जैन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की चर्चा करते हुए कहा कि आपने परिवारजनों को धार्मिक सुसंस्कार दिये।

वीर सेवा मंदिर एवं पदाधिकारीगण, मातुश्री के देहावसान पर हार्दिक शोक व्यक्त करते हुए दिवंगत आत्मा की अक्षय सुखशान्ति व सद्गति के लिए वीर प्रभु से प्रार्थना करते हैं।

बधाई/अभिनंदन

डॉ. जयकुमार जैन-अहिंसा इंटरनेशनल पुरस्कार से सम्मानित

नई दिल्ली। जैन साहित्य की बहुआयामी श्री वृद्धि में विशेष योगदान देने वाले डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फनगर (उ.प्र.) को अहिंसा इंटरनेशनल डिप्टीमल आदीश्वर लाल जैन साहित्य पुरस्कार (जिसमें ५१ हजार का चेक एवं प्रशस्तिपत्र) श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज के सान्निध्य में कुन्दकुन्द भारती के खारवेल भवन में आयोजित कार्यक्रम में १२ जनवरी २०१४ को प्रदान किया गया।



आप प्राथमिक स्तर से लेकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर की परीक्षा में सदा प्रथम स्थान प्राप्त कर स्वर्ण पदक विजेता बने। आपने 'पार्श्वनाथ चरित का समीक्षात्मक अध्ययन' विषय पर बहु-प्रशंसित शोधकार्य करके पीएच.-डी. की उपाधि प्राप्त करने के साथ-साथ सिद्धान्त शास्त्री आदि अनेक उपाधियां प्राप्त कीं। आपने ५० से अधिक विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तकें, जिनमें से १० पाठ्यक्रम में निर्धारित/संस्तुत हैं। आपने अनेक जैन ग्रन्थों का अनुवाद, सम्पादन एवं समीक्षा, १०० से अधिक शोधपत्र एवं अनेकों सामाजिक लेख तथा कई संगोष्ठियों का संचालन एवं संयोजन कर चुके हैं।

आप वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, नई दिल्ली से प्रकाशित देश की ख्यातिप्राप्त "अनेकान्त" शोध त्रैमासिकी पत्रिका के सन् २००० से प्रधान सम्पादक हैं। अनुसंधान, शोध वैचारिकी, तीर्थंकर वाणी, शास्त्री परिषद्, गुप्ति संदेश, सराक ज्योति आदि में संपादन एवं लेखन के रूप में विशिष्ट योगदान रहा है। आप वर्तमान में मुजफ्फनगर में स्थित एस. डी. पी. जी. कॉलेज में संस्कृत विभागाध्यक्ष, अखिल भारतवर्षीय विद्वत् परिषद् के यशस्वी अध्यक्ष, भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अन्तर्गत वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की प्राच्य धर्म दर्शन परिभाषा कोष योजना में विशेषज्ञ सहायक के रूप में प्रशंसनीय सेवाएं दे रहे हैं।

वीर प्रभु आपकी लेखनी को सतत प्रवहमान रखें ताकि आपके अनुभवों का समाज को लाभ मिलता रहे।

- डॉ. आलोक कुमार जैन (उपनिदेशक) वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली

वीर सेवा मन्दिर में आयोजित आचार्य पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' स्मृति व्याख्यानमाला

‘वीर सेवा मंदिर’ दरियागंज, नई दिल्ली, देश का एक प्रमुख जैनदर्शन शोध संस्थान है, जिसकी स्थापना आ. जुगलकिशोर ‘मुख्तार’ ने सन् १९२९ में की थी। आपकी पुण्य तिथि २२ दिसम्बर को ‘राष्ट्रीय व्याख्यानमाला “आचार्य समन्तभद्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व” विषय पर संस्थान के सभागार में आयोजित की गई। यावत् जीवन मुख्तार साहब ने आचार्य समन्तभद्र स्वामी पर शोधकार्य व साहित्य-सृजन किया। सभी आमंत्रित विद्वानों ने एकमत से यह स्वीकार किया कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी का कार्यकाल ईसा की दूसरी शताब्दी ही रहा है। कतिपय विद्वान् उन्हें गलती से पाँचवी शताब्दी का मानते हैं, क्योंकि उन्होंने सामन्तभद्र सूरि जो ५वीं सदी में हुए, उनको ही आचार्य समन्तभद्र स्वामी मान लिया है जो बिल्कुल ही ठीक नहीं है। समारोह की अध्यक्षता देश के ख्यातिप्राप्त वरिष्ठ विद्वान् प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी जैन फिरोज़ाबाद ने की।

व्याख्यानमाला का शुभारम्भ प्रो. श्रीयांसकुमार सिंघई, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जयपुर ने आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का विहंगम परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा कि आप्त की पूज्यता, उनके बाह्यकारणों से नहीं है। ‘भवेत्’ जो भव का नाश करने वाला होता है, वस्तुतः वह सर्वज्ञ ही महानता को प्राप्त है। “आचार्य समन्तभद्र का सर्वोदय तीर्थ” पर व्याख्यान देते हुए डॉ. सुशील कुमार जैन, मैनपुरी ने कहा कि सर्वोदय तीर्थ सर्वप्रथम भगवान् महावीर कृत है। मुख्य अतिथि प्रो. वृषभप्रसाद जी जैन, लखनऊ ने दोनों विद्वान्-वक्ताओं के व्याख्यानों की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए कहा कि आप्त पर प्रारम्भ हुई चर्चा कहाँ ले जाती है? उपास्य मात्र होने से कोई पूज्य नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्र ने शैव आदि अनेक वेष धारण कर भावैकान्त व अभावैकान्त आदि का स्वरूप समझाकर ‘आर्हतं मतं’ की स्थापना की। उन्होंने चतुर्विंशति स्तवन के माध्यम से दर्शन की गुत्थियों को समझाने का

प्रयास किया। वे मात्र स्तुतिकार नहीं हैं, बल्कि जैनदर्शन के मूलबिन्दुओं की उन्होंने प्रतिष्ठापना की।

समारोह अध्यक्ष प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी ने अध्यक्षीय भाषण में आचार्य समन्तभद्र के कृतित्व पर प्रकाश डाला। प्राचार्य जी ने जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द देव को मुनियों के प्रति संबोधन-केन्द्रित रचे गये ग्रन्थों को याद किया, वहीं आचार्य समन्तभद्र को श्रावक मैत्री के रूप में उल्लिखित किया। जैनधर्म की प्रभावना में, प्रतिकूलताओं में रचे गये ग्रन्थों की सार्वभौमिकता आज भी उतनी ही है। अध्यक्ष जी का प्रभावी व्याख्यान श्रोताओं द्वारा मंत्रमुग्ध होकर सुना गया।

कार्यक्रम का प्रारम्भ भगवान् महावीर के चित्र अनावरण, दीप प्रज्वलन एवं ध्वजारोहण और जिनवाणी पूजन तथा मंगलाचरण से हुआ। संस्था के अध्यक्ष श्री सुभाष जैन ने संस्था का परिचय और महामंत्री श्री विनोदकुमार जी ने स्वागत भाषण दिया। तत्पश्चात् 'अनेकान्त' शोध त्रैमासिकी (अंक ६७/१ जन.-मार्च २०१४) का लोकार्पण किया गया। इस अवसर पर प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी को एक गरिमामय 'अभिनन्दन पत्र' उनकी अनन्य धार्मिक एवं सामाजिक सेवाओं के लिए भेंट करते हुए "जैनविद्या प्रज्ञ" की उपाधि से अलंकृत किया गया। अभिनन्दन-पत्र का वाचन वीर सेवा मंदिर के निदेशक प्राचार्य निहालचंद जैन ने किया।

कार्यक्रम का संचालन प्रो. डॉ. जयकुमार जैन, मुजप्फरनगर (सम्पादक-अनेकान्त) ने किया। कोषाध्यक्ष श्री वीरेन्द्र कुमार जैन ने उपस्थित सभी विद्वानों एवं गणमान्य प्रबुद्ध श्रोताओं का आभार व्यक्त किया। समारोह में देश के लगभग २० विद्वानों की सहभागिता रही, जो संस्था से जुड़ाव का परिचायक है।

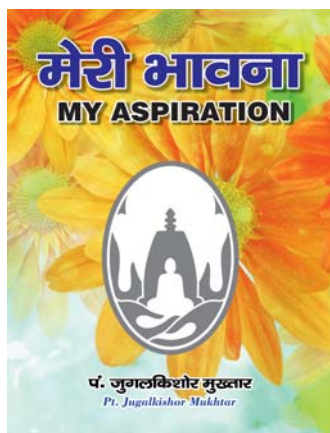
समाज के प्रमुख श्रेष्ठि वर्ग व विद्वान् जिनकी सन्निधि प्राप्त हुई, उनमें प्रमुख हैं- सर्व श्री भारतभूषण जैन एडवोकेट, चक्रेश जैन, रूपचन्द कटारिया, विमल प्रसाद जैन, प्रो. एम.एल. जैन, प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी, डॉ. जयकुमार जैन, डॉ. जयकुमार उपाध्ये, डॉ. नरेन्द्रकुमार गाजियाबाद, डॉ. रमेशचन्द्र जैन बिजनौर, डॉ. फूलचन्द प्रेमी, प्रो. अशोक कुमार जैन, डॉ. सुरेशचन्द्र जैन, डॉ. सत्यप्रकाश जैन, प्रो. वीरसागर जैन,

डॉ. कल्पना जैन, डॉ. अनेकान्त जैन, डॉ. आनन्द कुमार जैन, डॉ. आलोक कुमार जैन, डॉ. पुलक गोयल, स्वराज जैन, धनपाल सिंह जैन, श्रीकिशोर जैन, सतीश जैन, प्रताप जैन, अनिल जैन राजधानी, रिक्षपाल जैन, भूषण जैन, विजय जैन, ए.पी. जैन, प्रवीण जैन, सुदर्शन जैन, डॉ. प्रशान्त जैन, पं. सोनल शास्त्री आदि। कार्यक्रम का समापन श्री जिनवाणी स्तुति से किया गया।

- विनोद कुमार जैन
(महामंत्री)

“मेरी भावना” का प्रकाशन

वीर सेवा मंदिर एवं सिद्धोमल चैरिटेबल ट्रस्ट, बाराखम्बा रोड, नई दिल्ली ने इस वर्ष “मेरी भावना” का आर्ट पेपर पर बहुरंगी प्रिंट में मनभावन प्रकाशन करवाया है। जो भी संस्था, परिषद, जैन मंदिर अथवा कोई भी ट्रस्ट इसका वितरण कराना चाहे, वह उचित डाकव्यय भेजकर निःशुल्क “मेरी भावना” पुस्तिकायें प्राप्त कर सकता है। साधर्मी भाई प्रत्यक्ष रूप से वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली आकर भी पुस्तिका प्राप्त कर सकते हैं।



- महामंत्री, वीर सेवा मंदिर
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

पुस्तक समीक्षा

(१) जैन तीर्थवंदना एवं दर्शनीय स्थल

लेखक- डॉ. आर. के. जैन, प्रकाशक- आर. के. प्रकाशन, ७०, स्टेशन रोड, कोटा (राज.), संस्करण- प्रथम सितम्बर, २०१२, पुनर्मुद्रित-मार्च, २०१३, मूल्य : ९० रु. पृष्ठ संख्या-२५४ ।

लेखक ने अत्यन्त श्रम करके जैन तीर्थ स्थलों का भारतवर्ष के १६ प्रदेशों के लगभग २१० जैन तीर्थों का वर्णन बिंदुवार किया जिसमें यात्रियों को पहुंच मार्ग, सुविधाएँ, खान-पान व्यवस्था आदि का वर्णन सुलभ हो सके। आवश्यक मानचित्रों के माध्यम से भी पहुंचमार्ग दर्शाया गया है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। पूज्य मुनिपुंगव श्री सुधासागर जी महाराज जैसे संतों का इसे आशीर्वाद प्राप्त हुआ। प्रकाशक के अलावा इसे सुनील न्यूज एजेंसी-नयापुरा, कोटा आदि से प्राप्त किया जा सकता है।

(२) “गई बहुत थोड़ी रही” (आत्म मंथन)

लेखक- प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, प्रकाशक- श्रुतसेवा निधि न्यास फिरोजाबाद (उ०प्र०), पंजीकृत कार्यालय- १०४, नई बस्ती, फिरोजाबाद-२८२२०३, प्रथम संस्करण- जनवरी २०१४, पुण्यार्जक- भुवनेन्द्र कुमार, उपेन्द्रकुमार जिनेन्द्र कुमार जैन, मूल्य : चिंतन-मनन, पृष्ठ सं. ९६

लेखक देश के जाने माने वरिष्ठ विद्वान, लेखक एवं श्रेष्ठ प्रवचनकार हैं। जीवन के ८० बसंत देखने के बाद- एक साहित्य-मनीषी अपने जीवन के अनुभवों को शेयर करना चाहता है। पुस्तक का केन्द्र बिन्दु है कि जैसा साधु जीवन जिया वैसे ही मरण की तैयारी का मनोविज्ञान, इर्द-गिर्द घूमता हुआ है। स्वान्तः सुखाय, बहुजनहिताय, स्वमूल्यांकन और कुछ संकलित खण्डों के माध्यम से २२ शीर्षकों के अन्तर्गत जीवन के अनुभव एवं आत्म-चिंतन का कैनवास रचा गया है। भाषा प्रवाह सुरुचिपूर्ण, प्रभावी एवं एक बैठक में पढ़ने जैसी मनमोहक पुस्तक है। पुस्तक संग्रहणीय है।

(३) अक्षर - 2014

प्रा. नरेन्द्रप्रकाश जैन द्वारा संस्थापित श्रुतसेवा निधि न्यास, फिरोजाबाद की वार्षिक परिचायिका “अक्षर-२०१४”, अक्षर २०१३ की भाँति, कवि घानतराय के इस आदर्श दोहे को प्रतिबिम्बित करती हुई वीर सेवा मंदिर शोध संस्थान को प्राप्त हुई।

“सबद अनादि अनन्त, ग्यान कारन बिन मत्सर।

हम सब सेती भिन्न, ग्यानमय चेतन अक्षर॥

न्यास ने अबतक लगभग पन्द्रह कृतियों का प्रकाशन कराया और इनके लेखकों को सम्मानित भी किया।

संपादक- अनूपचंद जैन एडवोकेट, प्रा. नरेन्द्रप्रकाश का “अक्षर विमर्श” पठनीय है। एक छोटा मंत्र है - अर्ह जो वर्णमाला के प्रथम अक्षर ‘अ’ और अन्तिम ‘ह’ के योग से बना है। शब्द-विमर्श आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज, पुष्पेश पंत, डॉ. जयकुमार जलज, कैलाश मड़वैया, प्रा. निहालचंद जैन एवं अर्हद्वचन की समीक्षा भी पठनीय है। श्री भानुप्रताप सिंह, श्री चक्रेश जैन और डॉ. कैलाश वाजपेयी साहित्य-मनीषियों का न्यास द्वारा सम्मान किया जाना, उनकी साहित्यिक उपलब्धियों के लिए अर्घ्य है।

समीक्षाकार- निहालचंद जैन

वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, नई दिल्ली

(४) लोकोत्तर साधक

(आचार्य श्री शान्तिसागर जी के जीवन-प्रसंग)

लेखक - प्राचार्य पं. निहालचंद जैन, निदेशक, वीर सेवा मंदिर, प्रकाशक- गजेन्द्र ग्रन्थमाला अन्तर्गत, एन. एस. इन्टरप्राइजिस, 2578, गली पीपल वाली, धर्मपुरा, दरीबाकलां, दिल्ली-०६, फोन 09810035356

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री के ४८ जीवन प्रसंगों से युक्त कृति की आमुख कथा डॉ. प्रो. रतनचन्द्र जैन, भोपाल ने लिखकर जीवन-प्रसंगों के रहस्यों को उद्घाटित किया है। मूल्य : ८० रु., पृष्ठ सं. १५० ।

पाठकों के पत्र

“अनेकान्त” जैन विद्याओं और तुलनात्मक धर्मशास्त्र तथा सांस्कृतिक इतिहास को शोध के निकष पर व्याख्यापित करने वाली आदर्श पत्रिका है। इसका सामग्री संचयन, सम्पादन, मुद्रण और साजसज्जा सभी कुछ अभिराम है। सम्पादक मण्डल और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

- डॉ. भागचन्द जैन, ‘भागेन्द्र’, निदेशक,
संस्कृत प्राकृत तथा जैन विद्या अनुसंधन केन्द्र- दमोह (म.प्र.)

‘अनेकान्त’ शोध त्रैमासिकी, जो वीर सेवा मंदिर से प्रकाशित हो रही है, नियमित मिल रही है। जैन समाज में कुछ ही इस स्तर की पत्रिकाएँ हैं जिन्हें पढ़कर जैनदर्शन के नये शोध आयामों से परिचय प्राप्त होता है।

पं. विमलकुमार जैन प्रतिष्ठाचार्य
संपादक- वीतराग वाणी, टीकमगढ़ (म.प्र.)

दिगम्बर जैन समाज में वर्तमान में जितना क्रेज पंचकल्याणक महोत्सवों और खर्चीले समारोहों का है, उतना ध्यान, स्वाध्याय और ग्रन्थों के रख-रखाव व पठन-पाठन पर नहीं है। ‘अनेकान्त’ जैसी शोध- पत्रिकाएं, जैन-जगत में कितनी प्रकाशित हो रही हैं और उनके कितने पाठक हैं जो रुचि से उन्हें पढ़ते हैं? वीर सेवा मंदिर बहुत बड़ा काम रही है, जो ऐसी उच्च स्तरीय शोधपूर्ण पत्रिका प्रकाशित करके जैनदर्शन/धर्म की मूल आस्था के चिरजीवी बनाये हुए हैं। इसमें प्रकाशित लेखों की गुणवत्ता प्रशंसनीय है। सम्पादक एवं सम्पाक मण्डल को मेरी हार्दिक बधाई।

- महेन्द्रकुमार मोतीलाल गांधी
(से.नि. इंजीनियर) मुम्बई

नोट : इस अंक से पाठकों की प्रतिक्रिया नामक नया स्तंभ प्रारंभ किया जा रहा है। कृपया सुधी पाठक अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं।

अनेकान्त 67/3, जुलाई-सितम्बर 2014

1

Year-67, Volume-3
RNI No. 10591/62

July.- Sept. 2014
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110002

अनेकान्त

ANEKANT

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल	Editor
प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना (निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली)	Pt. Nihal Chand Jain- Bina Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi
प्रो. डॉ. राजाराम जैन-नौयडा	Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida
प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ	Prof. Dr.Vrashabh Prasad Jain,Lucknow
प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन,जयपुर	Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur
प्रो. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत	Prof. Dr. Shreyans Kr. Jain, Baraut
श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली	Sh. Roop Chand Kataria, New Delhi
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली	Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

Our Banker : Bank of India A/c No. 603210100007664,
Ansari Road, Daryaganj, New Delhi (IFSC- BKID0006032)

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -
वीर सेवा मंदिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)
21, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
All correspondence for the journal & editorial on-
Vir Sewa Mandir (A Research Institution for Jainology)
21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002
फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522
e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

चेतन यह बुधि कौन सयानी ?

चेतन यह बुधि कौन सयानी ? कहि सुगुरू हित सीख न मानी,
कठिन काक ताली त्यो पायो, नर भव, सुकुल, श्रवन जिनवानी।
भूमि न होत चाँदनी की ज्यों,
त्यो नही धनी ज्ञेय को ज्ञानी।
वस्तु रूप यो तू यों ही शठ,
हठकर पकरत सोंज विरानी। चेतन.....

ज्ञानी होय अज्ञान, राग रूष
कर निज सहज स्वेच्छता हानी,
इन्द्रिय जड़, तन विषय अचेतन,
तहाँ अनिष्ट, इष्टता ठानी। चेतन.....

चाहे सुख, दुख की अवगाहै,
अब सुन विधि जो है सुख दानी,
“दौल” आप करि आप आप में
ध्यायलाय समरस रस ज्ञानी। चेतन..

- कविवर दौलतराम

विषयानुक्रमणिका

<u>विषय</u>	<u>लेखक का नाम</u>	<u>पृ. संख्या</u>
1- सम्पादकीय	- डॉ. जयकुमार जैन	5- 8
2- आ. समंतभद्र का आप्त मीमांसा	- प्रो. श्रीयांस कु. सिंघई	9-18
3- ध्यान का स्वरूप एक चिंतन	- डॉ. राजेन्द्र कु० बंसल	19- 29
4. वर्तमान में धार्मिक अनुष्ठान प्रतिष्ठा विधि-विधानों में विसंगतियाँ	- पं. सनतकुमार विनोद कुमार	30-40
5. जैनदर्शन में द्रव्य-गुण पर्याय	- डॉ. श्रेयांस कुमार जैन	41-51
6. पुरुषार्थसिद्धयुपाय में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	- डॉ. रमेशचन्द्र जैन	52-57
6. आचार्य वादीभसिंह और उनका क्षत्रचूडामणि	- अनिल कुमार जैन	58-71
7- मथुरा के पुरातत्त्व में जैन प्रतीकों का अंकन	- डॉ. संगीता सिंह	72- 78
8- जैन विज्ञान (Jain Vigyan)	- Prof. M. L. Jain	79-84
9- प्राकृत के कुछ भाषामूलक पक्ष	- डॉ. वृषभ प्रसाद जैन	85-90
10- पुस्तक समीक्षा (पं. निहालचंद जैन)		91-92
11- अभिनंदन		93
12- श्रद्धांजलि (डॉ. सुरेशचन्द्र जैन)		94
13- पाठकों के पत्र		95-96

संपादकीय

पुरातत्त्व एवं नवनिर्माण

यह सुविदित तथ्य है कि बीज के विध्वंस के बिना वृक्ष की उत्पत्ति संभव नहीं है और वृक्ष की वृद्धि के बिना फलागम संभव नहीं है। आजकल कुछ संस्थाओं पर मालिकाना हक समझने वाले तथा कथित अध्यक्ष और उनके द्वारा रेवड़ियों की तरह बाँटे जा रहे पदों पर आरूढ़ अन्य पदाधिकारीगण पुरातत्त्व संरक्षण के नाम पर जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण के विरुद्ध जो विषाक्त वातावरण बना रहे हैं, वह जैन समाज के पतन का कारण नहीं बनेगा, ऐसा दावा किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता है। हद तो तब हो गई जब वे अपनी तीर्थ जीर्णोद्धार की दुकानदारी चलती न देख जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण के सम्प्रेरक पूज्य परमेष्वीजनों को पापी एवं महापापी कहकर अपनी जिह्वा को अपावन तो बना ही रहे हैं, साथ ही समाज को ऐसे अन्धगर्त में गिराने का कुप्रयास भी कर रहे हैं, जिसका कुपरिणाम हमें पीढ़ी दर पीढ़ी भोगना पड़ सकता है। हमें पुरातत्त्व की सीमा का निर्धारण करके उसके संरक्षण का प्रयास अवश्य करना चाहिए, किन्तु आरोपों में भाषा की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। खन्दारगिरि (चन्देरी), सेरोन जी, देवगढ़ (ललितपुर), बजरंगढ़ (गुना), सांगानेर (जयपुर), बिजौलिया (झालावाड़), चाँदखेड़ी आदि में पूज्य मुनियों की प्रेरणा से समाज ने जो जीर्णोद्धार के कार्य कराये हैं, उनमें पदारूढ समितियों के विरोधी खेमों में मतभेद हो सकते हैं, किन्तु इसे तो वे भी मानते हैं कि जो हुआ है वह तत्रत् क्षेत्रों का स्वर्णिम अध्याय है। मेरा निवेदन है उन फतवा जारी करने वाले ज्ञानाहंकारियों से कि वे अधिकचरे ज्ञान के आधार पर आगम की झूठी डींगें न हाँके। हाँ, हो सकता है कि व्यापार, पत्रकारिता या न्याय के क्षेत्र में वे उच्चकोटि के ज्ञाता हों।

स्वयं विध्वंस के कगार पर मौजूद जिनायतनों का यदि नवनिर्माण या समाज न रहने पर स्थानांतरण होता है तो हमें गंभीरता से तथ्यात्मक चिंतन की आवश्यकता है। डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, अध्यक्ष- अखिल भारतवर्षीय

दिगम्बर जैन शास्त्र परिषद् ने ०१ जून २०१४ को खतौली में आयोजित अधिवेशन के अवसर पर जो पुरातत्त्व संदर्भित कहा था उसे मैं यहाँ यथावत् उद्धृत कर रहा हूँ - “कहीं मंदिर निर्माण को लेकर या पुराने मन्दिरों के जीर्णोद्धार को लेकर पुरातत्त्व के नाम से कुछ लोग विसंवाद करने से नहीं चूक रहे हैं। यहाँ तक की असामायिक लोग जो मन में आ रहा है वह बोल रहे हैं, लिख रहे हैं। पढ़ने/देखने/सुनने में आ रहा है कि चारित्राधारक परमपूज्य आचार्य/ मुनियों को लक्ष्य कर यद्वा-तद्वा लिखा/ बोला जा रहा है। जो धर्म और समाज दोनों को ही अत्यधिक नुकसान पहुँचाने वाला है।

पुरातत्त्व को लेकर जो विवाद उत्पन्न हो रहे हैं या किये जा रहे हैं, उन पुरातत्त्ववेत्ताओं को पुरातत्त्व की परिभाषा करनी होगी। पुरातत्त्व की क्या सीमा है ? क्या १००-२०० वर्ष पुरानी संपदा/ मंदिर धर्मशालायें सभी पुरातत्त्व की सीमा में आयेंगे। पुरातत्त्व के अंतर्गत सभी मंदिरों को घोषित करके क्या मंदिरों को सरकार के अधीन पहुँचाने का दुश्चक्र तो नहीं किया जा रहा है ?”

जैन गजट साप्ताहिक का २६ मई २०१४ का अंक मेरे सामने है। ‘महासभाध्यक्ष का विशेष अनुरोध नाम से छपा है- “श्री नरेन्द्र मोदी की दृढ़ इच्छाशक्ति से प्रेरणा लेवे जैन समाज।” इसमें श्रीमान अध्यक्ष जी का कहना है कि मेरा सभी प्रांतीय एवं केन्द्रीय पदाधिकारियों से अनुरोध है कि न सिर्फ नरेन्द्र मोदी जी की इच्छा शक्ति और कर्मठता से प्रेरणा लेवें बल्कि जैन समाज को और मजबूत करने तथा अपने पुरातत्त्व संरक्षण के कार्य को प्रेरणास्पद मान रहे हैं, उन्हें स्वयं यह पता नहीं है कि वे क्या कह रहे हैं? उनके कथन का क्या अर्थ है ? हाँ उन्हें इतना जरूर पता है कि उनके कुछ धनक्रीत लोग हैं, चेले हैं या नाते-रिश्ते के लोग हैं जो उनकी हाँ में हाँ मिलाने को तैयार हैं। उनसे भी निवेदन है कि वे “मैं” और “मेरा” का त्यागकर समाज और समाज का भाव जागृत करें। उनमें अच्छी नेतृत्व क्षमता है। वे संकीर्णता, संकीर्ण विचारधारा एवं संकीर्ण पंथिक मनोवृत्ति को छोड़कर समाजहितकारी नेतृत्व की ओर बढ़ें। मेरी प्रार्थना है कि समाज का पुण्योदय आये और व्यर्थ के विसंवाद दूर हों।

परोपकार का धंधा :

आजकल देश में परोपकार का धन्धा खूब फल-फूल रहा है और जैन

समाज भी इसमें पीछे नहीं है, बल्कि यह कहा जाये कि इसमें अग्रणी दृष्टिगोचर हो रही है। पहले परोपकार आत्मकल्याण का मार्ग माना जाता रहा है। अब परोपकार के नाम पर तरह-तरह की चालाकियाँ, चतुराईयाँ, बेईमानियाँ हो रहीं हैं। मंच पर बैठने के लिए दान देने वालों की संख्या खूब बढ़ रही है किन्तु प्याऊ लगाने जैसे पारम्परिक परोपकारी प्रवृत्तियाँ घटती जा रही हैं। साधुओं के कार्यक्रमों के खर्चीले लाखों रुपयों के कार्ड छप रहे हैं तथा एतान्निमित्त उन धनपतियों से पैसा बटोरा जा रहा है, जो अपनी अन्यायी एवं अहंकारी प्रवृत्ति के लिए जगत्प्रसिद्ध हैं। अभी मैंने अपनी आँखों से एक आचार्य परमेष्ठी के समक्ष एक धनपति को अपनी ही समाज के व्यक्ति को डेढ़ आने का आदमी कहकर माँ-बहिन की गाली देते देखा। हद तो तब हो गई जब उन्होंने परमेष्ठी के सान्निध्य में आयोजित एक बहुरंगी कार्ड में उन्होंने को विशिष्ट अतिथि के रूप छपा देखा। क्या होगा इस साधुभक्त भोली-भाली समाज का ?

जैन धर्मशालाओं की स्थिति :

जैन समाज की परोपकारी समाज के रूप में ख्याति किसी से छुपी नहीं है। मई के अन्तिम सप्ताह में भ्रमणार्थ विद्वत्परिषद् के संयुक्त मंत्री डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन गाजियाबाद के साथ गया था। एक रात्रि जैन धर्मशाला देहरादून में रुकने का अवसर मिला। जिन दो कमरों में रुकने को कहा गया जब हम वहाँ गये तो उनमें कुछ लोग बैठकर मांस-मदिरा का खुले-आम सेवन कर रहे थे। कमरों से वापिस आने पर जब पटल पर कहा तो बताया गया कि किन्हीं सरदार जी का विवाह का कार्यक्रम था। हमारे निवेदन करने पर दो नये A.C. कमरे एलॉट कर दिये गये। किन्तु मन कचोटता रहा कि क्या यही धर्मशालाओं का सही उपयोग है ? क्या धर्मशाला और होटल में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। क्या हम अहिंसा धर्म का पालन कर रहे हैं? क्या हम वास्तव में जैन हैं? क्या यही उस जैन धर्मशाला का स्वरूप है, जिसमें जिनालय भी है? समाज सकारात्मक चिन्तन करे।

आदर्श वैवाहिक कार्यक्रम :

मुजफ्फरनगर में एक श्रेष्ठी की पुत्री के विवाह के उपलक्ष्य में संगीत की आयोजना थी। संगीत का नामकरण कार्ड में छपा था- जिनवाणी स्तुति

(भक्ति संगीत)। मन प्रसन्न हुआ। वास्तव में देव, शास्त्र, गुरु की स्तुति/ भक्ति के अलावा वहाँ कुछ नहीं था। न भौंड़ा नृत्य था और फिल्मी वैवाहिक गीत। भोजन में भी शुद्ध हरित्-रहित विना आलू-प्याज की सामग्री। विचारें - क्या इसका अनुकरण करके हम एक सद्गृहस्थ की भूमिका का अनायास ही निर्वहन नहीं कर सकते हैं ? नेतृत्व इस ओर सजग एवं सचेत हो तो सब कुछ संभव है। किमधिकं सुविज्ञेषु

- डॉ० जयकुमार जैन

बोध कथा-

संकल्प शक्ति

मनुष्य की कार्यसिद्धि, संकल्प की अनुजीवी होती है। इसके लिए चार बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। (१) आत्म विश्वास (२) आस्था (३) आत्म निर्भरता और (४) मजबूत इरादे। सफलता की कुंजी है- हमारी संकल्प शक्ति। संकल्प गहरा हो तो कुछ भी असंभव नहीं। पहाड़ पर उगते वृक्ष इसके साक्षी हैं। जिनकी जड़ें पत्थरों को फोड़कर मिट्टी तलाश लेती हैं।

अमेरिका में एक अद्भुत साहसी हो गया- ग्लेन कलियस। बचपन में स्टोव फटने से वह अपंग हो गया था। लेकिन विकलांगता उसकी प्रगति में बाधक नहीं बन पायी। उसने हौसला - हिम्मत रखा और हर कार्य को चुनौती मानकर शुरू किया। अनेक रुकावटों के बावजूद उसने स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर डाक्ट्रेट की उपाधि हासिल की।

ग्लेन ने अपना कैरियर अध्यापन से शुरू किया। विलक्षण प्रतिभा के बल पर वह जिस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था, उसी का कुलपति बना। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान उसने अपनी सेवाएँ सेना को प्रदान की। वृद्ध होने पर जीवन भर की जमापूंजी लगाकर एक आश्रम खोला। जिसमें आठ हजार अपंगों को पढ़ने और अनेक कौशल सिखाने की आवासीय व्यवस्था थी। इस प्रकार ग्लेन की अपंगता उसके संकल्प को डिगा नहीं पायी।

- (सौ बोध कथाओं से साभार- पं. निहालचंद जैन)

गतांक से आगे

पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' स्मृति व्याख्यानमाला २२ दिस. २०१३ में दिया गया व्याख्यान -

आचार्य समन्तभद्र का आप्त मीमांसा

प्रो. श्रीयांश कुमार सिंघई, जयपुर

‘देशकालविशेषेऽपि स्याद् वृत्तिर्युतसिद्धवत्।

समानदेशता न स्यात् मूर्तकारणकार्ययोः॥^{५२}

उपर्युक्त दोष प्रक्षालन इस तर्क से नहीं किया जा सकता है कि अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि समवायि पदार्थों में परस्पर स्वातन्त्र्य नहीं है। समवाय उन्हें समान देश और समानकाल में साथ रखता है। अवयव अवयवी आदि में आश्रय भाव है। अवयव आश्रय हैं और अवयवी आश्रयी। इसी प्रकार गुण आश्रय है और गुणी आश्रयी। समवायिपदार्थों में विद्यमान स्वतंत्रता को समवाय कैसे दूर करके उन्हें साथ रहने पर बाध्य कर देता है और स्वयं उन समवायियों से असम्बद्ध रहता है। प्रश्न होता है कि समवाय अपने समवायियों में अन्य समवाय के कारण से रहता है या स्वतः रहता है। यदि अन्य समवाय के कारण समवायियों में समवाय रहता है तो उस अन्य समवाय का सम्बन्ध भी समवायियों के साथ तीसरे समवाय से होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष प्रसंग अपरिहार्य हो जाता है। अथवा समवाय अपने समवायियों (अवयव-अवयवियों) में स्वतः रहता है तो अवयवी भी अपने अवयवों में समवाय की अपेक्षा किये बिना स्वतः ही रह लेगा। इन दोषों से बचने के लिये कहा जाये कि समवाय अनाश्रित होता है और उसे किसी अन्य आश्रय या सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती है किन्तु वह असम्बद्ध ही रहता है। इसलिये भी यह कहना ठीक नहीं कि असम्बद्ध समवाय समवायियों का सम्बन्ध करा देता है। यदि असम्बद्ध समवाय पदार्थ में सम्बन्ध की कल्पना की जाये तो दिशा काल आदि को भी सम्बन्ध मानना चाहिये। जो नहीं माना जाता है वैसे समवाय का भी अपने समवायियों के साथ सम्बन्ध नहीं माना जाये। सत्ता सामान्य की कल्पना के समान समवाय की कल्पना भी व्यर्थ है।

प्रत्येक पदार्थ स्वतः सत् होता है। कोई असत् पदार्थ किसी सत्ता सामान्य के योग से कभी सत् नहीं बन सकता है। यदि यह न माना जाये तो शशभृंग या आकाश कुसुम भी सत् हो जायेंगे जो स्वयं सत् है उसे सत्तासामान्य के योग की जरूरत नहीं है। इसलिये यह कथन ठीक है कि समवायियों के साथ समवाय सम्बन्ध ठीक नहीं है। समन्तभद्र की स्पष्टोक्ति देखिये इस कारिका में -

‘आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातन्त्र्यं न समवायिनाम्।

इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः॥^{५३}

आचार्य समन्तभद्र सामान्य और समवाय की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं कि -

‘सामान्यं समवायाश्चाप्येकैकत्र समाप्ति तः।

अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नशोत्पादिषु को विधिः॥

सर्वथानभिसम्बन्धः सामान्यसमवाययोः।

ताभ्यामर्थो न सम्बद्धस्तानि त्रीणि खुपुष्पवत्॥^{५४}

आश्रय के बिना सामान्य और समवाय नहीं रह सकते हैं वे अपने आश्रयों में ही पूर्ण रूप से रहते हैं। सामान्य और समवाय एक नित्य और व्यापक हैं। जैसे गोत्व सामान्य एक नित्य व्यापक होकर सभी गायों में पूरा पूरा का रहता है। वैसे ही समवाय भी अपने समवायियों में पूरा का पूरा रहता है। प्रश्न यह है कि उत्पन्न होने वाले और नाशशील पदार्थों में वह कैसे रहता है ? वैशेषिकों का यहाँ यह कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता कि सत्ता सामान्य के समान समवाय भी अपने नित्य समवायियों में सदा पूर्ण रूप से रहता है किन्तु जो अनित्य समवायी हैं उनमें उत्पन्न होने वालों में सत्ता का समवाय बन जाता है, उत्पन्न होने एवं सत्ता के समवाय का काल एक ही है। सत्ता और समवाय का असत्त्व न पहले था, न ही सत्ता और समवाय का कहीं से आगमन होता है और न बाद में उनकी उत्पत्ति होती है। अतः उत्पन्न ध्वंसी पदार्थों में उनका होना कोई दूषण नहीं है, सहज सम्भव है।

उपर्युक्त कथन निर्दोष नहीं हो सकता है क्योंकि व्यापक और एक सामान्य एवं समवाय का अपने प्रत्येक आश्रय में पूरा का पूरा रहना असम्भव

लगता है। यदि प्रत्येक आश्रय में वे पूरे के पूरे रहते हैं तो सामान्य और समवाय को अनेक मानना होगा। सत्ता और समवाय सर्वत्र होते हैं उनका कहीं भी विच्छेद नहीं होता है, यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रागभाव आदि अभावों में सत्ता और समवाय कैसे रहेंगे ? यदि रहेंगे तो उनको सत्ता और समवाय के सद्भाव से अभाव कहना संभव नहीं रहेगा। सत्ता सामान्य और समवाय को नित्य व्यक्तियों (पदार्थों) में जैसा मानते हैं वैसा अनित्य व्यक्तियों में नहीं माना जा सकता है, यह फलित हो जाता है। अतः सामान्य और समवाय की काल्पनिक अवधारणा को ठीक नहीं माना जा सकता है।

तथा सामान्य और समवाय में परस्पर किसी भी प्रकार सम्बन्ध नहीं है। सामान्य और समवाय के साथ अर्थ भी सम्बद्ध नहीं है। अतएव वैशेषिकोक्त तीनों सामान्य, समवाय और अर्थ खपुष्प के समान ही माने जा सकते हैं। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं। सामान्य और समवाय का सम्बन्ध इसलिये संभव नहीं है क्योंकि उनका सम्बन्ध कराने वाला कोई सम्बन्ध है ही नहीं। संयोग सम्बन्ध हो नहीं सकता। क्योंकि वह द्रव्यों में होता है। समवाय में समवाय रहता नहीं है। अतः सामान्य और समवाय में परस्पर समवाय रह नहीं पायेगा। तथा जब सामान्य और समवाय परस्पर असम्बद्ध हैं तो उनके साथ अर्थ का सम्बन्ध हो सकना कैसे संभव है ? अर्थ में सत्ता का समवाय सिद्ध न होने से अर्थ का असत्त्व स्वतः सिद्ध माना जा सकता है। सत्ता में सामान्य और समवाय जब परस्पर में सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं तो असत् क्यों न हों? इस प्रकार परस्पर में असम्बद्ध तीनों अवस्तु सिद्ध हो जाते हैं।

परमाणुओं को सर्वथा नित्य मानकर जो लोग कहते हैं कि परमाणुओं का संयोग होने पर भी उनमें परिवर्तन नहीं होता है वे विभाग अवस्था में जिस प्रकार पृथक् रहते हैं वैसे ही संयोग अवस्था में भी पृथक्-पृथक् ही रहते हैं। उनमें अवस्थान्तर परिणमन होने पर भी परिवर्तन नहीं होता है। यह अनन्यतैकान्तवाद है। समन्तभद्र इसे सही नहीं मानते हैं तभी तो कह रहे हैं-

“अनन्यतैकान्तेऽणूनां संघातेऽपि विभागवत्।

असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्कं भ्रान्तिरेव सा॥

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम्।

उभयाभावतस्तस्थं गुणजातीतरच्च न॥”^{५५}

अर्थात् अनन्यतैकान्तवाद में अणुओं के संघात होने पर अणु विभाग अवस्था के समान ही पृथक् पृथक् रहते हैं यदि ऐसा है तो अणुओं में परस्पर असंहतता ही रही। इस प्रकार परमाणुओं में कोई विशेष संहति का अभाव होने से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारभूतों में परमाणुओं की विशेष संहति मौजूद दिखाई देती हुई भी भ्रान्ति कहलायेगी जिससे चारों भूत मिथ्या होने से भ्रान्त कहलायेंगे।

रूप परमाणुओं का चार भूत स्वरूप स्कन्ध कार्य भ्रान्त सिद्ध होने पर कार्यलिङ्ग से ज्ञापित परमाणु भी भ्रान्त ही सिद्ध होंगे क्योंकि कार्य जैसा होता है कारण भी वैसा ही होता है। कार्य (स्कन्ध) को भ्रान्त मानने पर कारण (परमाणु) को भी भ्रान्त मानना पड़ेगा। भ्रान्ति होने पर किसी एक का अभाव होने की स्थिति में दोनों का ही अभाव स्वतः प्राप्त है। दोनों का अभाव होने जाने से उनमें पाये जाने वाले गुण जाति आदि का अभाव भी हो जायेगा। यदि गुण जाति का होना हमें इष्ट है तो स्कन्ध रूप कार्य द्रव्य को भ्रान्ति रहित मानना होगा और स्कन्ध स्वरूप कार्यद्रव्य अभ्रान्त तब होगा। जब परमाणु अपने पूर्वरूप को छोड़कर स्कन्ध रूप पर्याय से परिणमित होकर बदलें।

यहाँ कार्यकरण को सर्वथा एक मानने पर उनमें से किसी एक का अभाव अपरिहार्य हो जायेगा। दो को बनाने के चक्कर में एक को छोड़ने पर अविनाभावि होने से दूसरा भी चला जायेगा। इस प्रकार द्वित्व संख्या का विरोध होगा और संवृत्ति के मिथ्या या काल्पनिक होने से द्वित्व संख्या को काल्पनिक मानना मिथ्या है।

उभयैकान्त अर्थात् गुण गुणी आदि में भिन्नता और अभिन्नता को निरपेक्ष रूप से मानने पर दोनों में एकात्मता नहीं बनती है क्योंकि निरपेक्षता में उनकी एकात्मता संभव नहीं है, विरोध होने से। अंत में अनेकान्त तत्त्व की सिद्धि करने के लिये निम्न दो कारिकायें समन्तभद्र ने लिखी हैं -

‘द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।

परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः॥

संज्ञा संख्या विशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।

प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥^{५६}

अर्थात् द्रव्य और पर्यायों में परस्पर एकपना है क्योंकि दोनों कभी भी एक दूसरे के बिना उपलब्ध नहीं होते हैं। द्रव्य और पर्यायों का नानात्व भी सम्भव है क्योंकि उनमें परिणामों का भेद है, शक्ति और शक्तिमत् का अपना भाव होता है, संज्ञा का भेद है, संख्या का भेद है, गुण पर्यायों के अपने अपने लक्षणों का भेद है तथा प्रयोजन का भेद भी है। यह सब कथञ्चित् समझना चाहिये, सर्वथा नहीं।

पंचमपरिच्छेद :

इस परिच्छेद में केवल ३ कारिकायें मौजूद हैं जिनके माध्यम से वस्तु के संदर्भ में सर्वथा अपेक्षावाद या सर्वथा अनपेक्षावाद से धर्मधर्मी आदि की सिद्धि पर विचार किया गया है तथा कथञ्चित् अपेक्षा और कथञ्चित् अनपेक्षा से ही वस्तु को धर्म धर्मी कहा गया है। इस प्रसंग में आचार्य समन्तभद्र निम्न कारिका लिखते हैं -

‘यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते।

अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता॥^{५७}

यहाँ बौद्धों की अवधारणा को मुख्य करके कहा गया है कि धर्म धर्मी का व्यवहार सर्वथा आपेक्षिक है इसलिये वह काल्पनिक है वास्तविक नहीं। यदि वह वास्तविक होता तो धर्म सदा धर्म ही रहता और धर्मी सदा धर्मी। किन्तु अपेक्षा बदलने पर जो धर्म है वह धर्मी बन जाता है तथा जो धर्मी है वह धर्म हो जाता है। जैसे “शब्दः अनित्यः सत्त्वात्” यहाँ शब्द धर्मी है और सत्त्व धर्म। विवक्षा बदलने पर “सत्त्वं ज्ञेयम्” यहाँ सत्त्व धर्मी हो गया। यदि सर्वथा अपेक्षा से ही धर्म-धर्मी को मानेंगे तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दोनों की सत्ता तो निरपेक्ष होती है धर्म के होने में धर्मी के साथ उसका अविनाभाव सम्बन्ध तो है पर धर्म और धर्मी अपने स्वलक्षण से ही हैं न कि धर्म के कारण धर्मी का अस्तित्व है अथवा धर्मी के कारण धर्म का अस्तित्व है। यदि एक दूसरे की सिद्धि करेंगे तथा दूसरे से पहले की सिद्धि करेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा जिससे न धर्मसिद्ध होगा न धर्मी। इसलिये इनकी सिद्धि हमें इनके पाने स्वरूप से करनी चाहिये न कि एक दूसरे की अपेक्षा मात्र से। दोनों के अस्तित्व को स्वतंत्र मानकर और जानने के लिये अपेक्षा लगाकर धर्म

के कारण यह धर्मों है और धर्मों में ही धर्म होता है यह आपेक्षिक होने तथा सर्वथा होने से सही हो सकती है। किन्तु सर्वथा अपेक्षा के कारण से धर्म धर्मों को मानने पर दोनों को सही नहीं माना जा सकता है। बौद्ध दर्शन में किसी भी धर्मों में कोई धर्म आपेक्षिक प्रतिभास है या धर्म के कारण ही धर्मों का आपेक्षिक प्रतिभास होता है। आपेक्षिक प्रतिभास मिथ्या होने से उससे उत्पन्न धर्म धर्मों दोनों ही नहीं ठहरते हैं।

नैयायिक वैशेषिक वस्तु में धर्म और धर्मों का अस्तित्व एक दूसरे के बिना सर्वथा निरपेक्ष मानते हैं। आत्मा का धर्म ज्ञान तो है पर वह आत्मा के कारण नहीं है। ऐसे ही धर्मों आत्मा ज्ञान के कारण नहीं है दोनों का अस्तित्व सर्वथा निरपेक्ष है। यदि धर्मों से धर्म सर्वथा निरपेक्ष है तो उसे उसका नहीं कहा जा सकता है तथा धर्म से सर्वथा निरपेक्ष धर्मों को मानेंगे तो उसे धर्मों कहना ही असंभव हो जायेगा। ऐसो होने से सामान्य विशेष धर्म सर्वथा निरपेक्ष होकर असिद्ध हो जायेंगे। वस्तु में अन्वय या अभेद को सामान्य कहते हैं तथा व्यतिरेक अथवा भेद का विशेष। भेदनिरपेक्ष अभेद को तथा अभेदनिरपेक्ष भेद को नहीं जाना जा सकता है। अतः सर्वथा निरपेक्ष या अनपेक्षावाद में सामान्य विशेषता का अभाव हो जाता है।

इन दोनों सर्वथैकान्तों के मेल से जनित उभयैकान्त भी विरोध का परिहार करने वाला न होने से सत्य नहीं माना जा सकता है और न ही सर्वथा अवाच्यतैकान्त को कोई आदर दिया जा सकता है क्योंकि न वाच्यम् कहने से आई वाच्यता युक्ति संगत नहीं है।^{१८}

कथंचित् अपेक्षैकान्त और कथंचित् अनपेक्षैकान्त से वस्तु धर्म धर्मों या गुण गुणी सिद्ध कर सकते हैं यह बताते हुए आचार्य समन्तभद्र कह रहे हैं-

धर्म धर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया।

न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत्।^{१९}

अर्थात् किसी भी वस्तु में धर्म धर्मों के अविनाभाव की सिद्धि तो अपेक्षा से की जा सकती है। किन्तु उनका स्वरूप तो स्वतः ही विना अपेक्षा के ही सिद्ध है जैसे कारक के अङ्गकर्त्ता, कर्म आदि हैं और ज्ञापक के अङ्ग

प्रमाता, प्रमेय आदि हैं। यहाँ कर्ता कर्म आदि परस्पर सापेक्ष हैं पर उनका स्वरूप निरपेक्ष ही है और प्रमाता प्रमेय आदि परस्पर सापेक्ष हैं पर उनका अपना स्वरूप तो निरपेक्ष ही है। उन्हें बने रहने के लिये दूसरों की अपेक्षा नहीं है।

षष्ठपरिच्छेद :

इस परिच्छेद में तीन कारिकाओं से उपाय तत्त्व के रूप में प्रचलित सर्वथैकान्तवाद की समीक्षा है। कुछ लोग कहते हैं कि हेतु के बल पर अनुमान से ही तत्त्व को जाना जा सकता है। कुछ इन्द्रिय प्रत्यक्षादि को ही उपाय मानते हैं। कुछ लोग आगम को ही तत्त्व को समझ लेने का उपाय समझते हैं। समन्तभद्र यहाँ उद्धोषणा करते हैं कि -

‘सिद्धं चैद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः।

सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि।।^{६०}

अर्थात् यदि हेतु से ही सभी पदार्थों का ज्ञान होता है, यह मान लिया तो प्रत्यक्षादि से किया गया ज्ञान अप्रमाण होना चाहिये। तथा आगम अर्थात् आप्तोपदेश से सब कुछ जान लिया जाता। यह बिना किये सर्वथा मान लिया जाये तो आगम में प्ररूपित विरुद्ध मत भी प्रमाण हो जायेंगे। जो युक्ति संगत नहीं है क्योंकि हेतु मात्र से या अनुमान मात्र से प्रामाणिकता नहीं आती प्रत्युत प्रत्यक्षादि सापेक्ष हेतु और साध्य के ज्ञान से जायमान अनुमान ज्ञान प्रमाण होता है प्रत्यक्षादि निरपेक्ष अनुमान से नहीं। ऐसे आगम के बारे में समझना चाहिये प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान के निमित्त से पावन हुयी बुद्धि में प्रतिफलित आगम का ज्ञान प्रमाण होता है केवल शास्त्रोपदेश या आगम वचन से ही नहीं। आगम को एक मात्र प्रमाण कतई नहीं माना जा सकता है।

हेतु और आगम दोनों ही उपायों से उपेय तत्त्व की जानकारी होती है ऐसा मानकर जो दोनों को अपना लेते हैं उनके यहाँ भी विरोध का परिहार न होने से उन्हें उभयैकान्तवाद भी अश्रेयस्कर है। अवाच्यतैकान्त भी समस्या का समाधान नहीं है। दोनों में उनकी यथार्थता को मुख्य करके उपाय तत्त्व को अङ्गीकार करना चाहिये। आचार्य यहाँ अनेकान्त की सिद्धि के लिये कहते

हैं -

‘वक्त्याप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।

आप्ते वक्तारि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम्॥^{६१}

जब वक्ता अविसंवादक नहीं होता तब अनाप्त कहलाता है। शास्त्रकार यहाँ कह रहे हैं कि जब वक्ता अनाप्त पुरुष होता है तो जो साध्य हेतु से सिद्ध की जाती है तो उसे हेतुसाधित कहते हैं। तथा जब वक्ता आप्त यानि अविसंवादक होता है तो आप्त वक्ता के वाक्य से जो साध्य सिद्ध होती है उसे आगमसाधित कहते हैं।

सप्तमपरिच्छेद :

इस परिच्छेद में ९ कारिकाओं से सर्वथा अन्तरङ्गार्थ या बहिरङ्गार्थ की सत्ता मानने वाले ज्ञानाद्वैतवादियों विज्ञानाद्वैतवादियों के मतों की समीक्षा करके अनेकान्त रूप प्रमेय की सिद्धि की है। अन्तरङ्गार्थतैकान्तपक्ष में यदि अन्तरङ्ग अर्थ की ही सत्ता स्वीकार करेंगे तो बुद्धि अर्थात् अनुमान ज्ञान और वाक्य अर्थात् आगम सब के सब मिथ्या हो जायेंगे।

अन्तरङ्गार्थतैकान्त में ज्ञान में भासित होने से ज्ञानरूप अन्तरङ्गार्थ ही सत्य है। बहिरवस्थित जड़ पदार्थ असत्य है। जो स्वयं प्रतिभासित नहीं होता वह असत्य होता है। अन्तरङ्गार्थतैकान्तवादियों का यह अभिमत युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि अन्तरङ्गार्थ मात्र को सत्य मानने पर बुद्धि (अनुमान) और वाक्य (आगम) मिथ्या हो जायेंगे। मिथ्या होने से अनुमान और आगम प्रमाणाभास प्रमाण के बिना नहीं माना जा सकता। ज्ञानाद्वैतवादी जब प्रमाण की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता है तो वह स्वपक्ष सिद्धि प्रमाण से और परपक्ष दूषण प्रमाणाभास से कैसे कर सकेगा। नहीं कर सकेगा। यह फलित हो जाता है, जिसे आचार्य समन्तभद्र ने इस कारिका में स्पष्ट किया है -

‘अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाऽखिलम्।

प्रमाणाभासमेवातस्तत्प्रामाणादृते कथम्॥^{६२}

तदनन्तर बहिरङ्गार्थतैकान्तपक्ष को रेखांकित करते हुये कहा गया है कि प्रत्यक्ष अनुमान स्वप्न आदि ज्ञानों में बहिरर्थ का ही निर्भासन-अवबोधन साक्षात् या परम्परा से होता है अतः वही सत्य है। यही बहिरङ्गार्थतैकान्तवाद

है। यह मत समीचीन नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसके अनुसार तो 'तृणाग्र पर सौ हस्तियूथ रहते हैं' इत्यादि मिथ्यावाक्य भी प्रमाण माने जायेंगे। अथवा स्वप्रज्ञान या मरीचिका में जलज्ञान रूप भ्रमज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा। ये सब मिथ्याज्ञान बहिरङ्गार्थ के बिना नहीं हो सकते हैं और बहिरङ्गार्थ ही सत्य है। अतः ये भी प्रमाण या सत्य हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त बहिरङ्गार्थतैकान्त में अर्थ सर्वथा क्षणिक है या अर्थ सर्वथा नित्य (अक्षणिक) है; इन विरुद्धाभिधानमूलक दोनों ज्ञानों को प्रमाण मानना पड़ेगा। क्योंकि उक्त दोनों वचनों तथा ज्ञानों का सम्बन्ध अर्थ से ही तो है। बहिरङ्गार्थतैकान्त में कोई भी मिथ्या नहीं होगा और विरुद्ध कथन करने वाले सभी लोगों की कार्यसिद्धि माननी पड़ेगी। अतः प्रमाणाभास का निहव यहाँ अपरिहार्य है फिर कैसे इसे प्रमाण माना जाये। समन्तभद्र के इस मन्तव्य को निम्न कारिका में देखा जा सकता है -

‘बहिरङ्गार्थतैकान्त प्रमाणाभासनिहवात्।

सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम्।^{६३}

सर्वथा बहिरङ्गार्थतैकान्त और सर्वथा अन्तरङ्गार्थतैकान्त में एकात्मता नहीं बन सकती है और न ही उन्हें अवाच्य घोषित किया जा सकता है। अतः उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्त भी सम्यक् नहीं माने जा सकते हैं।^{६४}

प्रमाण और प्रमाणाभास के बारे में रस्योद्घाटन करते हुये समन्तभद्र कहते हैं कि अन्तरङ्गार्थतैकान्त में स्वसंवेदन स्वरूप भाव प्रमेय की अपेक्षा सारे ज्ञान प्रमाण होते हैं तथा बहिरङ्गार्थतैकान्त में बहिरङ्ग प्रमेय अर्थ की अपेक्षा ज्ञान प्रमाण होते हैं तथा बहिरङ्गार्थतैकान्त में बहिरङ्ग अर्थ की अपेक्षा ज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों रूप होता है।^{६५} मिथ्याज्ञानों को प्रमाण मानने का निषेध उभयत्र असंभव नहीं होता है।

स्याद्वादन्याय की अपेक्षा ज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही रूप हो सकता है क्योंकि वहाँ जीव में आवरण के अभावविशेष हेतु से सत्य-असत्य प्रतिभासन स्वरूप संवेदन संभव हो जाता है। संवेदन करने वाला जीव सिद्ध होता है। उसकी प्रतीति कराते हुये आचार्य समन्तभद्र निम्न कारिकायें प्रस्फुटित करते हैं -

“जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्।
 मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तवत्॥
 बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिष्ठो बुद्ध्यादिवाचिकाः।
 तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिविम्बिकाः॥
 वक्तृश्रोतृ प्रमातृणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक्।
 भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ बाह्यार्थे तादृशेतारौ॥
 बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति।
 सत्यानृतव्यस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्यत्यनाप्तिषु॥^{६६}

अर्थात् जीव शब्द बाह्यार्थ सहित ही होता है उसके बिना नहीं। जैसे हेतु शब्द वादी प्रतिवादी में प्रसिद्ध होने से बाह्यार्थ सहित है। तथा जिस प्रकार प्रमा शब्द का बाह्यार्थ उपलब्ध होता है उसी प्रकार माया आदिक भ्रान्ति मूलक संज्ञाओं का भी अपने मायादि स्वरूप वाला बाह्य अर्थ होता है।

बुद्धिसंज्ञा, शब्द संज्ञा और अर्थ संज्ञा से तीनों क्रमशः बुद्धि, शब्द और अर्थ की वाचक हैं। तथा इन संज्ञाओं के प्रतिबिम्बस्वरूप बुद्धि शब्द और अर्थ का बोध भी समानरूप से हो जाता है।

वक्ता श्रोता और प्रमाता के बोध, वाक्य और प्रमा भिन्न भिन्न होते हैं। यदि ये वक्ता आदि तीनों भ्रान्त हैं तो प्रमाण भी भ्रान्त होता है। प्रमाण के भ्रान्त होने पर अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय स्वरूप बाह्य पदार्थ भी भ्रान्त होते हैं।

बुद्धि और शब्द में प्रमाणता बाह्य अर्थ के होने पर ही होती है बाह्य अर्थ के अभाव में नहीं। अर्थ की प्राप्ति होने पर सत्य की व्यवस्था और अर्थ की प्राप्ति न होने पर असत्य की व्यवस्था की जाती है।

संदर्भ :

५२. तदेव ६३	५३. तदेव ६४	५४. तदेव ६५-६६	५५. तदेव ६७-६८
५६. तदेव ७१-७२	५७. तदेव ७३	५८. तदेव-७४,	५९. तदेव-७५,
६०. तदेव-७६,	६१. तदेव-७८,	६२. तदेव-७९	६३. तदेव-८१,
६४. तदेव-८२,	६५. तदेव- ८३,	६६. तदेव- ८३,	६६. तदेव-८४-८७

- राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, त्रिवेणी नगर,
 मानसरोवर, जयपुर (राजस्थान)

ध्यान का स्वरूप : एक चिंतन

• डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

वर्तमान में ध्यान और योग की चर्चा जन-साधारण का विषय बन गयी है। जैनधर्म, वैदिक धर्म और बौद्धधर्म में इन शब्दों का प्रयोग प्रायः अध्यात्म-साधना के धरातल पर हुआ है। किन्तु अब भौतिक उपलब्धियों, यथा निरोगता एवं स्वास्थ्य लाभ के लिये इनका प्रयोग किया जाने लगा है। संस्कृत का योग शब्द अब आंगल भाषा के कारण 'योगा' बन गया है उसी प्रकार जैसे केरल राज्य केरला हो गया। एकाग्रता का नाम ध्यान है। ध्रुव स्मृति ही एकाग्रता है। एक वस्तु पर स्मृति निरंतर होती है वह एकाग्रता बन जाती है। ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र। ध्यान के बिना आत्म-दर्शन नहीं होता। ध्यान से कर्मों का क्षय होता है।

योग का अर्थ है- बांधना, जोड़ना आदि। पातंजल योग दर्शन में 'चित्तवृत्तियों के निरोध के अर्थ में योग को स्वीकार किया है, जो युक्ति का हेतु है। इस दृष्टि से योग वह पद्धति है जिसके द्वारा आवागमन का बंधन छूटकर आत्मा का परमात्मा से समागम हो जाये। जैन परम्परा में 'योग' शब्द का विशिष्ट अर्थ है। मन, वचन, काय के निमित्त आत्मप्रदेश का परिस्पन्द योग है। योग के निमित्त से कर्मों का आगमन होता है। अतः योग है वह आश्रव-बंध है। योग को समाधि और ध्यान के अर्थ में प्रयुक्त किया है। योग का गोपन गुप्ति कहलाता है। जैन परंपरा में ध्यान का मुख्य प्रयोजन कर्मों की निर्जरा द्वारा आत्मा को विशुद्ध करना है और चित्त को विकल्पों एवं क्षोभ से मुक्त कर निर्विकल्प दशा में स्थित करना है। ध्यान तप का उत्कृष्ट सोपान है।

आ० वीरसेन ने इच्छा निरोध के साधन द्वारा रत्नत्रय की प्राप्ति बताना है। अतः इच्छा-वासनाओं का निरोध करना इष्ट है। इच्छाओं का निरोध ही तप है। और अंतरंग तपों में ध्यान तप निर्णायक-प्रयोजन भूत है। ध्यान तप के समय आत्मा का उपयोग अंतरवर्ती होता है, उस काल में इच्छा निरोध सहज हो जाता है। इच्छाओं के संयमन और निरसन के बिना आध्यात्मिक साधना

सफल नहीं हो सकती ।

करण (परिणाम) और ध्यान का सम्बन्ध :

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ध्यान के काल में करणलब्धि पूर्वक होती है। लब्धियाँ पाँच होती हैं। ये हैं - क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। प्रथम चार लब्धियाँ अभव्य और भव्य जीव दोनों को होती हैं। किन्तु करणलब्धि भव्य जीव को ही होती है। करण लब्धि होने पर सम्यक्त्व नियम से होता है। 'करणाः परिणामाः' अर्थात् करण का अर्थ परिणाम है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा १८ में कहा है कि- पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है और जो दूसरों के प्रति प्रवर्तमान नहीं है, ऐसा शुद्ध परिणाम समय पर दुःख क्षय का कारण है। योगेन्दु देव ने योगसार गाथा १४ में परिणाम से ही जीव को बन्ध कहा और परिणाम से ही मोक्ष कहा है- यह समझ कर, हे जीव, तू निश्चय से उन भावों को जान।

सम्यक्त्व और चारित्र की उत्पत्ति/ आराधना में, परिणाम ही कारण भूत है। इसी कारण करण लब्धि के तीन करण अर्थात् अद्यःप्रवृत्त करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण तथा गुणस्थान क्रम में अप्रमत्तसंयत के बाद अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान आते हैं। इससे स्पष्ट है कि दर्शनमोह और चारित्र मोह के उपशम और क्षय का आधार परिणाम है। इन्हीं अशुभ, शुभ या शुद्ध परिणामों के अनुरूप ध्यान का स्वरूप और प्रकृति, ध्यान की सामग्री ध्येय ध्यान की विधि और ध्यान के फल का निर्धारण होता है। परिणामों के आधार पर ही ध्यान का वर्गीकरण, प्रशस्त या अप्रशस्त किया गया है। अतः साधक को अपने परिणामों को सम्भालना और समझना आवश्यक है।

भावानुरूप योग, उपयोग और ध्यान :

प्राणीजगत का योग, उपयोग और ध्यान की प्रवृत्ति भावों-परिणामों के अनुरूप होती है। शुभ परिणामों से शुभ योग, शुभोपयोग और प्रशस्त ध्यान होता है। शुद्ध परिणामों से शुभयोग, शुद्धोपयोग और निर्विकल्प ध्यान होता है। इसके क्रम को रेखांकित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि - 'शुभयोग की प्रवृत्ति अशुभ के योग से आने वाले कर्मों को रोक देती है तथा शुद्धोपयोग के द्वारा योग से आने वाले कर्मों का निरोध हो जाता है। शुद्धोपयोग

के द्वारा इस जीव को धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान होता है, अतः संवर ध्यान का कारण है- ऐसा चिंतन करना चाहिये। यथा -

सुह जोगेसु पविती, संवरणंकुणदि असुहजोगस्स।

सुह जोगस्सणिरोहो, सुद्धवजोगेण संभवदि॥६३॥

सुद्धवजोगेण पुणो, धम्मं सुक्कं होदि जीवस्स।

तम्हा संवर हेदू झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं॥६४॥

- वारसाणुवेक्खा-संवरानुप्रेक्षा- ६३/६४

ध्यान का स्वरूप :

योग से शुभाशुभ पुदगलकर्म परमाणुओं का आगमन होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से कर्मों का बंध होता है। अनादि संयोगी पर्याय में एकत्व और ममत्व भाव के कारण जीव शुद्ध ज्ञायक स्वभाव वाले त्रिकाली आत्मा का पृथक् से अनुभव नहीं कर पाता है। भेद-ज्ञान के द्वारा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मा का जब बोध होता है तब पर पदार्थों के प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का अभाव हो जाता है और ज्ञान में झलकने वाले ज्ञेयाकारों तथा आत्मा में उत्पन्न होने वाले भाव्य-रागादिक भावों से आत्मा अपने को भिन्न मात्र ज्ञायक रूप समझने/मानने/अनुभूत करने लगता है। इससे पराश्रित परिणति का रूपांतरण स्वाश्रित परिणति की ओर होने लगता है। शुद्ध ज्ञायक आत्मा स्वभाव के अनुभव और प्रतीति हेतु आत्म ज्ञान और ध्यान आवश्यक है। उससे संवर होता है। संवर के कारक हैं- सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग। निर्जरा का प्रमुख हेतु आत्म ध्यान है। आत्म ध्यान से कर्मों का क्षय कर जीव निर्वाण-मुक्ति प्राप्त करता है।

(१) एकाग्र चिन्ता निरोध :

धवला टीकाकार आचार्य वीरसेन स्वामी ने ध्यान तप का स्वरूप इस प्रकार कहा है -

‘उत्तम संहननस्य एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्’

(षट्खंडागम पुस्तक १३, ५.४.२६ पृ०६४)

उत्तम संहनन वाले का एकाग्र होकर चिन्ता का निरोध करना ध्यान नाम का तप है। आ० वीरसेन स्वामी ने १२ का संदर्भ दिया है -

जं थिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं जं चलंतयं चित्तं।

तं होइ भावणा वा अणुपेहा व अहव चिंता॥१२॥

जो परिणामों की स्थिरता होती है उसका नाम ध्यान है और जो चित्त का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में चलायमान होना वह या तो भावना है या अनुप्रेक्षा है या चिन्ता है।

आचार्य उमा स्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा है कि - 'उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अंतर्मुहूर्त काल तक होता है।' यथा -

उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् (९)

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में उक्त की टीका में निम्न रहस्य उदघाटित किये। मुहूर्त ४८ मिनट का होता है।

१) आदि के वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराथ संहनन ये तीन संहनन उत्तम है। मोक्ष का साधन प्रथम संहनन है।

२) अग्र पद का अर्थ मुख है जिसका एक अग्र होता है वह एकाग्र कहलाता है। यहाँ अग्र विषय का सूचक है।

३) नाना अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पंदवती होती है। उसे अन्य अग्र (मुखों) से लौटा कर एक अग्र या विषय में नियमित करना एकाग्रचिन्ता निरोध कहलाता है।

४) चिन्ता के निरोध का नाम ध्यान है जो निरोधनं निरोधः रूप भाव साधन नहीं है किन्तु निरुध्यत इति निरोधः - जो रोका जाता है; इस प्रकार कर्म साधन है। (चिन्ता से तात्पर्य चिंतवन-स्मृति से है)

५) निष्पत्ति - निश्चल अग्निशिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।

६) आचार्य पूज्यपाद ने चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान कहा है।

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में ध्यान के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का विषद वर्णन निम्नरूप से किया है -

तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहते हैं (२१/८)। जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है, उसे

ध्यान कहते हैं और जो चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं (२१/९)। योग, ध्यान, समाधि, धीरोध, अर्थात् बुद्धि की चंचलता रोकना, स्वान्त निग्रह अर्थात् मन को वश में करना और अन्तःलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि एक ध्यान के ही पर्याय वाचक शब्द हैं- ऐसा विद्वान् कहते हैं (२१/१२)। जिस परिणाम से आत्मा पदार्थ का चिन्तन करता है उस परिणाम को ध्यान कहते हैं यह करण-साधन की अपेक्षा है। आत्मा का जो परिणाम पदार्थों का चिन्तन करता उस परिणाम को ध्यान कहते हैं यह कर्तृ-साधन की अपेक्षा है तथा क्रिया साधन की अपेक्षा चिन्तन करना ही ध्यान है। यह मुख्यता की दृष्टि से कथन किया है (२१/१३-१४)। यद्यपि ध्यान ज्ञान की ही पर्याय है और ध्येय को (ध्यान करने योग्य पदार्थ) विषय करने वाली है तथापि एक जगह एकत्रित रूप से देखा जाने के कारण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप-व्यवहार को भी धारण कर लेता है। अर्थात् आत्मा के जो प्रदेश ज्ञान रूप हैं वे प्रदेश ही दर्शनादि रूप हैं इसलिए ध्यान में दर्शन सुख आदि का व्यवहार किया जाता है (२१/१५)। ध्यान में उदासीन रूप से समस्त पदार्थों का चिन्तन किया जा सकता है। संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेद वाले आत्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिये क्योंकि आत्मतत्त्व का चिन्तन ध्याता के उपयोग की विशुद्धि के लिए होता है (२१/१८) उपयोग की विशुद्धि होने से बन्ध के कारण नष्ट होते हैं और कर्मों का संवर और निर्जरा होने लगती और जीव को निःसंदेह मुक्ति प्राप्त हो जाती है (२१/१९)।

पं. टोडरमल जी ने मोक्ष मार्ग प्रकाशक ग्रंथ में निर्विकल्प संज्ञा का स्वरूप 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' के संदर्भ में लिखा है :

‘जितने काल एक जानने रूप रहे तब तक निर्विकल्प नाम पाता है सिद्धान्त में भी ध्यान का लक्षण ऐसा ही किया है- एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्’।

एक का मुख्य चिन्तन हो अन्य चिन्ता रुक जाये - उसका नाम ध्यान है। सर्वार्थसिद्धि सूत्र की टीका में यह विशेष कहा है- यदि सर्व चिन्ता रुकने का नाम ध्यान हो तो अचेतनपना आ जाये। तथा ऐसी भी विवक्षा है कि सन्तान अपेक्षा नाना ज्ञेयों का भी जानना होता है, परन्तु जब तक वीतरागता

रहे, रागादि से आप उपयोग हो न भ्रमाये तब तक निर्विकल्प दशा है। (सप्तम अधिकार प. २११)

(२) ज्ञान का एकाग्र होना ध्यान :

णाणमय विमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।

वाहिजरमरणवेयण डाह विमुक्का सिवा होंति।१२५।भाव पा०

अर्थ- भव्य जीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को सम्यक्त्वभाव सहित पीकर और व्याधि स्वरूप जरा-मरण की वेदना को भस्म करके मुक्त अर्थात् संसार से रहित 'शिव' अर्थात् परमानंद रूप सुख रूप होते हैं। इसलिये भव्य जीवों को यह उपदेश है कि ज्ञान में लीन होओ।

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरम्।

हेम क्षीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपद्यते।१९/१४।योगसार प्रा०

अर्थ - पुरुषों-मानवों का-निर्मल ज्ञान जब स्थिर होता है तो वह 'ध्यान' हो जाता है। (ठीक है) किट्ट- कालिमादिरूप मल से रहित हुआ सुवर्ण क्या कल्याणपने को प्राप्त नहीं होता ? होता ही है, उस शुद्ध स्वर्ण को 'कल्याण' नाम से पुकारा जाता है। स्थिर निर्मल ज्ञान ही ध्यान है, वही कल्याणकारी है।

मुनि नागसेन ने तत्त्वानुशासन में श्रुतज्ञान रूपी स्थिर मन को ध्यान कहा है।

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः।

ततः स्थिरं मनोध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकम्।६८॥

पूर्व श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः।

तत्रैकाग्रं समासाद्य नकिंचिदपि चिन्तयेत्।१४४॥

अर्थ- सर्वप्रथम श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा में श्रुतज्ञान का संस्कार करे और तदन्तर उसमें एकाग्र होकर कुछ भी चिंतन न करें।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में ज्ञानपद के ग्रहण लीन संतुष्ट और तृप्त होने का निर्देश दिया और कहा कि उससे उत्तम सुख मिलेगा।

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।

एदेण होहि हित्तो होहदि तुह उत्तम सोक्खं।१०६॥

(३) आत्म से निजात्मा का ध्यान :

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष पाहुड की १०६ गाथाओं में मोक्ष का उपाय दर्शाते हुये ध्यान के स्वरूप और विधि का वर्णन किया है। गाथा ७६ में यह भी घोषणा कर दी कि इस पंचमकाल में धर्म ध्यान होता है। आचार्यश्री ने निज द्रव्य के ध्यान से निर्वाण प्राप्त होना कहा -

जे ज्ञायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता।

ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहहिं णिव्वाणं॥१९॥

अर्थ- जो मुनि पर द्रव्य से परांगमुख होकर स्वद्रव्य जो निज आत्म-द्रव्य का ध्यान करते हैं वे प्रगट निर्दोष चारित्र युक्त होते हुए जिनवर तीर्थकरों के मार्ग का अनुसरण करते हुए निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।

सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं।।मो.पा ८३॥

अर्थ- निश्चय नय का ऐसा अभिप्राय है कि- जो आत्मा, आत्मा में ही अपने ही लिये भले प्रकार रत हो जावे वह योगी, ध्यानी, मुनि सम्यक्चारित्र वान होता हुआ निर्वाण को पाता है।

श्रीमद आचार्य अकलंक देव ने स्वरूप संबोधन में आत्म-ध्यान करने का निर्देश दिया -

स्व स्वं स्वेन स्थितं स्वस्यै स्वस्मात् स्वस्याविनश्वरम्।

स्वास्मेन् ध्यात्वा लभेत् स्वेत्थ मानन्दममृतं पदम्॥२५॥

अर्थ- स्वयं (आत्मा) ही अपने को अपने से स्वयं के द्वारा अपने लिये अपने में से अपने अविनाशी स्वरूप में स्थिरता पूर्वक ध्यान करके इस आनन्दमय अविनाशी पद को प्राप्त करो।

आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में ध्यान का स्वरूप दर्शाते हुए कहा - 'अथवा अग्र शब्द प्राधान्यवाची है अर्थात् प्रधान आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता का निरोध करना। अथवा 'अङ्गतीति अग्रम आत्मा' इस व्युत्पत्ति में द्रव्य रूप से एक आत्मा को लक्ष्य बनाना स्वीकृत ही है। ध्यान स्ववृत्ति प्रधान होता है, इसमें बाह्य चिन्ताओं से निवृत्ति होती है।

मुनिनाग से तत्त्वानुशासन श्लोक ७४ में छहकारक स्वरूप आत्मा के ध्यान को ध्यान कहा है।

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।

षटकारक मयस्तस्माद्व्यानमात्मैव निश्चयात्॥७४॥

अर्थ- चूंकि आत्मा अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिये, अपने-अपने आत्म हेतु ध्याता है, इसलिये षटकारक रूप परिणत आत्मा ही निश्चयनय की दृष्टि से ध्यानरूप है।

आचार्य योगीन्दु देव ने योगसार में आत्म-ध्यान का स्वरूप :

एक लउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि।

अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुख लहेहि॥७०॥

अर्थ- यदि तू अकेला ही जायेगा तो राग, द्वेष, मोहदि पर भावों को त्याग दे। ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर तो शीघ्र ही मोक्ष का सुख पायेगा।

पं. आशाधर जी ने अनगार धर्माभूत प्रथम अध्याय के श्लोक ११३ में बताया है कि जब छहों कारक आत्मस्वरूप होते हैं तभी रत्नत्रय की एकता होती है और तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इष्टनिष्टार्था मोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः।

ध्यानं रत्नत्रयं तस्मात्तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम्॥११४॥

अर्थ- इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह-राग-द्वेष नष्ट करने से चित्त स्थिर होता है, चित्त स्थिर होने से ध्यान होता है। ध्यान से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है उससे मोक्षसुख मिलता है।

आत्म-ध्यान का ध्येय- शुद्ध पारिणामिक भाव :

आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार की गाथा १९४ में कहा कि जो उपयोगात्मक ध्रुव आत्मा को अपना मानता है वह विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है, वह-साकार हो या निराकार मोहदुर्ग्रंथि का क्षय करता है। गाथा १९५ में कहा है कि मोह ग्रंथि को नष्ट कर, राग-द्वेष का क्षय एवं समत्व भाव वाला श्रमण अक्षय सौख्य को प्राप्त करता है। आगे गाथा १९६ में कहा है कि जो मोहमल का क्षय करके, विषयों से विरक्त होकर, और मन का निरोध करके स्वभाव में समवास्थित है, वह आत्मा का ध्यान करने वाला है। जयसेनाचार्य ने तात्पर्यवत्ति की गाथा १९६ की टीका में शुद्धात्म ध्यान से जीव विशुद्ध होता है ऐसा कहकर ध्यान, ध्यान-सन्तान, ध्यानचिंता

और ध्यानान्वयसूचन का विवेचन कर ध्याता, ध्यान, ध्यानफल और ध्येय तथा आर्त, रौद्र धर्म और शुक्ल ध्यान का उल्लेख किया।

ध्यान पर्याय विनाशक्ति होने के कारण शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप है तथा 'सर्व आवरणों से रहित अखंड-एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय तथा नाश रहित और शुद्ध पारिभाषिक लक्षण वाले निजपरमात्मद्रव्य है वही मैं हूँ, अपितु खंडज्ञान रूप नहीं है - ऐसी भावना ध्याता करता है। इसका विवेचन जयसेनाचार्य ने समयसार की गाथा ३२० (३४३) की तात्पर्यवृत्ति टीका में किया है जो मननीय है। आचार्य श्री ने स्पष्ट किया कि औपशमादिक पांच भावों में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ऐसे चार भाव पर्याय रूप हैं। और पंचम शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्य रूप है।

(४) सहजमूल स्वरूप में होना- ध्यान :

'वत्थु सहावो धम्मो' -वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है। स्वभाव अर्थात् जो सदैव साथ है और जिसे लाने हेतु कोई प्रयास नहीं करना पड़े। जीव का स्वभाव है जानना-देखना, क्षमा-मार्दव-आर्जव-शुचिता (संतोष), शांति-आनंद और जागरूकता आदि। जब जीव अपने मूल स्वभाव में लौटकर आ जाये, यही उसका ध्यान है। कर्त्ता-भोक्ता और एकत्व-ममत्व के परिणामों से निवृत्ति का सूत्र श्रीमद नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ने बृहद्-द्रव्य संग्रह में निम्न रूप से दिया-

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो।

अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं॥५६॥

अर्थ- हे भव्यो! कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो, कुछ भी चिंतन मत करो, जिससे आत्मा निजात्मा में तल्लीनता रूप से स्थिर हो जाय। यही आत्मलीनता ही परम ध्यान है।

इसका निहितार्थ यह है कि मन-वचन-काय के शुभाशुभ व्यापार का निरोध होने से आत्मा सहज अपने मूल ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की ओर लौटकर स्थित हो जाता है, यही ध्यान है। वैराग्य, तत्त्वज्ञान, परिग्रह, त्याग, समत्वभाव एवं कषायों के निग्रह सहित मूल अकर्त्ता-अयोक्ता स्वभाव के सन्मुख सहज वापिस होना होता है। अकर्त्तारूप कुछ नहीं करने का अभ्यास कठिन है। योग-निवृत्ति हेतु ज्ञानाभ्यास सहित निरंतर जागरूक और सजग रहना होता

है। काया-वचन और मन से कुछ भी नहीं करना और जागरूक रहना ही ध्यान है। इसे हम निर्विकल्प-निर्विचार जागरूकता कह सकते हैं। तत्त्व-अभ्यास से मन की विश्रुति सहज होती है किन्तु इस सहजता के लिये भी बुद्धिपूर्वक पृष्ठभूमि-आधार तैयार करते हैं।

चिंतन, अनुप्रेक्षा, भावना और ध्यान :

ध्यान की चर्चा करते समय चिंतन, अनुप्रेक्षा और भावना शब्दों का प्रयोग प्रायः होता है। अध्यात्म के क्षेत्र में इन शब्दों का अर्थ विशिष्ट होता है। प्रेक्षाध्यान के प्रणेता महाप्रज्ञ श्री ने जैनागम के आलोक में ध्यान पर गहन अध्ययन और प्रयोग किये। उनकी कृति जैन योग के अनुसार उक्त शब्दों का भाव इस प्रकार है -

- १) चिंतन = अनेक विषयों पर अनेक विकल्पों से विचार करना
- २) अनुप्रेक्षा = एक विषय पर अनेक विकल्पों से विचार करना
- ३) भावना = एक विषय पर एक विकल्प की बारम्बार पुनरावृत्ति
- ४) ध्यान = एक विषय पर एक विकल्प की अपुनरावृत्ति या निर्विकल्पता

सामान्य रूप से भाव या अभिप्राय को हम भावना मानकर अध्यात्म जगत में प्रयुक्त शब्द 'भावना' की साधना से वंचित रह जाते हैं। एक विषय पर एक विकल्प या आयाम की बारम्बार पुनरावृत्ति नहीं होती किन्तु उस पर परिणाम स्थिर हो जाता है। एक विषय पर एक विकल्प की पुनरावृत्ति भावना और स्थिरता ध्यान है। इस प्रकार ध्यान निर्विकल्प होता है। निर्विकल्प होने का आशय यह नहीं कि साधक निर्विचार हो जाता है। निर्विचार होने पर जड़पना आ जायेगा। पं.टोडरमल जी ने निर्विकल्पदशा मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में की है। उनके अनुसार पर द्रव्य तथा स्वद्रव्य का सामान्य रूप और विशेष रूप जानना होता है, परन्तु बीतरागता सहित होता है, उसी का नाम निर्विकल्पदशा है। जितने काल एक जानने रूप रहे तब तक निर्विकल्प नाम पाता है।

ध्यान का महत्व :

ध्यान की महिमा अदभुत है। आचार्य कुन्दकुन्द की मोक्षपाहुड की निम्न गाथा ध्यान के फल को दर्शाती है -

उगगतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहिं बहुएहिं।
तं णाणी तिहिगुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण॥५३॥

अर्थ- अज्ञानी तीव्र तप के द्वारा बहुत भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्मों को ज्ञानी मुनि तीन गुप्ति सहित होकर अंतर्मुहूर्त में क्षय कर देता है। इच्छाओं के संस्कारों को ध्वस्त कर ध्यान अतिन्द्रिय आनंद प्राप्त करा देता है। ध्यान से ही आत्मा का अनुभव और कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष होता है। दुर्ध्यान दुर्गति को ले जाता है। ध्यान की साधना श्रुताभ्यास से होती है।

बी-३६९, ओ. एम. कालोनी, अमलाई,
जिला-शहडोल (म.प्र.) ४८४११७

पुस्तक विज्ञापन

पं. जुगलकिशोर ‘मुख्तार’ जी ने आचार्य समंतभद्र पर बहुत खोजपूर्ण कार्य किया और स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ रत्नकरण्ड श्रावकाचार की विशिष्ट व्याख्या करते हुए १६८ पृष्ठ के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और १२४ पृष्ठ की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से मंडित आपने “समीचीन धर्म शास्त्र” की रचना की थी। वीर सेवा मंदिर ने विगत वर्ष (२०१२ में) इसका नया संशोधित संस्करण निकाला है जो जैनसमाज के सभी धर्म जिज्ञासुओं के लिए अत्यंत उपयोगी है। इसका मूल्य १५०० रु है जिसपर ४० प्रतिशत कमीशन देय है। आशा है “समीचीन धर्म शास्त्र” का यह नया संस्करण अत्यंत रोचक एवं ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा। इच्छुक धर्मप्रेमी, वीरसेवामंदिर से उक्त ग्रंथ सशुल्क डाक व्यय सहित प्राप्त कर सकते हैं।

वी० के० जैन, महामंत्री

वीर सेवा मंदिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

वर्तमान में धार्मिक अनुष्ठान प्रतिष्ठा विधि-विधानों में विसंगतियाँ

• पं. सनतकुमार विनोद कुमार जैन

आदिपुराण में जिनसेनाचार्य जी ने धर्मकथा के उपदेश, गर्भाधान आदि संस्कारों की विधि एवं कृषि आदि कार्य करने को अनुष्ठान कहा है। विधि, पद्धति, नियम, ढंग, तरीका भी कह सकते हैं। तीनों सन्ध्याओं में विधि-विधान पूर्वक की जाने वाली महापूजा विधान कहे जाते हैं। मंत्रों के जाप एवं उनकी दशांश आहुतियों के द्वारा जो मंत्राराधना किया जाता है वह अनुष्ठान कहलाता है। विधि-विधान जाप अनुष्ठान पूर्वक किये जाते हैं। जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, आत्मारोधन, अशुभकर्म संयोगों की शान्ति, भावों की विशुद्धि, धर्मप्रभावना, सभी जीवों के सुखी होने की कामना, प्रकृति प्रकोप, उपसर्ग, दुष्काल के दुःखों, आपत्ति विपत्ति के निराकरण के लिये भी विधि विधान किये जाते हैं। इन अनुष्ठानों को दस भागों में विभाजित किया जा सकता है -

१. पंचकल्याणक, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, मंदिर वेदी कलशारोहण आदि।
२. सिद्धचक्र, इन्द्रध्वज, कल्पद्रुम, सर्वतोभद्र आदि विधान।
३. व्रताराधना, उद्यापन विधान।
४. गृहशुद्धि, गृहप्रवेश, शान्तिकर्म आदि।
५. जन्मदिन, नामकरण, विवाह, अन्तिम संस्कार।
६. रक्षाबन्धन, दीपावली, होली, हरयाली तीज, नववर्ष आदि।
७. कालसर्प, शनिग्रह निवारण, ग्रह शान्ति आदि।
८. गीतों, भजनों संगीत के माध्यम से किये जाने वाले अनुष्ठान।
९. अभिषेक पूजन में आत्मारोधना, गुणानुवाद या मनोकामना पूर्ति के उपाय।
१०. चौबीस समवशरण, चौबीस इन्द्रों, चक्रवर्तियों द्वारा किया गया अनुष्ठान।

इनके माध्यम से धर्म प्रभावना, कर्म निर्जरा, भाव विशुद्धि, कार्य सिद्धि के साथ सुख वैभव एवं सद्गति की प्राप्ति होती है। इनमें विसंगतियाँ, विकृतियाँ प्रदर्शन एवं प्रमाद आ जाने से ये कर्मास्रव, कलह, रोग, धनक्षय एवं दुःख के कारक होते हैं। अतः हमें इनकी विसंगतियों का दूर करना चाहिए।

विसंगतियाँ :

विधि-विधान, प्रतिष्ठादि की प्राचीन परम्परा है। युग के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा अनुष्ठानों में विकास एवं परिवर्तन हुए हैं। अनुष्ठानों की मूल भावना के आधार पर जो विकास और परिवर्तन हुए उन्हें सहर्ष स्वीकार किया गया, किन्तु कुछ परिवर्तन अन्य दर्शनों के प्रभाव से हुए उनमें जैन सिद्धान्तों की भावना को गौण कर अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का पोषण किया गया जो जैन धर्म को अहितकारी हैं ऐसा विपरीत क्रियाएँ विसंगतियाँ कहलाती हैं।

१. पंचकल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा में व्याप्त विकृतियाँ :

पंचकल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, मूर्ति में मूर्तिमान की स्थापना कर उसे पूज्यता प्रदान करने का विज्ञान है। जिस विधि से पाषाण, धातु की प्रतिमा को संस्कारित कर भगवान का रूप प्रदान किया जाता है वह विधि पंचकल्याणक कहलाती है। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में अंगन्यास, मंत्रन्यास, गुणारोपण, एवं सर्वज्ञपने की स्थापना से जिनबिम्ब में पूज्यता आती है और उनकी स्तुति से पुण्यार्जन होता है। पंचकल्याणक जितनी शुद्धिपूर्वक संयम साधना, आराधना एवं आगमोक्त अनुशासन के साथ किया जायेगा वह उतना ही प्रभावक, ऋद्धि सिद्धिकारक एवं अतिशय प्रगट करने वाला होगा।

२. पंचकल्याणक में दिशा और समय में विकृतियाँ :

पंचकल्याणक में प्रत्येक कल्याणक का समय एवं दिशा का निर्धारण, प्रतिष्ठापाठ में आचार्य जयसेन स्वामी ने श्लोक ३४२, ८३३ तक किया है। किन्तु इसके विपरीत काल और दिशा में कार्य किये जाते हैं जैसे :-

१. हवन कुण्ड को मूल वेदी के दक्षिण में बनाना।
२. राजभवन दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में बनाना।
३. गर्भकल्याणक की क्रिया अर्ध रात्रि की अपेक्षा दिन में मंच पर करना।
४. आहार गृह दक्षिण की अपेक्षा पूर्व में मंच पर बनाना।
५. पाण्डुक शिला पर सवस्त्र प्रतिमा ले जाना।
६. शची इन्द्राणी से अभिषेक कराना।
७. पेन्ट शर्ट, कुरता, पाजामा के ऊपर दुपट्टा डालकर अभिषेक कराना।

८. पाण्डुकशिला का निर्माण सुमेरुपर्वत के अनुरूप न होना।
९. दीक्षाकल्याणक की क्रियाएँ पर्दा लगाकर न करना।
१०. पंचकल्याणक ६ दिन में करने का विधान है, किन्तु ५, ४ और ३ दिन में करना।
११. साधुओं का रात तक मंच पर रहकर संचालन करना या देर रात तक मंच पर बैठकर कार्यक्रम देखना।
१२. फण सहित प्रतिमा को विधिनायक बनाकर गर्भ एवं जन्मकल्याणक कराना।
१३. इन्द्रसभा में इन्द्रों का मजाक बनाना, उनसे आवश्यक वार्ता कराना, प्रश्नोत्तर के समय चंवर लेकर नृत्य करना।
१४. इन्द्र सभा आदि का वर्णन प्रतिष्ठा ग्रन्थों में नहीं मिलता है।
१५. प्रतिष्ठित प्रतिमा पर तेल, काजल, घी, गरी एवं अन्य वस्तुओं का लेप करना।

मूहूर्त सम्बन्धी विसंगतियाँ :

आचार्यों ने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा शुभमुहूर्त में ही कराने का निर्देश किया है। किन्तु वर्तमान में धनु के सूर्य पौष में, मीन के सूर्य चैत्र में, अधिकमास, रिक्तातिथि, मंगलवार जो प्रतिष्ठा में निषिद्ध हैं, ऐसे समय में भी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करना। मंच पर अन्य कार्यों की अधिकता से क्रियाओं के समय की शुद्ध लग्न का उल्लंघन करना। जिससे प्रतिमाओं में प्रभावना, अतिशयता प्रगट नहीं हो रही है।

पात्र चयन सम्बन्धी विसंगतियाँ :

- १- चौबीस तीर्थकरों के पंचकल्याणक एक साथ करना।
- २- चौबीस सौधर्मइन्द्र/ माता पिता/ कुबेर आदि बनाना। अनेक यज्ञनायक बनाना।
- ३- अयोग्य पात्र को भी पात्रता प्रदान करना।
- ४- छोटे बच्चे को पालना में झुलाना।
- ५- तीर्थकर की बुआ बनाना।
- ६- पात्रों का चयन योग्यता के आधार पर न होकर धन के आधार पर करना।

७- सिद्धचक्र विधान में श्रीपाल मैनासुन्दरी बनाना।

८- माता पिता, सोम श्रेयांस की बोली लगाना।

पंचकल्याणक में क्रियात्मक विसंगतियाँ :

१. जन्म के पहले जन्मकल्याणक की पूजा करना।
२. दीक्षा के पहले दीक्षाकल्याणक की पूजा करना।
३. यागमंडल विधान तीन दिन में करना।
४. नयनोमीलन द्रव्य की जगह काजल का उपयोग करना जिसका कहीं कथन ही नहीं है।
५. गर्भकल्याणक में विधिनायक प्रतिमा को कुंभ में रखकर निकालने का विधान है, लेकिन कुंभ से ही जन्म कराना।
६. प्रतिमाओं के मुख पर कपड़ा बाँधना।
७. इन्द्रों की वेशभूषा में ही आहार दिलवाना।
८. मंच पर ही बाल क्रीड़ा के बालकों को नाश्ता कराना।
९. पीछी कमण्डलु एवं भगवान के वस्त्राभूषण की नीलामी करना।
१०. सौधर्मइन्द्र से शची इन्द्राणी के पैर पड़वाना।
११. दीक्षा पालकी उठाते समय झगड़ा करवाना।
१२. राजनेताओं के सम्मान, बाह्य प्रदर्शन में समय पूरा लगा देना/ क्रियाएँ जल्दबाजी में करना।
१३. जन्म के बाद इन्द्राणी से पहले बालक को बाहर बुलाना।

मंदिर, वेदीप्रतिष्ठा, कलशारोहण में विसंगतियाँ :

१. मंदिर वेदी का कार्य अधूरा रहने पर भी प्रतिष्ठा करना।
२. प्रतिष्ठा के बाद स्वर्ण का कार्य करना।
३. मंदिर वेदी का वास्तु शास्त्रानुसार नहीं होना।
४. गर्भगृह का न होना। ५. वेदी हाल में विराजमान कर देना।
६. प्रतिष्ठा एक या दिन में कर देना।
७. मुहूर्त न देखकर अपनी अनुकूलतानुसार प्रतिष्ठा की तिथि निश्चित कराना।
८. धातु की ध्वजा लगाना। ९. ध्वजा का स्थान यथोचित न होना।

१०. ध्वजदण्ड की ऊँचाई प्रमाणानुसार न होना।

११. कटी हुई ध्वजा लगाना। १२. मूलनायक को अचल न करना।

सिद्धचक्र इन्द्रध्वज, कल्पद्रुम आदि विधानों में विसंगतियाँ :

१. इन्द्रध्वज विधान में ध्वजाओं पर चिन्ह न बनाना।

२. मंदिर स्थापित करवाना। अकृत्रिम जिनालय नहीं, ध्वजा स्थापित करना चाहिये।

३. बिना मूर्तियों का मेरु स्थापित कराना।

४. कल्पद्रुम विधान में समवशरण सीढ़ीनुमा बनाना।

५. चक्रवर्ती चार बनाना/ सौधर्म इन्द्र चार बनाना।

६. समवशरण में तीर्थकर के पुण्य की पूजा करना।

व्रताराधन, उद्यापन विधि में विसंगतियाँ :

१. व्रत पालन में शिथिलता का होना / देखा देखी व्रत करना।

२. व्रत स्वरूप, उद्देश्य एवं विधि का सम्यक् ज्ञान न होना।

३. व्रत विधि में संशोधन कर पालन करना जैसे - उपवास की जगह एकाशन करना। शाम को दूध पानी मेवा आदि लेना। रस परित्याग न करना।

४. व्रत के दिन चाय दूध आदि लेना।

५. तिथि को आगे पीछे कर व्रत करना।

६. व्रत उद्यापन में प्रमाद करना।

७. संक्षेप में पूजन कर लेना या उद्यापन के नाम पर गुप्तदान में पैसे डाल देना।

८. व्रत पूर्ण होने से पहले ही उद्यापन कर देना।

९. व्रत पूर्ण होने के बहुत दिन तक उद्यापन न करना।

१० अपने मन से कैसा भी उद्यापन कर लेना।

गृहारम्भ, गृहप्रवेश एवं शान्तिकर्म में विसंगतियाँ :

१. गृह निर्माण के पूर्व शिलान्यास आदि की क्रिया बिना मुहूर्त के अपनी सुविधानुसार कराना।

२. अन्यमत वाले विद्वान से क्रिया कराना।

३. गृहप्रवेश में अपनी सुविधा का ध्यान रखना, मुहूर्त की अवहेलना करना।

४. भोजन आदि कराने मात्र से गृह शुद्धि मान लेना।

५. शान्तिकर्म में अन्यमत की विधि का अनुसरण करना। जैनधर्म की विधि की अवहेलना करना।

६. ग्रहों की पूजा करना, कराना।

७. ग्रह शान्ति के लिये देवी देवताओं की आराधना करना।

जन्म दिन, नाम संस्कार, विवाह, अन्तिम संस्कार में विसंगतियाँ :

१. जन्म दिन मनाने की विधि पाश्चात्य संस्कृति की पोषक होना। इसे वर्ष वर्धन संस्कार की आगमोक्त विधि से करना चाहिये।

२. नामकरण संस्कार आदि की विधि में धार्मिक पूजा, मंत्र आराधना, जाप हवन आदि की मुख्यता न होकर दिखावा प्रदर्शन में ज्यादा समय लगाना।

३. जैनागमानुसार नाम एवं नामकरण की विधि न होना।

सात सात शतों के साथ देव शास्त्र गुरु की साक्षी में लिये गये संकल्प की धार्मिक क्रिया है। जिसे जैनधर्मानुसार न करके जल्दबाजी में अन्य धर्म के विद्वान से करवाना।

४. विवाह की क्रियाएँ रात्रि में करना।

५. भोजन में जैनत्व विरोधी वस्तुओं (आलू, प्याज, लहसुन) एवं अभक्ष्य पदार्थों का प्रयोग करना।

६. रात्रि भोजन कराना। ७. रागोत्पादक नृत्य करना/कराना, शराब पीना।

अन्तिम संस्कार की विसंगतियाँ :

मरण के उपरान्त शव का अभिषेक एवं संस्कार करना आज प्रमुख विसंगति है। आचार्य कहते हैं कि मृत्यु के बाद अन्तर्मुहूर्त में शव में जीवों की उत्पत्ति होने लगती है। जितनी देरी लगती है उतनी जीवों की उत्पत्ति ज्यादा होती है। अतः शीघ्र ही शव का दाह कर देना चाहिये। किन्तु बोली लगाना, अभिषेक करना आदि में समय व्यतीत होने से जहाँ जीवों की अधिकता हो जाती है वहीं अभिषेक की क्रिया भी उद्देश्य हीन हो जाती है।

रक्षाबंधन, दीपावली, होली, हरयाली तीज :

रक्षाबंधन मुनिराजों के उपसर्ग दूर होने और धर्म की रक्षा होने के कारण मनाया जाता है। जब विष्णुकुमार मुनि ने बलि राजा को पराजित कर धर्म की रक्षा की, मुनिराजों का उपसर्ग दूर किया तब वहाँ श्रावकों ने भी धर्म

रक्षा का संकल्प लेकर रक्षासूत्र बांधा न कि मुनिराजों को रक्षासूत्र बांधकर अपनी रक्षा की कामना की थी। आज हम अन्य धर्मों की क्रियाओं का अनुसरण कर भगवान की वेदी, चैनल, मुनि महाराज, आर्यिका माताजी, क्षुल्लक जी की पिच्छी में रक्षासूत्र बांधते हैं कि हे भगवान्, महाराज जी, माताजी, क्षुल्लक जी आप हमारी रक्षा कीजिए। यह अन्य कर्तावादी दर्शनों का प्रभाव है। वे अपने ईश्वर को कर्ता मानते हैं और और उनसे रक्षा करने की कामना करते हैं जबकि जैनदर्शन अकर्तावादी सिद्धान्त का पक्षधर है।

दीपावली को प्रातः महावीर भगवान का मोक्ष कल्याणक मनाया जाता है और शाम को गौतम गणधर को केवलज्ञान की प्राप्ति के उपलक्ष्य में दीपक जलाये जाते हैं। इसमें भी अन्य धर्मों की परम्परा का अनुकरण कर हम लक्ष्मी पूजा, धन की पूजा, गणेश सरस्वती आदि की पूजा रात्रि में करने लगे हैं। इसमें केवलज्ञानलक्ष्मी की पूजा का प्रसंग था सो हम केवलज्ञान को भूल गये मात्र धनलक्ष्मी की पूजा में संलग्न हो गये।

वर्तमान में हरियाली तीज जैसे धर्मों के त्यौहारों को प्रमुखता से मनाने लगे हैं। जबकि जैनदर्शन के अनेक त्यौहारों को विस्मरण करने लगे हैं। माता के जागरण की तरह पद्मावती का जागरण, ईस्वी के नववर्ष तक उत्सव मनाते हैं। जबकि जैनों का नववर्ष वीरशासन या वीर निर्वाण को भूलते जा रहे हैं।

कालसर्प, नवग्रह, ग्रह शान्ति आदि में विसंगतियाँ :

ज्योतिष विज्ञान एवं कर्म सिद्धान्त से किसी भी प्रकार से कालसर्पयोग मंत्रों के आराधन, पूजन विधान से छूट नहीं सकता न ही अशुभ कर्म के बिना वह अशुभ फल दे सकता है। जन्म के समय जो ग्रह जहाँ स्थित थे वे हमेशा उसी स्थान पर रहते हैं। कोई परिवर्तन संभव नहीं है। अशुभ कर्म के उदय में वे ग्रह आदि मात्र बाह्य निमित्त बनते हैं। किन्तु आज कालसर्पायोग, अशुभ ग्रहशांति के नाम पर बड़ी बड़ी पूजायें कराई जा रही हैं। नवीन नवीन कल्पित विधियाँ की जा रही हैं। पूजा विधान शुभ भाव के कर्ता होते हैं। अशुभ कर्म की स्थिति अनुभाग को कम कर देते हैं। लेकिन उसमें अर्हत की आराधना सम्यक् प्रकार से होना चाहिये किन्तु नीले धोती दुपट्टे नीली साड़ी पहिनकर कालसर्प निवारण की पूजायें की जा रही हैं उतारा किया जा रहा है जो जैन धर्म

के विपरीत विसंगतियों को जन्म देकर अपवाद पैदा कर रहे हैं। नवग्रह शान्ति के लिये ग्रहों की पूजा करना, उनके लिये अष्टद्रव्य की जगह अन्य सामग्री समर्पित करना, वीतराग की पूजा की उपेक्षा और रागी की पूजा की प्रधानता होती जा रही है।

भजनों व संगीत के माध्यम से होने वाले विधानों में विसंगतियाँ :

संगीत और गीतों की बहुलता से विधान के छंद स्पष्ट सुनाई नहीं देते। विधान गौण और संगीत मुख्य हो जाता है। गीत, संगीत जैनधर्म सिद्धान्त के पोषक होने चाहिये तभी वे धर्म के प्रचारक होते हैं। किन्तु वर्तमान में जैन सिद्धान्त, दर्शन के विपरीत शब्दावली वाले गीत गाये जाने लगे हैं। जो जैन सिद्धान्तों का मजाक उड़ाते नजर आते हैं। यथा - वीर बनके महावीर बन के चले आना, ओ पालन हारे निर्गुण और न्यारे आदि कर्तृत्ववाद, अवतारवाद आदि अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाले गीतों की प्रचुरता देखी जाती है। फिल्मी धुनों पर कुछ शब्दों के परिवर्तन मात्र कर देने से जैन गीत बना दिये जाते हैं और उसी फिल्मी तर्ज पर गाये जाने पर संगीत के शोर में मात्र धुन सुनाई देती है। जिससे उसी फिल्मी गीत के शब्द याद आते हैं। फिल्म का वही दृश्य आँखों के सामने होता है।

अभिषेक पूजन, आराधना में आर्यों विसंगतियाँ :

१. अभिषेक की थाली में वेदी की सभी चल प्रतिमाएँ स्थापित करना।
२. तीर्थंकर प्रतिमा के साथ यक्ष-यक्षणी की मूर्ति भी स्थापित करना।
३. अभिषेक व प्रक्षाल के लिए पाषाण की प्रतिमा रखना।
४. अभिषेक के समय सभी प्रतिमाओं का स्पर्श कर मस्तक पर लगाना।
५. अभिषेक में अप्रासुक जल का प्रयोग करना।
६. पंचामृत अभिषेक में बाजार से दूध की थैली अमर्यादित दही, घी आदि के द्वारा अभिषेक करना।
७. अष्टगंध का पिसा हुआ पाउडर बाजार से लाकर पानी में घोलकर अभिषेक करना।
८. पाण्डुक शिला का अभिषेक करना।

पूजा -

- १- दिन के आधार से पूजा करना जैसे - रविवार को पार्श्वनाथ, सोमवार को चन्द्रप्रभ, मंगलवार को वासुपूज्य, शनिवार को मुनिसुब्रतनाथ भगवान आदि की पूजा करना।
- २- सांसारिक सुखों के लिए वीतराग की पूजा करना।
- ३- बाजार की अमर्यादित धूप का प्रयोग करना।
- ४- बड़े विधानों के केशर या हरसिंगार की जगह हल्दी या पीले रंग से पुष्प और दीप बनाना।
- ५- पूजा में थैली या प्लास्टिक की छन्नी से छने जल का प्रयोग करना।
- ६- धूप अग्नि में जलाकर पूजा की परम्परा का समाप्त होना।
- ७- धूप की जगह लौंग चढ़ाना।
- ८- रात्रि में ही सामग्री धोकर टेबिल पर लगा दी जाती है।

चौबीस समवशरण, चौबीस इन्द्र,चक्रवर्ति बनाने की विसंगति :

चौबीस तीर्थकर के समवशरण एक साथ लगाना। चौबीस इन्द्र, चौबीस चक्रवर्ति आदि बनाकर आगम का उपहास करना। एक काल में एक से ज्यादा तीर्थकर संभव ही नहीं, चक्रवर्ति बारह ही होते हैं। उनके काल भी अलग अलग होते हैं। धन संग्रह के उद्देश्य से किये जाने वाले विधान आदि में भगवान की महिमा गरिमा गौण हो जाती है और व्यक्ति मुख्य हो जाता है। किराये की ड्रेस की अपवित्रता का ध्यान नहीं रखा जाता है।

हवन में व्याप्त विसंगतियाँ :

- १- हवन में बाजार की घुनी, गीली, छिलके वाली लकड़ी जलाना।
- २- हवन कुण्ड एक अरत्ति लम्बे, चौड़े, गहरे न होकर मनमाने आकार के होना।
- ३- स्थण्डल की जगह मिट्टी के कुण्ड में हवन करना।
- ४- हवन कुण्ड में नारियल, कलावा, यंत्र, अंगूठी, कड़ा, माला आदि रखकर हवन करना।
- ५- सलवार सूट, पेन्ट शर्ट पहिनकर हवन करना।
- ६- अन्य धर्मों की तरह नव कुण्डीय एकादश कुण्डीय यज्ञ आदि शब्दावली

का प्रयोग करना।

७- बाजार की अमर्यादित धूप एवं तिल, जौ, आदि का प्रयोग करना।

८- हवन को कर्म का क्षय का प्रतीक न मानकर मनोकामना का कारण मानना।

सांस्कृतिक कार्यक्रम में विसंगतियाँ :

१- भरतचक्रवर्ति की सभा में नीलांजना का नृत्य करना।

२- महाआरती में हाथी पर बैठकर आरती करने मंदिर या पांडाल में राजसी वेशभूषा में गाजे बाजे बे साथ जाना प्रभावना है। किन्तु हाथी न होने की स्थिति में हाथी की जगह घोड़े पर बैठकर जाना इस महाआरती को अश्वमेघ आरती कहना, आमंत्रण पत्रिका में छापना।

३- ड्रेस प्रतियोगिता में ज्ञानवर्धक महापुरुषों का वेश न बनाकर अन्य धर्म के देवताओं का वेश बनाना।

४- तीर्थकर की बारात रात में निकालना।

चातुर्मास कलश स्थापना की विसंगतियाँ :

१. चातुर्मास कलश स्थापना का आगम में उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

२. चातुर्मास कलश की संख्या ने भी सीमा लांघ ली है।

३. चातुर्मास कलश पर यंत्र उसके सामने जाप एवं उस कलश के दर्शन करने की नवीन परंपरा।

४. पिच्छी में पंखों की संख्या का बढ़ता पैमाना मयूर पक्षी को संकट में डाल रहा है।

५. चातुर्मास कलश में डाली जाने वाली सामग्री की संख्या एवं उसका प्रमाण और चातुर्मास में जीवों की उत्पत्ति का साधन बनना।

विसंगतियों के कारण और निराकरण :

श्रमण संस्कृति पर अन्य संस्कृति का प्रभाव। गीत, संगीत, साहित्य एवं अन्य संस्कृति के रीति रिवाज, त्यौहार, पूजन पद्धति, वेश भूषा आदि का प्रभाव होता जा रहा है। इन सबके रहने पर भी श्रमण संस्कृति ने अपने सिद्धान्तों की रक्षा की है। किन्तु फिर भी विसंगतियों ने श्रमण संस्कृति को दूषित किया ही है। राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं विपरीत परिस्थितियों

के कारण धर्म के संरक्षण को कुछ परिवर्तन, कुछ ग्रहण, कुछ त्याग भी करने पड़े। जिन्हें अनुकूलता आने पर छोड़ नहीं पाये। जिनका स्वाध्याय कम था जो जैन धर्म के सिद्धान्तों से अपरिचित थे उन्होंने श्रमण संस्कृति के साथ अन्य संस्कृति को भी ग्रहण कर लिया जिसके दुष्परिणाम पीढ़ियों से चलते आ रहे हैं।

भौतिकता की चकाचौंध में आगे निकल जाने की चाह, वैभव आदि की प्राप्ति, धन संचय और सांसारिक सुख इच्छा पूर्ति को दर-दर की ठोकरे खाते हुए अनेक कुदेवों की चौखट पर शिर टेक रहे हैं। इसमें अध्यात्म, वीतरागता, मोक्षमार्ग आदि गौण हो गये हैं। मात्र सांसारिक सुखों की चाह में हम सरागी देवों की आराधना करने लगे हैं। जिससे जैनधर्म के क्रिया कलापों, अनुष्ठानों में विसंगतियों ने सरलता से प्रवेश कर लिया है।

१- जगह जगह धार्मिक शिक्षण शिविर लगाकर स्वाध्याय परम्परा को प्रोत्साहित करना।

२- पत्र पत्रिकाओं में शोध लेख प्रकाशित करना।

३- दूरदर्शन पर धार्मिक धारावाहिक, एवं प्रवचन, परिचर्चाएँ प्रचारित करना।

४- जैन धर्म के सिद्धान्तों को वैज्ञानिक तरीके से विवेचन करना।

५- लौकिक शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा के प्रति जागरूक करना।

६- विश्वविद्यालयों में जैनधर्म शिक्षा के संकाय स्थापित करवाना।

वर्तमान में जैनधर्म की क्रियात्मक कार्यशैली में जहाँ अन्य संस्कृतियों का प्रभाव है वहीं सांसारिक समृद्धि की भावना, जैनागम का ज्ञान न होना, प्रदर्शन और श्रेष्ठता प्राप्त करने की भावना बलवती हो गयी है। हर कोई अपने कार्यक्रम अनुष्ठान को प्रभावक बनाने के लिये नये नये तरीके अपनाने लगे हैं। कुछ नया करने की चाह में सिद्धान्तों की बलि चढ़ा दी जाती है।

बाह्य प्रदर्शन से प्रभावित, सिद्धान्तों से अनभिज्ञ, अपरिपक्व व्यक्ति ऐसी थोथी प्रभावना से प्रभावित होकर उनका अनुसरण करने लगता है, जो आगे चलकर परम्परा बन जाती है। हमें जैनधर्म सिद्धान्त दर्शन के मूल स्वरूप को प्रकट कर सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करना होगा।

- रजवाँस, सागर (मध्यप्रदेश)

जैनदर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय

• डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का अप्रतिम माहात्म्य है। जैनदर्शन में वस्तु व्यवस्था का विशेष स्थान है। इसका वर्णन सत् द्रव्य, गुण और पर्याय के रूप में जैनधर्म/ दर्शन में किया गया है। संसार की प्रत्येक वस्तु सत् है। सत् को ही सत्ता अथवा अस्तित्व माना है। जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त हो, वह सत् है।^१ सत्/सत्ता अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव के द्वारा नाना पदार्थों में व्याप्त होकर रहती है इसलिए नाना रूप है। संसार में कोई भी वस्तु या पदार्थ नहीं है जिसकी सत्ता न हो या जो सत् स्वरूप न हो। सत् / सत्ता की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है- सत्ता सब पदार्थों में रहती है। समस्त पदार्थों के समस्त रूपों में रहती है, समस्त पदार्थों की अनन्त पर्यायों में रहती है, उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है, एक है और सप्रतिपक्षा है।

द्रव्य तो त्रिकाली स्थायी होता है,^२ यह पर्याय की तरह उत्पन्न नष्ट नहीं होता। जैसे द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध है, उसी प्रकार वह सत् भी स्वभाव से ही सिद्ध है क्योंकि वह सत्तात्मक अपने स्वभाव से बना हुआ है। द्रव्य स्वभाव में स्थिर रहता है इसलिए सत् है। द्रव्य का स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकता रूप परिणाम। तीनों में अविना भाव भी है।^३ ये उत्पाद-व्यय ध्रौव्य वास्तविकता से तो पर्याय में होते हैं किन्तु पर्याय द्रव्य में स्थित हैं। इसलिए ये सब द्रव्य के ही कहे जाते हैं।^४

पदार्थ की सत्ता वस्तु व्यवस्था को बताने वाली है। जैनदर्शन में वस्तु का स्वातन्त्र्य और उसकी व्यवस्था का विस्तृत वर्णन है। वस्तु द्रव्य गुण पर्यायात्मक है। अतः द्रव्य गुण पर्याय का विवेचन जैनाचार्यों ने विस्तार के साथ किया है, जितनी सूक्ष्म विवेचना जैनदर्शन में द्रव्य, गुण, पर्याय की गई है अन्यत्र देखने को नहीं मिलती है। प्रकृत में इन्हीं का जैनदर्शनानुसार संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।

द्रव्य - इस शब्द की निरुक्ति पूर्वक व्याख्या इस प्रकार की गई है। द्रवति गच्छति सामान्य रूपेण स्वरूपेण व्याप्नोति तास्तान् कमयुवः सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभावविशेषानित्यानुगतार्थया निरुक्त्या द्रव्यम्। अर्थात् उन क्रमभावी, सहभावी पर्यायों को (स्वभावविशेषों को) जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है। सामान्य रूप से जो व्याप्त होता है, वह द्रव्य है।^{१६} द्रव्य का लक्षण सत् है।^{१७} सत् वह है जो इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है या अतीन्द्रिय है, ऐसा पदार्थ बाह्य और आध्यात्मिक (अभ्यन्तर) निमित्त की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को प्राप्त होता है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द द्रव्य का लक्षण प्रतिपादित करते हुए कहते हैं जो सत् लक्षण वाला है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हैं, तथा गुण-पर्यायों का आश्रय है अथवा गुण-पर्याय स्वभाव वाला है, वह द्रव्य है। द्रव्य आधार है, गुण और पर्यायें अधेय है। गुण ध्रुव (सदा रहने वाले) होते हैं। पर्याय उत्पाद विनाशशील होती है, अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त से गुणपर्यायवत्त्व सिद्ध होता है। इस तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नित्यानित्य स्वरूप परमार्थ सत् को कहते हैं और गुण पर्याय को भी कहते हैं क्योंकि गुण-पर्याय के बिना उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सम्भव नहीं है।^{१८} गुण अन्वयी होते हैं। प्रत्येक अवस्था में द्रव्य के साथ अनुस्यूत होते हैं/ पर्यायें व्यतिरेकी होती हैं। प्रतिसमय परिवर्तनशील होती हैं। अतः गुण व पर्याय उत्पाद- व्यय और ध्रौव्य का सूचन करते हैं तथा नित्यानित्य स्वभाव परमार्थ सत् का ज्ञान कराते हैं। उत्पाद व्यय से द्रव्य कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है क्योंकि व्यय और उत्पाद के समय में द्रव्य स्थिर रहता है। अतः उत्पाद व्यय द्रव्य से भिन्न है। उत्पाद और व्यय द्रव्य जाति का त्याग नहीं करते अतः उत्पाद व्यय द्रव्य से अभिन्न है। यदि उत्पाद-व्यय द्रव्य से सर्वथा भिन्न होते तो द्रव्य के बिना भी उनकी उपलब्धि होती या द्रव्य से पृथक् मिलते और सर्वथा अभेद मानने पर एक लक्षण होने से एक के अभाव में शेष के अभाव का प्रसंग आयेगा।^{१९} उत्पादादि तीनों की संगति सुन्दर उदाहरण के माध्यम से ज्ञातव्य है - जैसे घट का इच्छुक घट का नाश होने पर दुःखी होता है मुकुट को चाहने वाला मुकुट प्राप्त होने पर प्रसन्न होता है, स्वर्ण से चाहत रखने वाला न हर्षित होता है और न दुःखी होता है। वह तो मध्यस्थ रहता है। इस प्रकार एक ही समय में दुःख हर्ष और माध्यस्थ्यभाव बिना कारण नहीं बन सकते।^{२०} उत्पाद, व्यय-ध्रौव्य

वस्तुत्व त्रयात्मक है।

एक द्रव्य में एक समय में अनेक उत्पाद होते हैं और जितने उत्पाद होते हैं, उतने ही पूर्व पर्यायों का विनाश होता है। पूर्वोत्तर अवस्थाओं में स्थायी रूप से रहने वाले ध्रुव धर्मरूप गुण या स्थायी व्यञ्जन पर्याय भी उतने ही होते हैं। अर्थ पर्याय अर्थ क्रिया की अपेक्षा से प्रति समय नष्ट होने वाले भी उतने होते हैं। यह उत्सर्ग सामान्य नियम है। विशेष की अपेक्षा एक स्कन्ध रूप घट के नाश से अनेक कपाल एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। जीव मन, वचन और काय से जैसी क्रिया देखता है, वैसा ज्ञान में जानन रूप से परिवर्तन होता है। जैसे-जैसे रूपादि को जानता है, वैसे वैसे ज्ञान में भी परिवर्तन पाया जाता है। संयोग वियोग से भी जीवादिक में भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्पाद दिखाई देते हैं।^{११} उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों एक समय में भी होने वाले पाये जाते हैं और भिन्नकाल में होने वाले भी पाये जाते हैं। प्रतिसमय पूर्व पर्याय का नाश और वर्तमान पर्याय का उत्पाद तथा पूर्वपर्याय सामान्य रूप गुण सदा प्रदेशों की अपेक्षा ध्रुवरूप है। स्कन्ध में भी ये तीनों प्रतिसमय होते रहते हैं किन्तु स्कन्धों में होने वाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भिन्न कालवर्ती भी होते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड से घड़े का उत्पाद किसी अन्य काल में होना है तथा उस घट के फूटने का काल भिन्न है तथा घट की ध्रौव्यता का काल सामान्य अपेक्षा से उत्पाद और नाश के मध्य का है।^{१२} ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नित्यानित्य स्वरूप परमार्थ सत् को कहते हैं और गुण पर्याय को भी कहते हैं क्योंकि गुण-पर्याय के बिना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संभव नहीं है। गुण अन्वयी होते हैं प्रत्येक अवस्था में द्रव्य के साथ अनुस्यूत रहते हैं और पर्याय व्यतिरेकी होती है प्रति समय परिवर्तनशील होती है। अतः गुण और पर्याय उत्पाद विनाश और ध्रौव्य का सूचन कहते हैं ओर नित्यानित्य परमार्थ सत् का अवबोध कराते हैं।^{१३}

एक द्रव्य से दूसरा द्रव्य नहीं बनता। सभी द्रव्य स्वभावसिद्ध हैं और अनादि अनन्त हैं और जो अनादि अनन्त होता है, उसकी उत्पत्ति के लिए अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती, उसका मूल साधन तो उसका गुण पर्यायात्मक स्वभाव ही है, इसलिए वह स्वयं सिद्ध है। जो द्रव्यों से उत्पन्न होता है, वह द्रव्यान्तर नहीं या अन्य द्रव्य नहीं है किन्तु पर्याय है, क्योंकि वह अनित्य होता है। जैसे दो परमाणुओं के मेल से द्वयणुक बनता है या जैसे

मनुष्यादि पर्याय हैं।

द्रव्य में गुण और पर्याय सदा रहती है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों का और क्रम से होने वाली उनकी पर्यायों का पिण्ड मात्र है। द्रव्य को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाला कहना तथा गुण पर्याय वाला कहने में लक्षणों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता है। केवल दृष्टि भेद है, अभिप्राय में भेद नहीं है क्योंकि जो वस्तु उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप कही जाती है, वही गुण पर्याय स्वरूपलक्षी है।

द्रव्य का लक्षण सिद्ध होने पर द्रव्य के भेदों पर विचार आवश्यक है, प्रकृत में उनका नाम निर्देश मात्र किया जाना संभव है। द्रव्य के छः भेद हैं। १. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४ अधर्म, ५. आकाश, ६. काल। इनमें पुद्गल धर्म अधर्म आकाश, काल अजीव द्रव्य हैं।^{१५}

इन द्रव्यों में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुण लघुत्व, प्रदेशत्व, सामान्यगुण हैं और किन्तु षडद्रव्यों के पृथक् पृथक् विशेष गुणों को ही वस्तु के असाधारण या विशेष गुण कहा जाता है। असाधारण कहे जाने वाले गुण अपने-अपने द्रव्य की अपेक्षा साधारण होने पर भी भिन्न द्रव्य अथवा द्रव्य समूह की अपेक्षा असाधारण ही है। जैसे ज्ञान सुखादि सर्व जीवों में सामान्य रूप से पाये जाने के कारण जीव द्रव्य के प्रति साधारण हैं और अन्य द्रव्यों में न पाये जाने से उनके प्रति असाधारण है।^{१६} इन गुणों-ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस आदि की अपेक्षा १६ संख्या है।

चैतन्य जीव है। जीवत्व के सम्बन्ध से ही जीव माना जाता है। पुद्गल रूपी है। धर्म गति में सहायक होता है अधर्म द्रव्य स्थिति में सहायक होता है। आकाश द्रव्य अवगत देता है और कालद्रव्य द्रव्यों के वर्तन कराने वाला है। इन द्रव्यों की एकानेकता के विषय में कहा गया है कि गति स्थिति आदि परिणाम वाले विविध जीव पुद्गलों की गति आदि में निमित्त होने से भाव की अपेक्षा प्रदेश भेद से क्षेत्र की अपेक्षा तथा काल भेद से काल की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य में अनेकत्व होने पर भी धर्मादि द्रव्य में अनेकत्व होने पर भी धर्मादि द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा अखण्ड एक एक ही द्रव्य है। अवगाही अनेक द्रव्यों की अनेक प्रकार की अवगाहना के निमित्त से भाव की अपेक्षा और प्रदेश से क्षेत्र की अपेक्षा आकाशयें अनन्तता होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा

आकाश एक ही है। जीव पुद्गल अनेक हैं, और अन्य भी द्रव्य एक एक हैं^{१७} और निष्क्रिय भी है।^{१८}

गुण :

द्रव्य के आश्रय से रहने वाले गुणों से रहित गुण होते हैं।^{१९} ये द्रव्य का भेद बताने वाले धर्म हैं।^{२०} गुण ही द्रव्य को द्रव्यान्तर से पृथक् करने वाले हैं।^{२१} सामान्य अन्वय और उत्सर्ग ये गुण वाचक शब्द हैं।^{२२} गुण ही द्रव्य की पहचान कराने वाले होते हैं, जैसा कि आचार्य जयसेन कहते हैं - द्रव्य का आश्रय लेकर और पर के आश्रय के बिना प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य लिंगित (चिह्नित) होता है। पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण हैं।^{२३} ये द्रव्य में व्याप्त होकर पर्यायों के साथ रहने वाले हैं। इसी बात को बताते हुए आचार्य गुणभूषण कहते हैं- जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं, उन्हें गुण कहते हैं। वे अस्तित्व, वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध स्पर्शादि हैं।^{२४} गुणों का आकार कैसा है ? इस विषय में आचार्य सकलकीर्ति ने कहा है कि द्रव्य के आकार से रहना गुणों का संस्थान है अथवा कृष्ण, नील, शुक्ल आदि स्वरूप जो गुण है, उन रूप से रहना गुणों का संस्थान है। गुण वस्तु के स्वभाव में उपादान रूप से सदैव समान रहते हैं।^{२५} अर्थात् वस्तु या द्रव्य में सदैव रहने के कारण सहभावी होते हैं। ये सहभावी गुण सामान्य तथा विशेष के भेद से दो प्रकार के होते हैं।^{२६} जीव-अजीव, जड़-चेतन सभी सत्ताभूत वस्तुओं में सामान्यरूप से रहने वाले गुणों को सामान्य या साधारण गुण कहा जाता है, जैसे कि सत् आदि गुण प्रमाण से सिद्ध हैं। उस ही विवक्षित वस्तु में जो भाव हो, तथा वह वही है, इस प्रकार का ज्ञान कराने वाले गुण विशेष है। जैसे द्रव्य के प्रतिनियत ज्ञानादि गुण।^{२७}

सामान्य गुणों की संख्या आचार्य देवसेन ने दस बललायी है, जिनके नाम इस प्रकार हैं- अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व मूर्तत्व, अमूर्तत्व^{२८}। इनमें से प्रत्येक रूप में आठ गुण अवश्य पाये जाते हैं। जीव में चेतनत्व और अमूर्तत्व। पुद्गल द्रव्य में मूर्तत्व और अचेतनत्व गुणों की भिन्नता है। धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल में अचेतनत्व और अमूर्तत्व गुण पाये जाते हैं। शेष गुण सभी में समान होते हैं।^{२९}

इन गुणों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

अस्तित्व गुण - जिस शक्ति या गुण के निमित्त से द्रव्य का किसी भी अवस्था में नाश न हो, उसे अस्तित्व गुण कहते हैं।^{१०} इस गुण के फलस्वरूप वस्तु अनेकों चित्र-विचित्र रूपों को प्राप्त होने पर भी सत्तात्मक गुण को सदैव धारण किये रहती है। असत् पदार्थ खर विषाण के समान व्यवहारा का विषय नहीं हो सकता है।

वस्तुत्व गुण - सामान्य विशेषात्मक वस्तु होती है, उस वस्तु का जो भाव है, वही वस्तुत्व है। आचार्यमल्लिषेण लिखते हैं- “वस्तुनस्ता तावदर्थ क्रियाकारित्वं लक्षणम्” अर्थात् वस्तु का जो गुण अर्थ क्रिया करने में समर्थ हो, उसे वस्तुत्व कहते हैं।^{११} जैसे घड़े की अर्थक्रिया जल धारण करना है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की पृथक् पृथक् अर्थ क्रिया है। इस गुण के कारण घट घट का ही कार्य करता है अन्य का नहीं। जीव द्रव्य का वस्तुत्व गुण ज्ञातादृष्टा होना है। पुद्गल द्रव्य का गुण पूरण गलन है।

द्रव्यत्व गुण - जो द्रव्य का भाव है, वही द्रव्यत्व है।^{१२} आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि द्रव्यत्व गुण के कारण द्रव्य विभिन्न सत्ताभूत पर्यायों में यथानाम रूप से परिवर्तन करता हुआ भी सत्ता के साथ अनन्य रूप से अवस्थित है।^{१३} जिनेन्द्रवर्णी समझाते हैं कि सूर्यबिम्ब और अकृत्रिम चैत्यालयों को जैनदर्शन में त्रिकाल स्थायी कहा गया है। परन्तु त्रिकाल स्थायी मानते हुए भी द्रव्यत्व गुण के कारण उसके सूक्ष्म परिवर्तन को भी स्वीकार किया है।^{१४}

प्रमेयत्व गुण- प्रमाण के द्वारा जानने योग्य जो स्व और पर स्वरूप है, वह प्रमेय है, उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं। अर्थात् जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय बनता है, वह प्रमेयत्व गुण है।

अगुरुलघुत्व गुण - जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रतिसमय में परिणामनशील है तथा आगम प्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघुगुण है और अगुरुलघु का जो भाव है, वह अगुरुलघुत्व गुण है। इसमें हानि-वृद्धि के अभाव के कारण ही गुण को अगुरुलघु नाम दिया गया है।^{१५}

प्रदेशत्व गुण - प्रदेश के भाव को प्रदेशत्व अर्थात् क्षेत्रत्व कहते हैं। वह अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा घेरा हुआ स्थान मात्र होता है।^{१६} वस्तु अपने

उपरोक्त गुणों के साथ ही किसी न किसी आकृति को भी अवश्य धारण करती है। वस्तु मात्र को आकृति प्रदान करने वाला गुण प्रदेशत्व गुण ही है। इसी गुण के कारण जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य को असंख्यात प्रदेशी, आकाश को अनन्त प्रदेशी, पुद्गल को संख्यात्, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी कहा जाता है।^{३७}

अमूर्तत्व गुण - जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल में यह गुण पाया जाता है। जीव यद्यपि अमूर्तिक है, परन्तु प्रदेशत्व गुण के कारण वह जिस शरीर में जाता है, उसी आकृति को धारण कर लेता है। क्रिया के कारण वस्तु के आकार में भी परिवर्तन हो जाता है। जीव और पुद्गल ये दोनों ही क्रियावान् हैं। अतः इन दोनों में ही आकार परिवर्तन होता है। शेष द्रव्यों में आकार तो है परन्तु उनमें निष्क्रियता है, इसी कारण उनमें आकार परिवर्तन नहीं होता है। **मूर्तत्व गुण** - स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाला जो होता है, उसी में मूर्तत्व गुण पाया जाता है। उक्त धर्म पुद्गल के हैं अतः मूर्तत्व गुण पुद्गल में ही होता है। मूर्तत्वपना ही आकृति का नियामक होता है। लेकिन यहाँ प्रदेशों के जिस आकार को ग्रहण किया गया है, वह मूर्तिक और अमूर्तिक सभी द्रव्यों में समान रूप से पाया जाता है। अतिसूक्ष्म होने के कारण परमाणु यद्यपि दिखाई नहीं देते परन्तु उनसे निर्मित वस्तुओं की आकृति दिखाई देती है। इससे स्पष्ट है कि उनके कारणभूत परमाणु कुछ न कुछ आकृति अवश्य रखते हैं।^{३८}

इस प्रकार वस्तु में अस्तित्व आदि षट् सामान्य गुण पाये जाते हैं इन छहों सामान्य गुणों के क्रम की भी सार्थकता है। वस्तु वही है जो सत्तात्मक है। इसीलिए अस्तित्व गुण को सर्वप्रथम रखा है, अस्तित्वयुक्त वस्तु का प्रयोजन भूत कार्य अवश्य होता है। द्रव्यत्वगुण के बिना प्रयोजन भूत कार्य सम्भव ही नहीं है, इन तीनों गुणों से युक्त वस्तु प्रमेय का विषय अवश्य होती है। द्रव्यों की सत्ता को पृथक् पृथक् रखने वाला अगुरुलघुत्व गुण और आश्रयभूत प्रदेशत्व गुण अन्त में कहा गया है।^{३९}

गुणों को द्रव्य के समान कथञ्चित् अनित्य भी कहा गया है। यद्यपि गुणों की इस नित्यानित्यात्मकता के विषय में जैनेतर दर्शनों में विवाद पाया जाता है किन्तु जैनदर्शन द्रव्य के समान गुणों की नित्यानित्यात्मकता को

स्वीकार करता है। यथा जीव में ज्ञानादि का पुद्गल में रूप आदि का सदा अन्वय देखा जाता है। ऐसा समय न तो कभी प्राप्त हुआ और न कभी प्राप्त हो सकता है, जिसमें जीव के ज्ञानादि गुण का अभाव रहे और पुद्गल में रूपादि का अभाव रहे। इससे सिद्ध होता है कि गुण नित्य हैं, उनकी यह नित्यता प्रत्यभिज्ञान से भी सिद्ध है। इसी नित्य को ध्रौव्य कहा जाता है किन्तु जैन दर्शन में ऐसा ध्रुवत्व भी इष्ट नहीं है, जो सदा अपरिणामी रहे। गुण के परिणाम को उदाहरण से समझें कि जो वर्तमान में हरा है, वही कालान्तर में पीला भी हो जाता है। इस प्रकार परिणमन की भिन्नता के कारण ही गुणों को सर्वथा नित्य नहीं माना जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि गुण कथञ्चित् अनित्य भी है।

पर्याय - जैन दर्शन में पर्याय को क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद व्यय रूप और कथञ्चित् ध्रौव्यात्मक कहा गया है।^{४०} पर्याय एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी इस क्रम से होती है। अतः इनको क्रमवर्ती कहा जाता है। जैसे मिट्टी में पिण्ड, कोश, कुशूल और घट ये पर्यायें क्रम से होती हैं। युगपत् नहीं। इसलिए क्रमवर्ती कहा जाता है। एक पर्याय के रहते हुए दूसरी पर्याय असंभव होती है। स्वभावतः पर्यायों में क्रम घटित होता है यही कारण है कि क्रम से होने वाली अवस्था को पर्याय माना गया है जैसे जीव की नर नारकादि पर्याय या अवस्थाएं और पुद्गल परमाणुओं की द्वयणुक आदि अवस्थाएं या कर्मरूप पर्याय। पर्येति पर्यायः अर्थात् परिणमन करने वाली पर्याय होती है, स्वभाव और विभाव रूप से गमन करती है। सत् को आदि लेकर अविभाग प्रतिच्छेद पर्यन्त यही संग्रह प्रस्तार क्षणिक रूप से विवक्षित व शब्द भेद से भेद को प्राप्त हुआ विशेष प्रस्तार या पर्याय है।^{४१} एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं। जैसे एक आत्मा में हर्ष और विषाद।^{४२} द्रव्यत्व गुण के कारण वस्तु में सदा परिणमन रूप कार्य होता रहता है। परिणमन करते हुए भी ये पर्याय द्रव्य से पृथक् नहीं होते अपितु सागर की तरंगों की भांति सदा वस्तु में उदित होकर उसी में लीन होते रहते हैं जैसा कि देवसेनाचार्य लिखते हैं -

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्व पर्यायाप्रतिक्षणम्।

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले॥^{४३}

अलाप पद्धति में पर्याय का लक्षण और भेद बतलाते हुए कहा है- “गुण विकाराः पर्यायास्ते द्वेधा अर्थव्यञ्जन पर्याय भेदात्” अर्थात् गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं।^{१४} वे पर्यायों दो प्रकार की है १. अर्थ पर्याय, २. व्यञ्जनपर्याय। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने बतलाया है - गुणों के द्वारा अन्वयरूप एकता के ज्ञान का कारण जो पर्याय हो, वह गुण पर्याय है। जैसे वर्ण गुण की हरी पीली आदि पर्याय होती हैं, हर एक पर्याय में वर्ण गुण की एकता का ज्ञान है, इससे यह गुण पर्याय है।^{१५} समस्त द्रव्यों में रहने वाले अपने अपने अगुरुलघु^{१६} गुण द्वारा प्रतिसमय होने वाली छह प्रकार की हानि वृद्धि रूप पर्याय स्वभाव गुण पर्याय है। तथा पुद्गल स्कन्ध के रूपादिगुण और जीव के ज्ञानादि गुण जो पुद्गल के संयोग से हीनादिक रूप परिणमन करते हैं। वह विभाव गुण पर्याय है। जैसे जीव द्रव्य में ज्ञान गुण की केवलज्ञानपर्याय स्वभाव पर्याय है किन्तु संसार दशा में उस ज्ञान गुण का जो मतिज्ञान आदि रूप परिणमन, कर्मों के संयोगवश हो रहा है, वह विभाव पर्याय है। द्रव्य पर्याय के स्वभाव पर्याय और विभावपर्याय दो भेद होते हैं, और गुणपर्याय के भी स्वभाव पर्याय तथा विभाव पर्याय दो भेद कहे गये हैं।

अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय के भेद से भी पर्याय के दो भेद किये गये हैं। अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, प्रतिक्षण नाश होने वाली है तथा वचन के अगोचर है और व्यञ्जन पर्याय स्थूल होती है, चिरकाल तक रहने वाली वचनगोचर व अल्प ज्ञानियों के दृष्टिगोचर भी होती है। अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्याय में काल कृत भेद हैं क्योंकि समयवर्ती अर्थ पर्याय है और चिरकाल स्थायी व्यञ्जन पर्याय है।^{१७} ज्ञानार्णव में दोनों प्रकार की पर्यायों के विषय में कहा है-

मूर्तोव्यञ्जन पर्यायो वागगम्योऽनश्वरः स्थिरः।

सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थ संज्ञिकः॥६/४५

व्यञ्जन पर्याय मूर्तिक है, वचन के गोचर है। अनश्वर है स्थिर है और अर्थ पर्याय सूक्ष्म है। क्षण ध्वंसी है। वसुनन्दि आचार्य ने भी इसी प्रकार से प्रतिपादन किया है।^{१८}

अर्थ और व्यञ्जन पर्यायों भी स्वभाव और विभाव के भेद से दो दो प्रकार की होती हैं।

स्वभाव अर्थ पर्याय - प्रदेशत्व गुण अतिरिक्त अन्य समस्त गुणों का जो विकार बिना किसी दूसरे के निमित्त से हो, उसे स्वभाव अर्थ पर्याय कहते हैं।^{४९} जैसे जीव के ज्ञानादिगुण सिद्धावस्था में भी जीव के अनन्त ज्ञानादि गुणों में सूक्ष्मवर्तन होता रहता है इसीलिए यह जीव की स्वभाव अर्थ पर्याय है। अणुरूप पुद्गल द्रव्य में स्थित रूप रस गन्ध, वर्ण पुद्गल की स्वभाव अर्थ पर्याय हैं।^{४९}

विभाव अर्थ पर्याय - प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त अन्य समस्त गुणों का जो विकार पर निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे विभाव अर्थ पर्याय कहते हैं। जीव के राग द्वेषादि परिणाम कर्म पुद्गलों से उत्पन्न होने वाला सूक्ष्म परिवर्तन है। इसीलिए उसे विभाव अर्थ पर्याय कहा जाता है।^{५०}

स्वभाव-व्यञ्जन पर्याय - प्रदेशत्व गुण के विकार को व्यञ्जन पर्याय कहते हैं, जिस व्यञ्जन पर्याय में किसी दूसरे के निमित्त के बिना अपने स्वभाव से ही परिवर्तन होता है, उसे स्वभाव व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। जीव की सिद्ध पर्याय में कोई अन्य निमित्त नहीं है। अपनी स्वाभाविक शक्ति से ही वह इस पर्याय को प्राप्त करता है और चरमशरीर से किञ्चित् न्यून देहाकार में स्थित होता है।^{५१}

विभाव व्यञ्जन पर्याय - प्रदेशत्व गुण को जो विकार दूसरे पदार्थ के निमित्त से होता है, वह विभाव व्यञ्जन पर्याय कहलाता है। जैसे जीव की नरक तिर्यञ्चादि पर्याय। पुद्गल की द्वयणुकादि पर्याय।

स्वभाव अर्थ पर्यायें बारह प्रकार की होती हैं। छह बृद्धिरूप तथा छह हानिरूप। अर्थात् अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्या गुणवृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनन्त गुण वृद्धि। छह हानि- अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यात गुण हानि, असंख्यात गुण हानि, अनन्तगुण हानि।^{५२}

विभाव अर्थ पर्यायें छह प्रकार की होती हैं- मिथ्यात्व, कषाय, राग, द्वेष, पुण्य, पाप। ये छह अध्यवसाय विभाव अर्थ पर्याय जानना चाहिए।

स्वभाव पर्यायें सभी द्रव्यों में होती हैं किन्तु विभाव पर्याय जीव और पुद्गल मात्र में होती हैं। द्रव्य और गुणों में स्वभाव पर्यायें होती हैं और कर्मकृत विभाव पर्यायें होती हैं। पुद्गल में विभाव पर्यायें काल प्रेरित होती हैं, जो स्निग्ध

व रुक्ष गुण के कारण बन्ध रूप होती है।^{५३}

इस प्रकार पर्याय के विविध भेद हैं, उनका विस्तृत विचार नियम स्वर, अलापपद्धति आदि ग्रन्थों में किया गया है।

व्यञ्जनपर्याय भी स्वभावरूप अवस्था सिद्धावस्था ही है।^{५४}

प्रकृत में केवल जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य द्रव्य गुण, पर्याय की मीमांसा की गई है अन्य दर्शनों में द्रव्य- गुण की विस्तृत विवेचना है किन्तु आलेख विस्तार भय से अनुपयुक्त समझकर विवेचना से दूर रहे हैं।

संदर्भ :

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०
२. पञ्चास्तिकाय, ८
३. नय चक्र गाथा, ३६
४. प्रवचनगाथा १००
५. वही, १०१
६. पञ्चास्तिकाय गाथा ९ की टीका
७. सद्द्रव्यलक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र ५/२९
८. पञ्चास्तिकाय गाथा १०
९. तत्त्वार्थवार्तिक गाथा ९
१०. आप्तमीमांसा कारिका, ५९
११. सन्मति सूत्र, ३/४१-४२
१२. सन्मति सूत्र, ३/३३-३४
१३. नयचक्र गाथा, ३६
१४. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३८
१५. नियमसार, ९
१६. ज्ञानसुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः।
१७. तत्त्वार्थवार्तिक, ६
१८. निष्क्रिमाणि सूत्र, ५/७
१९. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३९
२०. सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ-६००
२१. आलापपद्धति, ९३
२२. तत्त्वार्थसार, ३/१०
२३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति गाथा १३० की टीका
२४. न्यायदीपिका ३/७८
२५. मूलाचार प्रदीप ४९
२६. वृहद् नयचक्र गाथा ११,
२७. अध्यात्मकमल मार्तण्ड २/७८
२८. आलापपद्धति-९
२९. वृहद्नयचक्र गाथा १५
२३. अत्थि सहावो सत्ता। वृहद्नय चक्र गाथा ६१
३१. स्याद्वाद मञ्जरी पृ. ३०
३२. आलापपद्धति
३३. पञ्चास्तिकाय गाथा ९
३४. नयदर्पण पृ. ५६३
३५. आलाप पद्धति पृ. ८६
३६. आलापपद्धति पृ. ९१
३७. तत्त्वार्थसूत्र, ५/८-१०
३८. जैन चिंतन शिक्षण पृष्ठ ९७, द्रव्यानुयोग प्रवेशिका पृ. १८-२२
३९. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, पृ. ३०
४०. पञ्चाध्यायी श्लोक १६५
४१. धवल ९/१७०
४२. पं. मु. ४१८
४३. आलाप पद्धति श्लोक-२, पृ. ४२
४४. नयचक्र गाथा १७
४५. पञ्चास्तिकाय गा. १६ की टीका
४६. नयचक्र- २२ (प्राकृत)
४७. पञ्चास्तिकाय गाथा १६ की टीका
४८. वसु. श्रावकाचार, २५
४९. वृहद्नयचक्र गाथा २६
५०. द्रव्यानुयोग प्रवेशिका, पृष्ठ २३
५१. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका पृष्ठ-३६
५२. आलापपद्धति १७
५३. नयचक्र १८-१९
५४. आलापपद्धति, १९-१२३

- अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

दि.जैन कॉलिज, बड़ौत -२५०६११ (उत्तरप्रदेश)

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

- डॉ. रमेशचन्द्र जैन

आत्महित चाहने वालों द्वारा सम्यग्ज्ञान की उपासना :

सम्यग्दर्शन के धरण करने वाले पुरुषों को जो नित्य आत्मा का हित चाहते हैं, जिनधर्म की पद्धति और युक्तियों के द्वारा भले प्रकार के विचार करके सम्यग्ज्ञान आदर के साथ प्राप्त करना चाहिए।^१ सम्यग्ज्ञान की वृद्धि के लिए उपाय यह है कि पदार्थों को प्रमाण और नयों के द्वारा निर्मित करना चाहिए। प्रमाण से अनंत धर्मात्मक वस्तु का एकसाथ बोध होता है। यह वस्तु के सर्वांश को ग्रहण करता है। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में कहा है-

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।

क्रममावीच यज्ज्ञानं स्याद्वादनय संस्कृतम्॥

अर्थात् आपका (जिनेन्द्रदेव का) तत्त्वज्ञान प्रमाण है^२ क्योंकि उसमें एकसाथ सकल पदार्थों का अवभासन होता है जो क्रमभावी ज्ञान होता है, उसे स्याद्वाद नय से संस्कृत होना चाहिए। इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण के अक्रमभावी और क्रमभावी दो भेद किए हैं। आचार्य विद्यानन्द ने सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण बतलाया है। उन्होंने कहा है कि ज्ञान चाहे गृहीत अर्थ को जाने अथवा अगृहीत को जाने, वह स्वार्थ व्यवसायात्मक होने से प्रमाण है।^३ आचार्य मणिक्यनन्दि ने अपूर्व विशेषण का समावेश कर स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान को प्रमाण कहा है।^४ प्रमाण के पाँच भेद होते हैं:-१- मतिज्ञान २- श्रुतज्ञान ३- अवधिज्ञान ४- मनःपर्ययज्ञान ५- केवलज्ञान।

नय प्रमाण के एकदेश को ग्रहण करता है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार श्रुतप्रमाण के द्वारा गृहीत अर्थ के विशेषों अर्थात् धर्मों का जो अलग-अलग लक्षण है, उसे नय कहते हैं।^५ वस्तु का एक धर्म, उस धर्म का वाचक शब्द और उस धर्म को जानने वाला ज्ञान, ये तीनों ही नय के भेद हैं।^६

प्रमाण के द्वारा सम्यक प्रकार से ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म या अंग की अपेक्षा दृष्टि को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। अनेकान्तक वस्तु में अविरोध पूर्वक हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं।^६ आचार्य माइल्लध्वल ने नयों के विषय में कहा है कि यद्यपि आत्मा स्वयं पक्षातीत है, तथापि वह नयज्ञान के बिना पर्याय में नयपक्षातीत होने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् विकल्पात्मक नयज्ञान के बिना निर्विकल्पात्मक आत्मानुभूति संभव नहीं है। अनादिकालीन कर्मवश यह असत् कल्पनाओं में उलझा हुआ है। अतः कल्पना रूप अर्थात् सम्यक् विकल्पात्मक नयों का स्वरूप कहते हैं। यदि लीलामात्र से अज्ञानरूपी समुद्र को पार करने की इच्छा है तो दुर्नय रूपी अन्धकार के लिए सूर्य के समान नय है, जो अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करता है। जैसे- नमक सब व्यंजनों को शुद्ध कर देता है अर्थात् सुस्वादु बना देता है, वैसे ही समस्त शास्त्रों की शुद्धि के कर्ता को नय कहा है।^७

नयों के अनेक भेद हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि सम्यग्दर्शन का सहभावी होने पर भी सम्यग्ज्ञान का जुदा आराधन करना अर्थात् सम्यग्दर्शन से भिन्न प्राप्ति करना इष्ट है; क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में लक्षण के भेद से नानापन अर्थात् भेद घटित होता है।^८ जिस समय आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, उसी समय उसके साथ मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होकर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। साथ-साथ होने पर भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पीछे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए उपदेश दिया गया है। यहाँ पर यह शंका होती है कि दोनों साथ ही प्रकट होते हैं तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए ही उपदेश देना ठीक है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए क्यों पृथक् उपदेश दिया गया है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि साथ-साथ दोनों प्रकट होते हैं, फिर भी दोनों का लक्षण जुदा है, दोनों की संख्या जुदी है, दोनों के आवरण करने वाले कर्म जुदे हैं, दोनों का क्षयोपशम जुदा है, दोनों के कार्य जुदे हैं, दोनों के स्वरूप जुदे हैं, इसलिए उनका भिन्न-भिन्न विधन बतलाया गया है। सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान है, सम्यग्ज्ञान का लक्षण यथार्थ जानना है। आचार्य समन्तभद्र का कहना है-

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।

निः सन्देहं वेद यथाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥ रत्न०श्रा०

अर्थात् न्यूनता से रहित, अनतिरिक्त तथा विपरीतता के बिना याथातथ्य रूप में जैसा सर्वज्ञदेव ने कहा है, उसे सन्देह रहित होकर जानना चाहिए। सम्यग्दर्शन उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा तीन प्रकार का है। सम्यग्ज्ञान मत्यादि ज्ञानों की अपेक्षा पाँच प्रकार का है। भिन्न-भिन्न आवरणों से दोनों के क्षयोपशमिक भाव भी जुड़े हैं। सम्यग्दर्शन का कार्य मोक्षमार्ग पर पहुँच जाना है। सम्यग्ज्ञान का कार्य उस मार्ग में आयी हुई अविवेकजनित बाधाओं का हटाना है। सम्यग्ज्ञान आत्मा का जुदा गुण है, सम्यग्दर्शन जुदा गुण है। इन लक्षणदिक भेदों से ज्ञान, दर्शन दोनों का पृथक-पृथक आराधन कहा गया है। श्लोक में 'संभवति' क्रिया दी गई है, उसका यह अभिप्राय है कि इन दोनों में नानापना संभव है अर्थात् विवक्षावश नानात्व भी है और अभेदविवक्षा से अभिन्नता भी है। लक्षणादि भेदविवक्षा से भेद है, अन्यथा नहीं है।^{१९}

समकाल में होने वाले कार्य-कारण का दृष्टान्त :

कार्यकारण विधनं समकालं जायमानयोरपि हि ।

दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटं ॥ पुरुषार्थ-३४

समानकाल (एककाल) में उत्पन्न हुए भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में कार्य-कारण भाव दीप और प्रकाश के समान भले प्रकार घटित होता है।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप :

समीचीन अनेकान्त स्वरूप तत्त्वों में यथार्थ बोध प्राप्त करना चाहिए। वही संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित आत्मा का स्वरूप है।^{१०}

यहाँ पर सत् विशेषण दो अर्थों को सिद्ध करता है। एक तो यह कि सत्स्वरूप और अनेकान्त स्वरूप तत्त्वों का मनन करना चाहिए, द्रव्य का लक्षण सत् कहा गया है और सत् का लक्षण उत्पादव्यधौव्य स्वरूप अनेकान्त है। इसलिए तत्त्व स्वरूप का बोध कराने के लिए यहाँ सत् पद भी दिया गया है और अनेकान्त पद भी दिया गया है। दूसरा अर्थ यह होता है कि जो अनेकान्त है, वह सत् समीचीन है।^{११}

प्रतिक्षण पर्याय भेद से पदार्थों में अनन्त रूपता होती है। अतः भावात्मक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है अथवा सत्त्व, ज्ञेयत्व, अतिसूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, असंख्येय प्रदेशत्व, अनादिनिधनत्व और चेतनत्व की दृष्टि से भी जीव अनेक धर्मात्मक है अर्थात् आत्मा नामक पदार्थ सत्स्वरूप है। ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय, गुण व पर्याय रहित होने से द्रव्य है, रूपादिरहित होने के कारण अमूर्तिक है, इन्द्रियों का विषय न होने से अतिसूक्ष्म है। एक में अनेक रहने के कारण अवगाहनात्मक है। किसी न किसी आकार से युक्त होने के कारण प्रदेशात्मक है। आत्मा उत्पत्ति और विनाश रहित होने से चेतनात्मक है। इस प्रकार एक ही पदार्थ पर्यायों के भेद से अनेक धर्म स्वरूप है।^{१३}

अनेकान्त के भेद :

जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी हैं। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयों की अपेक्षा एकान्त रूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता है।^{१३} आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेकान्त दो प्रकार का बताया है- क्रम अनेकान्त और अक्रम अनेकान्त।^{१४} आचार्य अकलंक देव ने भी अनेकान्त के दो भेद किये हैं- मिथ्या अनेकान्त और सम्यक अनेकान्त।^{१५}

अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक है :

जिस प्रकार जीवादि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है, उसी प्रकार अनेकान्त में भी अनेकान्त पाया जाता है अर्थात् अनेकान्त सर्वथा अनेकान्त नहीं है, किन्तु कथंचित् एकान्त और कथंचित् अनेकान्त है। जब प्रमाण दृष्टि से समग्र वस्तु का विचार किया जाता है, तब वह अनेकान्त कहलाता है। किसी एक धर्म का विचार किया जाता है, तब वही एकान्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अनेकान्त प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त और नय की अपेक्षा एकान्त है, इस प्रकार अनेकान्त में भी अनेकान्तात्मकता सिद्ध होती है।^{१६}

मिथ्याज्ञान :

जो ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से युक्त हो, उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। परस्पर विरुद्ध कोटि के स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं।

जैसे स्थाणु है या पुरुष।^{१७} विपरीत एक कोटि का निश्चय कराने वाला ज्ञान विपर्यय है। जैसे सीप में रजत का ज्ञान। “विपरीतैक कोटि निश्चयात्मकं ज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्तिकायां रजतमिति ज्ञानम्”। किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः। यथा गच्छन् तृणस्पर्शमिति ज्ञानम्। यह क्या है, इस प्रकार विचार करने वाला ज्ञान अनध्यवसाय है। जैसे जाता हुआ व्यक्ति तृणस्पर्श होने पर आगे यह विचार करता है कि यह क्या है? सम्यग्ज्ञान उपर्युक्त तीनों प्रकार के मिथ्या ज्ञानों से रहित होता है।

सम्यग्ज्ञान के आठ अंग :

अध्ययन काल में विनयपूर्वक अतिशय सम्मान के साथ अर्थात् आदर, भक्ति एवं नमस्कार क्रिया के साथ ग्रन्थ-शब्द से पूर्ण, अर्थ से पूर्ण और शब्द तथा अर्थ दोनों से पूर्ण धारक सहित अर्थात् शुद्धि पाठ सहित बिना किसी बात को छिपाए सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।^{१८} यहाँ पर सम्यग्ज्ञान के आठ अंगों पर प्रकाश डाला गया है। ये आठ अंग इस प्रकार हैं-

१- ग्रन्थाचार २- अर्थाचार ३- उभयाचार ४- कालाचार ५- विनयाचार ६- उपधनाचार ७- बहुमानाचार ८- अनिन्दवाचार ।

१- ग्रन्थाचार- व्याकरण के अनुसार अक्षर, पद, मात्रादि का गुंतापूर्वक पठन-पाठन करने को शब्दाचार या ग्रन्थाचार कहते हैं।

२- अर्थाचार- निश्चय करने को अर्थाचार कहते हैं।

३- उभयाचार- शब्द और दोनों के शुद्ध पठन-पाठन और धारण करने को उभयाचार कहते हैं।

४- कालाचार- उत्तम (योग्य) काल में पठन-पाठन कर ज्ञान के विचार करने को कालाचार कहते हैं। गोसर्गकाल (मध्यान्ह से दो घड़ी पहिले और सूर्योदय से दो घड़ी पीछे का काल), प्रदोष काल (मध्यान्ह के दो घड़ी पश्चात् और रात्रि से दो घड़ी पहिले का काल), रात्रि के दो घड़ी उपरान्त और मध्य रात्रि से दो घड़ी पहिले का काल और विरात्रिकाल (मध्यरात्रि से दो घड़ी पश्चात् और सूर्योदय से दो घड़ी पहिले का काल) इन चार उत्तम काल में पठन-पाठनादि स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं। चारों सन्ध्याओं की अन्तिम दो-दो घड़ियों में, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, तूफान,

भूकम्प आदि उत्पातों के समय में सिद्धांत ग्रन्थों का पठन-पाठन वर्जित है। स्तोत्र, आराधना, धर्मकथादि ग्रन्थ बाँचे जा सकते हैं।

५- विनयाचार- शुद्धि जल से हाथ, पाँव धेकर शुद्धि निर्मल स्थान में पद्मासन बैठकर नमस्कार पूर्वक शास्त्रादिक के पढ़ने को विनयाचार कहते हैं।

६- बहुमानाचार- ज्ञान का, शास्त्र का और पढ़ाने वाले का पूर्ण आदर करना बहुमानाचार है।

७- अनिन्हवाचार- जिस गुरु से या जिस शास्त्र से ज्ञान प्राप्त हो सके, उसके न छिपाने को अनिन्हवाचार कहते हैं।

संदर्भ :

१. इत्याश्रित सम्यक्तैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन। आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः।
पुरुषार्थसिद्धयुपाय-३१
२. गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥ तत्त्वार्थलोकवार्तिक १-१०-७९
३. स्वापूर्वार्थं व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। परीक्षामुख १/१
४. स्याद्वादप्रविभक्तार्थं विशेष व्यंजको नयः। आप्तमीमांसा १०६
५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २६७ ६. सर्वार्थसिद्धि, १/३३ ७. नयचक्र गाथा ४१९-४२७
८. पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभावनोपि बोधस्य। लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः।
पुरुषार्थसिद्धयुपाय ३२
९. पुरुषार्थसिद्धयुपाय की पं. मक्खनलाल गिँस्त्री की तिलक कृत टीका ३२
१०. कर्तव्यो धयवसायः सद्नेकान्तात्मकेषु तत्त्वेभ्यु। सशंयविपर्ययानधयवसायविविक्तमात्मरूपं
तत्। पुरुषार्थसिद्धयुपा, ३५
११. पुरुषार्थसिद्धयुपाय की पं. मक्खनलाल गिँस्त्री की तिलक कृत टीका ३५
१२. तत्त्वार्थवार्तिक ४/४२/४ १३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २६१ १४. प्रवचनसार १४१
१५. अनेकान्तोऽपि द्विविधः सम्यग्नेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। तत्त्वार्थवार्तिक १/६/७
१६. स्वयंभूस्तोत्र १०३
१७. परस्परविरुद्धकोटिस्पर्शज्ञानं संशयः यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। न्यायदीपिका
१८. पुरुषार्थसिद्धयुपा, ३६

- निदेशक- राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन-संस्थान
श्री धवलतीर्थम् श्रवणवेलगोला-हासन (कर्नाटक) -५७३१३५
मो. 090082 87024

आचार्य वादीभसिंह और उनका क्षत्रचूडामणि

- अनिल कुमार जैन

संस्कृत साहित्य में साहित्य के तीन भेद किये गये “गद्यपद्यचम्पूरित्यभिधीयते” अर्थात् गद्यसाहित्य, पद्य काव्य और चम्पू काव्य, संस्कृत में जितना विकास गद्य साहित्य का हुआ है उतना ही पद्य काव्य एवं चम्पू काव्य का विकास हुआ है। इसी प्रकार का एक चम्पूकाव्य आचार्य वादीभसिंह विरचित क्षत्रचूडामणि है जिसका चम्पू काव्य में एक उत्कृष्ट स्थान है।

आचार्य वादीभसिंह इस नाम की निरुक्ति पर जब हम ध्यान देते हैं तब ऐसा लगता है कि यह नाम इनका जन्मजात न होकर पाण्डियोत्यापार्जित उपाधि है। अतः ओडयदेव यह उनका जन्मजात नाम है और वादीभसिंह (वादीरूपी हाथियों को जीतने के लिए सिंह की) उपाधि है।

श्रवणवेलगोला के शिलालेख नं ५४ की मल्लिषेण प्रशस्ति में वादीभसिंह उपाधि से युक्त एक आचार्य अजितसेन का उल्लेख किया गया है। बहुत कुछ सम्भव है कि यह उपर्युक्त वादीसिंह ही हो और अजितसेन यह उनकी मुनि अवस्था का नाम हो क्योंकि अधिकतर दीक्षा के समय जन्मजात नाम को परिवर्तित कर दूसरा नाम रख देने की परम्परा साधुओं में बहुत समय से प्रचलित है तथा प्रशस्ति में दिया हुआ वादीसिंह पद उपाधि सूचक ही है। विशेषण सूचक नहीं क्योंकि-

मदवदखिलवादीभेन्द्र कुमपभेदी -

१. मदयुक्त समस्त वादीरूपी गजराजों के गण्डस्थलों को विदीर्ण करने वाले इस तृतीय पद से गतार्थ हो सकता है।

श्री टी.एस. कुप्पूस्वामी श्री पं. कैलाशचंद जी शास्त्री और पं. के. भुजबल शास्त्री ने भी उक्त अभिशाप स्पष्ट किया है-

गद्यचिंतामणि की पूर्वपीठिका के षष्ठम श्लोक में आचार्यदेव ने अपने गुरु का नाम पुष्पसेन घोषित किया है।

श्री पुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो दिव्यो मनुहृदिसदामम संविदध्यात॥
 यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोपि वादीभसिंह मुनिपुंगवतामुपैति॥(२)
ओडयदेव :

अजितसेन को वादीभसिंह यह उपाधि अपनी तार्किक प्रतिभा के कारण ही प्राप्त हुई होगी उनकी तार्किक प्रतिभा उनके द्वारा रचित और माणिकचंद ग्रन्थमाला (बम्बई से प्रकाशित) स्याद्वाद से स्पष्ट होती है।

आचार्यसोमदेव ने भी लिखा है कि यद्यपि वादीभसिंह भी न्यायशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे और उसी रूप में उनकी प्रसिद्धि थी, फिर भी गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि नामक गद्य और पद्यकाव्य उनकी दिव्य लेखनी से प्रसूत हुए हैं। इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

वादीभसिंह का स्मरण जिनसेनाचार्य (ई.८३८) ने अपने आदिपुराण में किया है और उन्हें उत्कृष्ट कोटि का कवि वाग्मि और गमक बतलाया है।

यथा- कवित्वस्य परासीमा वाग्मितस्य परंपदम्

गमकत्वस्य पर्यन्तोवादिसिहोऽच्यर्यते न कैः (४)

पार्श्वनाथचरित्र के कर्ता वादिराजसूरि (ई.१०२५) ने भी वादीभसिंह का उल्लेख किया है और उन्हें स्याद्वाद की गर्जना करने वाला बतलाया गया है तथा दिड.नाग और धर्मकीर्ति के अभिमान को चूर-चूर करने वाला बतलाया गया है।

**स्याद्वाद गिरिमाश्रित्य वादिसिहोस्य गर्जिते
 दिग्नागस्य मद्ध्वंसे कीर्तिभंगो न दुघटः**

इन उल्लेखों से वादीभसिंह एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् ज्ञात होते हैं उनकी स्याद्वाद सिद्धि उनके दार्शनिक होने की पुष्टि कराती है। पर आदिपुराणकार ने उन्हें कवि और वाग्मि भी बतलाया है।

मल्लिषेण प्रशस्ति में मुनि पुष्पसेन को अकलंक का सधर्मा गुरुभाई लिखा है और इसी में वादीभसिंह उपाधि से युक्त एक आचार्य अजितसेन का भी उल्लेख किया है।

गद्यचिन्तामणि के अन्तिम दो पद्यों से स्पष्ट है कि उनका नाम ओडयदेव था और वे वादीरूपी हाथियों को जीतने के लिए सिंह के समान थे। उनके द्वारा रचा गया गद्यचिन्तामणि ग्रन्थ सभा का भूषण स्वरूप था। ओडयदेव वादीभसिंह पद के धारी थे।

वादीभसिंह का समय व जन्मस्थान :

यद्यपि वादीभसिंह के जन्मस्थान का कोई उल्लेख नहीं मिलता तथापि आपके ओडयदेव नाम से भुजबल शास्त्री ने अनुमान लगाया कि आप मद्रास प्रान्त के अन्तर्गत तमिल प्रदेश निवासी हैं तथा बी. शेषगिरि राव एम. ए. ने कलिंग तेलुगू के गंजाम जिले के आसपास का निवासी होना बतलाया है। गंजाम जिला मद्रास के एकदम उत्तर में और अब उड़ीसा में जोड़ दिया गया है। वहाँ राज्य के सरदारों की ओडय और गोडय नाम की दो जातियाँ हैं जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध भी हैं अतएव उनकी समझ में वादीभसिंह जन्म से ओडय या उड़िया सरदार रहे होंगे।

पं. के. भुजबल शास्त्री के अनुसार- यद्यपि इनका जन्म तमिल इनके जीवन का बहुभाग मैसूर प्रांत में व्यतीत हुआ था और वर्तमान मैसूरप्रान्त पोम्बुच्च ही आपके प्रचार का केन्द्र था। इसके लिए पोम्बुच्च एवं मैसूर राज्य के विभिन्न स्थानों में उपलब्ध आपसे सम्बन्ध रखनेवाले शिलालेख ही ज्वलन्त साक्षी हैं।

वादीभसिंह का समय :

वादीभसिंह ने गद्य चिन्तामणि की पूर्वपीठिका में पुष्पसेन को अपना गुरु घोषित किया।

श्री पुष्पसेन मुनिरेव पदं महिम्नो
देवःसमस्य समभूत्य महान सधर्मा
श्री विभ्रमस्य भवनं ननु पदमेव
पुष्पेषु मित्रमिहयस्य सहस्रधर्मा॥

वह पुष्पसेन ही महिमा के स्थान थे जिनके कि वह महान अकलंकदेव सधर्मा गुरुभाई थे निश्चय से पुष्पों में वह कमल ही लक्ष्मी के विलासों का घर होता है। जिसका सूर्य मित्र होता है।

इस श्लोक में पुष्पषेण को अकलंक का सधर्मा गुरुभाई बतलाया गया है। सम्भवतः यह पुष्पषेण मुनि वही हैं जिन्हें गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ में वादीभसिंह ने अपना गुरुभाई बतलाया है।

उसी प्रशस्ति में वादीभसिंह उपाधि के धारक (आचार्य) अजिसेन का उल्लेख मिलता है जो वादीभसिंह ही जान पड़ते हैं।

पुष्पषेण अकलंक के गुरुभाई थे एवं वादीभसिंह उनके शिष्य थे अतः वादीभसिंह का समय (असितत्व) अकलंक के बाद ही सिद्ध होता है।

अन्यमत- वादीभसिंह की गद्य चिन्तामणि जीवन्धर के लिए उनके विद्यागुरु द्वारा जो उपदेश दिया गया वह बाणभट्ट की कादम्बरी शुकनासोपदेश से प्रभावित है। अतएव कहा है जा सकता है कि- वादीभसिंह बाणभट्ट के समकालीन थे। (६१०-६५० ई.)

अकलंकदेव के न्याय विनिश्चयादि ग्रन्थों का भी वादीभसिंह की सिद्धि पर प्रभाव है अतः यह उनके उत्तरवर्ती विद्वान् माने जाते हैं।

क्षत्रचूडामणि :

इसमें भगवान महावीर स्वामी के समकालीन राजा सत्यंधर की विजयरानी के पुत्र जीवंधर कुमार का वृत्त वर्णन है। इनका जीवनवृत्त वर्णन अनेक घटनाओं से भरा पड़ा है। तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का फल प्रदर्शन करने में अद्वितीय है। ग्रन्थ की रचना ग्यारह लम्बों में अनुष्टुप छन्द द्वारा हुई है।

इसकी खास विशेषता यह है कि इसके प्रत्येक पद्य के पूर्वार्द्ध में कथा का वर्णन कर कवि उत्तरार्द्ध में अर्थान्तरन्यास द्वारा नीति का वर्णन करता चलता है।

इस शैली से लिखा हुआ यह नीति का ग्रन्थ समग्र संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। कौआ, चूहा, मृग आदि की काल्पनिक कहानियों के द्वारा बालकों में नीति की भावना भरने वाले पंचतंत्र आदि ग्रन्थ जहाँ बालकों तक ही सीमित रह जाते हैं। वहाँ सत्य घटना के द्वारा नीति की भावना उत्पन्न करने वाला यह ग्रन्थ अबालवृद्धि सबके लिए उपयोगी बन पड़ा है।

कुप्पूस्वामी प्रथम पुरस्कर्ता के शब्दों में :

अस्य काव्यपथे पदानां लालित्य श्राव्यः शब्दः संनिवेश निरर्गला वाग्वैखरी सुगमाः कथासारावागमश्चित्तविस्मापिकाः कल्पनाश्चेत प्रसाद जनकोधर्मोपदेशःधर्माविरूद्धानीतियो दुष्कर्मणो विषमफलावाप्तिरिति विलसन्ति विशिष्टगुणाः

अर्थात् इनके काव्य पथ में पदों की सुन्दरता श्रवणीय शब्दों की रचना अप्रतिहित वाणी सरलकथासार चित्त को करने वाला धर्मोपदेश धर्म से अविरूद्ध नीतियों और दुष्कर्म के फल की प्राप्ति आदि विशिष्ट गुण सुशोभित है।

श्लेष उपमा रूपक उत्प्रेक्षा परिसंख्या विरोधावास तथा उल्लेख आदि अलंकारों के कारण काव्य अत्यन्त सुन्दर हो गया है पद्य काव्य में कवि ने अपनी वर्णनीय वस्तुओं को इस सुन्दर क्रम से आह्लादित करने वाली हो जाती है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्राची से सूर्य उदय हो रहा है आकाश में रात्रि के समय असंख्य तारों का समूह और उज्ज्वल चन्द्रमा चमक रहा है कल-कल करती हुई नदियां बह रही हैं। वन के हरे-भरे मैदानों में हरिणों के झुण्ड चौकड़ियाँ भर रहे हैं। मकानों के छज्जों पर बैठे कबूतरों को पकड़ने की घात में बिल्ली दुबककर बैठी हुई है। पूँछ हिलाता और लीद करता हुआ एक घोड़ा हिन-हिना रहा है। और बिजली की कौंध से बच्चे तथा स्त्रियाँ भयभीत हो रही हैं। उन सब दृश्यों में आह्लाद कहाँ ? दर्शक के हृदय में रस कहाँ उत्पन्न होता है। किन्तु यही सब वस्तुएँ जब किसी कवि की लेखनी रूपी तूलिका से सजाकर रख दी जाती है। तो काव्य बन जाती है और श्रोताओं के हृदय आनंद से भर जाता है। कवि जहाँ स्त्री-पुरुषों का नख शिख वर्णन करता हुआ उनके बाह्य सौन्दर्य का वर्णन करता है वहाँ उनकी आभ्यन्तर पवित्रता का वर्णन भी करता चलता है। राजा सत्यंधर का पतन उनकी विषया शक्ति का परिणाम है यह बतलाकर भी कवि उनकी श्रद्धा और धार्मिकता के विवेक की अन्त तक जाग्रत रखता है युद्ध के मैदान में भी वह सल्लेखना धारण कर स्वर्ग प्राप्त करता है।

३. वादीभसिंह की स्याद्वाद सिद्धि के छोटे प्रकरण के १९वीं कारिका में भट्ट और प्रभाकर का नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना नियोग रूप वेदवाक्यार्थ का निर्देश किया गया है। तथा कुमारिल भट्ट के मीमांसा श्लोकवार्तिक से कई कारिकाएँ उद्धृतकर उनकी आलोचना की गई है।

बाध का परिहार- गद्यचिंतामणि और क्षत्रवूडामणि में जो जीवन्धर चरित निबंध है वह गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण से लिया गया है और उत्तरपुराण की रचना शताब्दी ७७० ई. ८४८ ई. के लगभग हुई है। वादीभसिंह गुणभद्राचार्य से परवर्ती हैं।

बल्लभ कवि ने भोजप्रबन्ध में उल्लेख किया है कि एक बार किसी ने कालिदास के सामने धारानरेश भोज की झूठी मृत्यु का समाचार सुनाया जिसे सुनकर कालिदास ने कहा-

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती

पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते।।^९

इसी श्लोक की झलक लेकर वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि काष्ठांगार द्वारा हस्तिताडन (हाथी को सताने) के अपराध में जीवन्धर स्वामी को प्राणदण्ड घोषित किये जाने पर और श्मशान से सुदर्शन यक्ष द्वारा उनके गुप्त रूप से स्थानांतरित किये जाने पर पुरवासियों की चर्चा रूप में इस श्लोक को गद्य रूप में लिखा-

अद्य निराश्रयाः श्री निराधरा धरा निरालम्बा सरस्वती निष्ठुफलं लोकलोचन विधानम निःसंसार संसारः नीरसारसिकता निरास्पदा वीरता इति मिथः प्रवर्तयति प्रणयोदगारिणीम वाणिम -

इससे सिद्ध होता है कि वादीभसिंह भोज के परवर्ती है और धारानरेश भोज का समय १०१०से १०५० ई. निश्चित है।

३. सोमदेवसूरी ने सोमदेव कृत यशस्तिलकचम्पू (अश्वास-२ श्लोक १२६) की अपनी टीका में वादीराज कवि का एक श्लोक उद्धृत किया है तो वादीभसिंह और वादिराज को गुरुभाई तथा सोमदेव का शिष्य बतलाया गया है।

कर्मणा कवलितोऽजनि सोऽजा तत्पुरान्तरजनड.गमवारेकर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किं किमेत्यशुभधाम न जीवः स्वागतेतिसभादगुरुयुग्मम इति वचनात् स्वागता छन्द इदं सः वादिराजोऽजोपि श्रीसोमदेवचार्यस्य शिष्यः वादीभसिंहोऽपिमदीय शिष्यः इत्युक्त्वात्^{१०}

इससे सिद्ध होता है कि वादीभसिंह सोमदेव से परवर्ती हैं सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू की रचना शताब्दी ८८१ (ई.९५९) में की है और वादिराज ने अपना पार्श्वचरित शक्राब्द ९४७ (ई.१०२५) में समाप्त किया।

इनके अतिरिक्त पं. के. भुजबल शास्त्री ने जैन सिद्धांत भास्कर भाग-६ किरण २ में प्रकाशित 'क्या वादीभसिंह अकलंक देव के समकालीन हैं।' शीर्षक लेख में उद्धृतकर उनमें उल्लिखित अजितसेन पण्डितदेव वादिधरद्वि अजितमुनिपति अजितसेन भट्टारक और मुनि अजितसेन देव को गद्यचिन्तामणिकार वादीभसिंह सूरी स्वीकृतकर उन्हें ग्यारहवीं शताब्दी का विद्वान प्रकट किया है।

क्षत्रचूडामणि पर अन्य कवियों का प्रभाव :

गद्यचिंतामणि तथा क्षत्रचूडामणि को देखने से लगता है कि काव्य के विषय में इन पर पूर्ववर्ती कालीदास बाण सुबुन्धु दण्डी आदि का प्रभाव है तो धर्म और दर्शन में समन्तभद्र पूज्यपाद, शिवार्य और अकलंक का प्रभाव परिलक्षित है।

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि। स पितपितरस्तासां केवलं जन्म हेतवः
सुख दुःखे प्रजाधीने तदाभूता प्रजापतेः। प्रजानां जन्म वर्ग हि सर्वत्र पितरो नृपाः।

क्षत्र. लम्ब ११ श्लोक ४

रात्रिदिवभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम्। तत्सिषेषे नियोगेन स विकल्पपराङ्
गमुखः।

रघुवंश सर्ग १७ श्लोक ४९

रात्रिदिवभागेषु नियतो नियति व्याधात्। कालातिपातमात्रेण कर्तव्यं हि विनश्यति।

क्षत्र. लम्ब ११ श्लोक ७

स वेलावप्रवल्यां परिखीकृतसागरम अनन्यशासनामुर्वी शशासैकमहीमिव

रघुवंश सर्ग १ श्लोक ३०

प्रबुद्धेषस्मिन् भुवं कृत्सनां रक्षत्यकेपुरीमिवराजवंती च भूरासीदन्वर्थ रत्नसूरपि।

क्षत्र.लम्ब ११ श्लोक ९

इन्द्रियाणामसन्तोषं यः कश्चित् सेवते स्त्रियम्

सः करोति पशोः कर्म नर रूपस्य मोहनम् ॥१६॥

जो पुरुष इन्द्रियों को सन्तुष्ट न कर काम सेवन करता है वह उसकी पाशविक क्रीडा समझनी चाहिए। स्व स्त्रीभोग भी समयानुकूल होना चाहिए।

नीतिवाक्यामृतम्- (२)

विषयासक्त चित्तानां गुणाः को वा न नश्यति

न वैदुश्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक

पंचेन्द्रियों के विषयों में आसक्त मनुष्य का कौन सा सदगुण नष्ट नहीं होता अर्थात् उनके सभी सदगुण नष्ट हो जाते हैं विषयों की आसक्ति और सदगुणों में परस्पर सदा से ही बैर रहा है। अतः विषयासक्त मनुष्य में विद्वता, मानवता, कुलीनता, सत्यनिष्ठा विवेक आदि कोई भी गुण नहीं रहता है।

क्षत्र. लम्ब १ श्लोक १०

कामासक्त चित्तानां गुणाः को वा न नश्यति

न वैदुश्यं न पाण्डित्यं नाभिजातित्व शुद्धि भाक॥

अर्थात् कामपीडित मनुष्य के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। उसकी विद्वृता, पाण्डित्य, श्रेष्ठ जाति व महानता गौरव आदि मलिन हो जाते हैं। कामासक्त अपने किस गुण की रक्षा करता है। किसी की नहीं वह तो गुणों की ओर से पूर्ण अंधा हो जाता है। - (नीतिवाक्यमर्तिम् श्लोक ११)

अवश्यं मातारश्चिरतमुषित्वापि विषया

वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून

ब्रजन्तः स्वातन्त्रयादतुल परितापाय मनसः

स्वयं व्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विद्धाति॥

वैराग्यशतक श्लोक १२

विषयाशाभिभूतस्य विक्रियन्तेक्षदन्तिनः

पुनस्तः एव दृश्यन्ते क्रोधादिगहनं श्रिताः

जो पुरुष इन्द्रियों के विषयों की आशा से पीडित हैं उनके इन्द्रिय रूपी हस्ती विकारता को प्राप्त हो जाते हैं। फिर वे ही पुरुष क्रोधादिक कषायों की गहनता के आश्रित हुए देखे जाते हैं। (ज्ञानार्णव)

जह मज्जं पिवमाणो अददिभावेण मज्जतिद णा पुरिसो

दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव (गाथा- १९६)

ज्ञान और वीतरागता का ऐसा अद्भुत बल है कि इन्द्रियों से विषयों का सेवन करने पर भी उनका सेवन करने वाला नहीं कहा जाता है। क्योंकि विषय सेवन का निजफल संसार व संसार भ्रमण है। लेकिन ज्ञानी वैरागी के मिथ्यात्व का अभाव होने से संसार का भ्रमण रूप फल नहीं होता है।

तीन पुरुषार्थों के सेवन की विधि में आचार्य वादीभसिंहसूरी ने अन्य आचार्यों की भाँति ही विवेचन किया है। एवं उन्होंने त्रिवर्ग धर्म, अर्थ और काम के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है-

परस्परविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते

अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात्

यदि धर्म, अर्थ, काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर की बाधा रहित सेवन किये जाए तो इससे उन्हें बिना रूकावट स्वर्ग मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त होती है। अर्थात् स्वर्ग तो मिलता ही है क्रमशः मोक्ष भी प्राप्त होता है।

नारद मुनि के अनुसार :

प्रहरं त्रिभागं च प्रथमं धर्ममाचरेत्

द्वितीयं तु ततो वित्तं तृतीयं कामसेवने

मनुष्य को दिन के तीन भाग करके पहले विभाग को धर्मानुष्ठान में और दूसरे को धन कमाने में एवं तीसरे को कामसेवन में उपयोग करना चाहिए।

बृहस्पति- जिनकी चित्तवृत्तियाँ धार्मिक अनुष्ठानों में सदा लगी रहती हैं वे काम से तथा अर्थ से विशेष विरक्त रहते हैं। क्योंकि धन संचय करने में पाप लगता है।

वैराग्य भक्तिभर निर्जित कामिताय

प्रेयान् भविष्यति कथं विषयांपभोगः

मृष्टान्नभोजनभर क्षपितक्षुधाय

रूच्यो भविष्यति कथं मधुरोष्यपूपः

वैराग्य एवं भक्ति से परिपूर्ण तथा सभी प्रकार की कामनाओं को जीत लेने वाले व्यक्ति को स्रक चंदन वनिता आदि विठ्ठायों का उपयोग कैसे प्रिय हो सकता है अर्थात् कदापि नहीं। (सूक्तिमुक्तावलि, श्लोक ३२)

क्षत्रचूडामणि में विरचित कथा का संक्षिप्त सार :

क्षत्रचूडामणि कृत आचार्य वादीभसिंह सूरि कृत एक सरल भाषा में रचित काव्य शैली में लिखी गई एक ऐसी नीतिपरक साहित्यिक रचना है, जिसके प्रत्येक श्लोक में कथानक के साथ-साथ पाठकों को कुछ न कुछ राजनैतिक धार्मिक और सदाचार प्रेरक संदेश भी दिया गया है। इस कृति के कथानक तद्भव मोक्षगामी महाराजा जीवनधर कुमार हैं। इस कारण इसका अपर नाम जीवन्धर चरित भी है। इसमें पाठकों को दिये गये संदेश सामाजिक सटीक और सोदाहरण होने से अत्यन्त प्रभावी हो गये हैं।

कथानक की कथा प्रमुख रूप से चौदह लम्बों में विभक्त की गई है। जिसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हेमांगदा नामका देश है इस नगर का राजा सत्यन्धर है। उसकी दूसरी विजयलक्ष्मी के समान विजया नामक रानी है राजा सत्यन्धर का काष्ठांगारक नामका मंत्री था।

एक बार रानी दो स्वप्न देखे पहला स्वप्न था कि राजा सत्यन्धर ने मेरे लिए आठ घण्टाओं से युक्त मुकुट दिया है और दूसरा स्वप्न था कि वह जिस

अशोक वृक्ष के नीचे बैठी है उसे किसी ने कुल्हाड़ी से कौल दिया है। और उसके स्थान पर एक छोटा सा अशोक का वृक्ष उत्पन्न हो गया है। प्रातः काल होते ही रानी ने राजा से स्वप्नों को फल पूछा। राजा ने कहा कि तू मेरे मरने के बाद तू शीघ्र ही ऐसा पुत्र प्राप्त करेगी जो आठ लाभों को पाकर पृथ्वी का भोक्ता बनेगा। स्वप्नों का फल जानकर रानी का चित्त हर्ष से भर गया। तभी उसी समय राजपुर नगर में गन्धोत्कट नामक सेठ द्वारा शीलगुप्त मुनि से पूछने पर कि क्या उसे पुत्र की प्राप्ति होगी तभी मुनि ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा कि तुम एक दीर्घायु पुत्र को प्राप्त करोगे पूछने पर कि किस तरह तब मुनिराज ने कहा कि तुम्हारे एक मृत पुत्र का जन्म होने पर जब तुम उसे छोड़ने जंगल में जाओगे तो वहाँ पर किसी पुण्यात्मा पुत्र को प्राप्त करोगे। वह पुत्र ही समस्त पृथ्वी का उपभोक्ता होकर अन्त में मोक्ष को प्राप्त करेगा।

इधर राजा सत्यंधर के मंत्री काष्ठांगारिक मंत्री ने राजा को मारने की योजना बनाई और कुछ राजाओं को अपने साथ लेकर युद्ध किया तथा अपने पुत्र की सहायता से उसने राजा सत्यंधर को मारकर स्वयं राजा बन बैठा।

इधर विजया रानी शोक में डूबी हुई गरुण यंत्र द्वारा श्मशान में पहुँचकर एक बालक को जन्म दिया।

इधर गन्धोत्कट सेठ अपने मृत पुत्र को जंगल में छोड़कर और दीर्घायु पुत्र की खोज करने लगा तभी उसे छोटे बालक के रोने की आवाज सुनाई दी। सेठ जीव-जीव कहते हुए उसी दिशा की ओर बढ़ गया विजया रानी ने सेठ को आवाज के माध्यम से पहचान लिया और उसे अपना परिचय देते हुए कहा कि तू मेरे इस पुत्र का इस तरह से पालन करना जिससे किसी को पता न चल सके। मैं ऐसा ही करूँगा कहकर सेठ पुत्र को घर ले आया और अपनी पत्नी को डाँटते हुए कहा कि तूने एक जीवित पुत्र को जन्म दिया है न कि मरे हुए पुत्र को सेठ की पत्नी सुनन्दा उस पुत्र को प्राप्त कर अत्यन्त आनंदित हुई और उसका जन्म संस्कार कर उसका नाम 'जीवक' अथवा जीवन्धर रखा।

इस प्रकार धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होते जीवन्धर कुमार ने अपने भाईयों के साथ धृतषेण के पिता तपस्वी के मार्गदर्शन में सभी विद्याओं को सीख लिया। तभी कालकूट नामक भील से काष्ठांगारिक की गायों को छुड़ाकर लाने वाले जीवन्धर ने काष्ठांगारिक की पुत्री से अपने छोटे भाई नन्दादय का विवाह करवाया।

बहुत समय बीतने के पश्चात् गरुणवेग ने अपनी गन्धर्वदत्ता को जिनदत्त के साथ उसके नगर भेज दिया। इधर जिनदत्त ने अपने मनोहर नामक उद्यान में वीणा स्वयंवर रखा और जीवन्धर कुमार ने उसे सुघोषा नामक वीणा को इस तरह बजाया कि गन्धर्वदत्ता अपने आप को पराजित समझने लगी और उसने जीवन्धर कुमार के गले में वरमाला डाल दी। एक बार बसन्तोत्सव में लीन नगर लोगों के मध्य कुछ बालकों ने चपलतावश एक कुत्ते को मारना प्रारम्भ कर दिया व्याकुल होकर कुत्ता इधर-उधर भागने लगा और जाकर एक आग के कुण्ड में जा गिरा। तभी जीवनधर कुमार ने उसे निकालकर पंच नमस्कार मंत्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह चन्द्रोदय पर्वत पर सुदर्शन नामक यक्ष हुआ तथा जीवन्धर कुमार की स्तुतिकर सुख व दुःख में उसे स्मरण करने की बात कहकर चला गया। जब सब लोग क्रीडा कर वन से लौट रहे थे तब काष्ठांगारिक के अशनिघोष नामक हाथी ने कुपित होकर जनता में आतंक उत्पन्न कर दिया। सुरमंजरी उसकी चपेट में आने वाली ही थी कि जीवन्धर कुमार ने समय पर पहुँचकर हाथी को मद रहित कर दिया। इस घटना से सुरमंजरीका का जीवन्धर के प्रति अनुराग बढ़ गया और उसके माता-पिता ने जीवन्धर के साथ सुरमंजरी का विवाह कर दिया। जीवन्धर कुमार का यश चारों ओर फैलने लगा इससे काष्ठांगारिक को ईर्ष्या होने लगी तथा इसने मेरे हाथी को हानि पहुँचाई ऐसा विचार कर उसने अपने चण्डदण्ड नामक मुख्य रक्षक को जीवनधर कुमार पर आक्रमण कर उसे मारने भेजा। किन्तु पहले से सावधान जीवनधर कुमार ने चण्डदण्ड को पराजित कर दिया। इससे कुपित होकर काष्ठांगारिक के पुनः युद्ध करने पर जीवन्धर कुमार ने सुदर्शन नामक यक्ष का स्मरण किया उसने सब युद्ध समाप्त कर दिया और जीवन्धर कुमार को अपने साथ ले गया।

कुछ समय पश्चात् जीवन्धर कुमार चन्द्रानगर पहुँचकर और वहाँ सर्पदंश से पीडित पद्मोत्तमा के विष को दूर किया तभी पद्मोत्तमा के पिता धनपति ने अपना आधा राज्य व कन्या जीवन्धर कुमार को सौंप दी। जीवन्धर कुमार कुछ समय यहाँ सुखपूर्वक रहे तत्पश्चात् क्षेमनगर की क्षेमसुन्दरी तथा हेमाभनगर की हेमाभा आदि कन्याओं के साथ विवाह करते हुए धातकी खण्ड के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नामक देश के पुण्डरीक नामक नगर में पहुँचकर सरोवर के किनारे एक निमित्तज्ञानी मुनिराज से अपने जीवन की

घटना एवं पूर्व भवों को सुना। कुछ समय पश्चात् हेमाभनगर में जीवन्धर कुमार का अपने मित्रों के साथ मिलन हुआ।

जीवन्धर कुमार के मित्रों ने जीवन्धर कुमार को उनकी माता गन्धर्वदत्ता से मिलाया इसी समय सुदर्शन यक्ष (जिसको णमोकार मंत्र सुनाया था) ने बड़ा उत्सव किया। माता गन्धर्वदत्ता ने जीवन्धर कुमार को आशीर्वाद देते हुए कहा कि बेटा काष्ठांगारिक ने तेरे पिता को मारकर तेरा राज्य छीन लिया है तू उसे अवश्य प्राप्त कर। इस प्रकार जीवन्धर कुमार माता को सांत्वना देकर राजपुर नगर वापिस आ गये कुछ दिन राजपुर नगर में अज्ञातवास व्यतीत कर विजयागिरि नामक हाथी पर बैठकर गन्धोत्कट के घर प्रवेश किया।

इसी समय राजा गोपेन्द्र ने अपनी कन्या का स्वयंवर रचा और जीवन्धर कुमार ने चन्दकवेध का वेध दिया इससे काष्ठांगारिक कुपित हो गया तथा जीवन्धर कुमार पर आक्रमण की तैयारी करने लगा। इधर जीवन्धर कुमार ने सभी सामंतों के पास पत्र भेजकर अपना परिचय दिया तथा सभी सामंतों को अपनी ओर करके काष्ठांगारिक को मारकर अपना राज्य प्राप्त कर लिया और माता विजया तथा आठों रानियाँ सुख पूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगीं।

एक बार जीवन्धर कुमार ने सुरमलय नामक उद्यान में वरधर्म नामक मुनिराज से धर्म का स्वरूप सुना और व्रत लेकर सम्यग्दर्शन को निर्मल किया। नन्दाद्वय आदि भाईयों ने भी यथा संभव व्रत ग्रहण किये। तदनन्तर अशोक वन में दो बन्दरों को लड़ते हुए देखकर संसार से विरक्त हो गये वहीं इन्होंने प्रशान्तवंक नामक मुनिराज से अपने पूर्वभव सुने और उसी समय सुरमलय नामक उद्यान में भगवान महावीर का समवसरण आया है ऐसा जानकर वैभव के साथ वहाँ गये और गन्धर्वदत्ता के पुत्र वसुन्धर कुमार को राज्य दे नन्दाद्वय आदि के साथ दीक्षा धारण कर ली महादेवी विजया एवं गन्धर्वदत्ता आदि रानियों ने भी चन्द्रना आर्थिका के पास दीक्षा ले ली।

सन्दर्भ :

१. गद्यचिन्तामणि आचार्य वादीभसिंह भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पृष्ठ १४

२

३. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली १४

४. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली १८

५. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली

६. गद्यचिंतामणि प्रस्तावना	„	„	२६
७. भोजप्रबन्ध	„	„	१९
८. „	„	„	१६
९. गद्यचिंतामणि	„	„	१३१

१०. रघुवंश सर्ग -१७ श्लोक -२४
११. क्षत्रचूडामणि लम्ब ११ श्लोक ४
- १२ रघुवंश सर्ग १७ श्लोक ४९
१३. क्षत्रचूडामणि लम्ब ११श्लोक ७
१४. रघुवंश सर्ग १ श्लोक ३०
१५. क्षत्रचूडामणि लम्ब ११ श्लोक ९
१६. नीतिवाक्यामर्तिम् श्लोक २?
१७. क्षत्रचूडामणि प्रस्तावना ८ पण्डित टोडरमल स्मारक भवन जयपुर
१८. वैराग्यशतक श्लोक १२
१९. ज्ञानार्णव शुभचंद्राचार्य श्री परमश्रुत प्रभावना ट्रस्ट जयपुर
२०. “ “
२१. नीतिवाक्यामृतम् पृ. ५० विजयाग्रन्थ प्रकाशन समिति।
२२. „ „ ७१
२३. „ „

संस्कृत सूक्ति साहित्य में क्षत्रचूडामणि का स्थान व मूल्यांकन :

सूक्ति- सूक्तियाँ साहित्य गगन में दैदीप्यमान उज्ज्वल नक्षत्र के समान है इनकी आभा देश और काल की संकुचित सीमा पार करके सर्वदा एक समान क्षेत्रों में सहस्रों वर्षों की अनुभूतियों ने इनको अमरता प्रदान की है और करोड़ों कण्ठों से निकलने के कारण इनमें माधुर्य और कोमलता का यथेष्ट परिपाक हुआ है। ये सूक्तियाँ। यदि न हों तो साहित्य में रस की कोई स्थिति ही न रहे और कविता, कहानी, उपन्यास निबन्ध और वक्तृता की कला विकल हो जाए। दस बीस वाक्यों को ही नही पूरे पृष्ठ एवं सन्दर्भ को सजीव बनाने की इनमें अद्भुत क्षमता होती है। और वक्तृत्व कला को चमकाने में तो ये अपनी अद्वितीय स्थिति रखती है बहुधा लेखकों कवियों एवं साहित्यकारों के समान ही इनकी आवश्यकता सामाजिक कार्य करने वालों को एवं राजनीतिज्ञों को

हुआ करती है तथा महापुरुषों उपदेशकों एवं कथावाचकों के समान ही गृहस्थी के विभिन्न झंझट में रहने वाले लोगों को भी इनकी आवश्यकता पड़ती है। मानव जीवन का ऐसा कोई भी कोना नहीं बचा जिस पर अमर सूक्तियों के कण अमृत के समान शीतलता एवं प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति न देखते हो और संसार की ऐसी कोई जटिल समस्या नहीं जिसको बात की बात में सुलझाने की सूझ इनसे न मिलती हो अनेक प्राचीन साहित्यकारों के सम्बन्ध में ऐसी अनेक किवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं कि उनकी किसी एक सूक्ति से ही बड़े-बड़े अनर्थ एवं दुर्घटनाएँ रूक गई हैं और निविड़ (घने) अंधकार में भी पथ का प्रदर्शन हुआ है। यही नहीं केवल एक सूक्ति को ही लाखों सुवर्ण मुद्राओं में क्रय करने की मनोहर किवदन्तियाँ भी पायी जाती हैं और उनके द्वारा क्रय करने वाले का सर्वविध कल्याण भी सुना जाता है। तात्पर्य यह है कि ये सूक्तियाँ अमूल्य रत्न हैं और इनकी आवश्यकता प्रत्येक सहृदय को सर्वदा पड़ा करती है।

सूक्तियों में शिक्षा एवं सदुपदेश की जितनी अमोघ शक्ति रहती है उतनी ही आत्म मंथन एवं अनुभूतियों को झंकृत करने की भी इनमें क्षमता होती है। सदग्रन्थों में सैकड़ों पृष्ठ अथवा किसी सदुपदेशक के घंटे दो के मनोहर व्याख्यान भी उतना प्रभाव नहीं डालते जितना गम्भीर प्रभाव किसी एक सूक्ति का हमारे हृदय पर पड़ता है।

इसका कारण यह है कि सूक्तियों का प्रभाव सीधे हृदय पर पड़ता है।

- राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान,
जयपुर परिसर, जयपुर (राजस्थान)

मथुरा के पुरातत्त्व में जैन प्रतीकों का अंकन

- डॉ. संगीता सिंह

धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से प्रारंभ से ही मथुरा नगरी का प्रमुख स्थान रहा है। श्रीकृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण मथुरा को भारत की हृदयस्थली के रूप में स्वीकार किया गया है। भागवत, बौद्ध एवं जैनधर्म की गतिविधियों का मथुरा प्रमुख केन्द्र रहा है।

मथुरा तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र, जिसे 'ब्रज' कहा जाता है, प्राचीनकाल में 'शूरसेन' जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। इसकी राजधानी मथुरा थी। 'मनुस्मृति' में शूरसेन जनपद 'ब्रह्मर्षि देश' के अंतर्गत बताया गया है।^१ पुराणों में उल्लेख है कि शत्रुघ्न ने राजा लवण को मार करके मथुरा नामक पुरी को बसाया था। प्राचीन ग्रंथों में जैसे- ब्राह्मण, बौद्ध, जैन एवं यूनानी साहित्य में इस जनपद का नाम शूरसेन अनेकशः मिलता है। प्राचीन ग्रंथों में मेथोरा^२, मुदरा^३, मत-औ-लो^४, मो-तु-लो^५ तथा शौरीपुर^६ नामों का उल्लेख मिलता है। इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि शूरसेन जनपद की संज्ञा ई. सन् के आरम्भ तक प्रचलित रही।^७ तथा शक- कुषाण शासकों के प्रभुत्व के साथ ही इस जनपद की संज्ञा राजधानी के नाम पर 'मथुरा' हो गई।

मथुरा का प्राचीन नाम 'मधुरा' एवं 'मधुपुरी'^८ मिलता है। यादव-प्रकाश के 'वैजयन्ती कोष'^९ में मथुरा के दो नाम 'मधुषिका' एवं 'मधूपहन' प्राप्त होता है। 'अभिधानचिन्तामणि'^{१०} में 'मधूपहना' नाम प्राप्त होता है। एक जैन^{११} ग्रंथ में 'महुरा' नाम आया है। प्राचीन अभिलेखों में 'मथुरा' तथा 'मथुला' नाम आया है।^{१२} इस क्षेत्र की मुख्य नदी यमुना है। इसके प्राचीन नाम 'कालिन्दी' 'सूर्यतनया' एवं 'भानुजा' आदि प्राप्त होते हैं।^{१३} प्राचीनकाल में यमुना नदी मथुरा के निकट से बहती थी, आज भी यही स्थिति है। प्लिनी^{१४} ने यमुना को 'जोमेनस' कहा है जो 'मेथोरा' एवं 'क्लासीवोरा' के मध्य बहती थी।

कनिंघम^{१७}, ग्राउस^{१८}, फ्यूरर^{१९} आदि पुरातत्त्वविदों ने समय-समय पर उत्खनन कार्य करके मथुरा की पुरासंपदा को प्रकाशित किया। मथुरा के पुरातत्त्व में वैदिक, बौद्ध एवं जैन धर्म से संबन्धित असंख्य कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं जिन्हें देश के अनेक संग्रहालयों में संरक्षित एवं प्रदर्शित किया गया है। मथुरा में प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों में जैन प्रतीकों का प्रारंभ एवं विकास दृष्टिगोचर होता है। जैन प्रतिमाओं के अंकन के पूर्व प्रतीक पूजा का विधान दृष्टव्य होता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रतीक शब्द का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। इसका उल्लेख 'ऋग्वेद' में सर्वप्रथम मिलता है।^{२०} 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रतीक की परिभाषा 'मुखं प्रतीकम्' के रूप में दी गई है।^{२१}

प्रतीक पूजा का प्रारम्भिक स्वरूप बौद्धधर्म में भी मिलता है। बौद्धधर्म की हीनयान विचारधारा में बुद्ध की मानव-मूर्ति का निर्माण करना वर्जित था।^{२२} फलतः बौद्ध अनुयायियों ने भी तथागत के लिए कई प्रतीकों की सर्जना किया। बोधिवृक्ष तथागत की सम्बोधि का, धर्मचक्र उनके प्रथम उपदेश का, स्तूप उनके महापरिनिर्वाण का और त्रिरत्न बुद्ध, धर्म तथा संघ के संगठित स्वरूप का परिचायक बन गया। इनके अतिरिक्त पदचिन्ह, आसन तथा छत्र भी बुद्ध की उपस्थिति के प्रतीक स्वीकार कर लिए गए।^{२३}

जैन धर्मावलम्बियों ने भी तीर्थंकर की मानव-मूर्तियाँ निर्मित करने के पहले उनके प्रतीक स्वरूप का पूजन करना प्रारंभ कर दिया था। जैन धर्म के प्राचीनतम पुरातात्विक अवशेष मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुए हैं जहाँ एक प्राचीन तथा एक कुषाणकालीन स्तूप था। मूर्तियों के निर्माण के पूर्व वहाँ तीर्थंकर की पूजा प्रस्तर के चौकोर शिलापट्टों पर की जाती थीं जिन्हें 'आयागपट्ट' कहा गया है।^{२४}

'आयाग' या 'आर्यक' शब्द से विद्वानों ने 'पूजनीय' अर्थ लिया है। इसीलिए ब्यूह्लर ने इन्हें 'टैबलेट्स' ऑव होमेज आर वर्शिप' कहा था।^{२५} रामायण में भी उल्लिखित 'आयाग' शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'याजनीय देवता' अर्थात् पूजनीय देवता किया है।^{२६} जिस प्रकार नागार्जुनकोण्डा से मिले बौद्ध आयक खम्भ (आर्यक खम्भ) मात्र पूजा के लिए थे,^{२७} उनका कोई वास्तुगत उपयोग न था, उसी प्रकार मथुरा के जैन आयागपट्ट भी स्वतंत्र प्रस्तर फलक थे। इनका उपयोग मात्र अर्हत्-पूजा के लिए किया जाता था,

वस्तुकला से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था, इस तथ्य की पुष्टि लवणशोभिका की पुत्री वसु द्वारा स्थापित एक आयागपट्ट के अभिलेख से हो जाती है जिसमें कहा गया है कि यह आयागपट्ट अर्हत् पूजा के लिए था (अर्हत् पूजाये)।^{१८}

जैन धर्म में प्रतीक पूजा के रूप में चक्र का विशेष स्थान है। धर्म-चक्र का वर्णन जैन ग्रंथ में भी मिलता है।^{१९} प्रथम शती ई.पू. का एक चक्र कंकाली टीले से प्राप्त हुआ है जिनमें दायीं ओर तीन मानवाकृतियाँ अंकित हैं।^{२०} कंकाली टीले से सिंह स्तम्भ शीर्ष शृंगकाल का प्राप्त हुआ है, जिसमें महावीर स्वामी की प्रतीक पूजा का अंकन है।^{२१}

जैनधर्म में त्रिरत्न का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। संपूर्ण जैन सिद्धान्त त्रिरत्न पर आधारित है। त्रिरत्न को सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के माध्यम से व्यक्त किया गया है। कुषाणकालीन एक त्रिरत्न कंकाली टीले से प्राप्त हुआ है जो लाल बलुए पत्थर पर निर्मित है। खिले हुए कमल के समान चक्र बनाया गया है।^{२२} त्रिरत्न प्रतीक में धार्मिकता एवं मांगलिकता का भाव समन्वित रूप से अभिव्यक्त हुआ है। शृंगयुगीन बौद्ध शिल्प में त्रिरत्न के प्रतीक को मूर्ति के समान आसन पर प्रतिष्ठापित किया गया है। पद्मशीर्ष पर आसीन ऐसा ही एक त्रिरत्न बोधगया के एक वेदिका-स्तम्भ पर दृष्टव्य हैं।^{२३}

मथुरा के निकट सोंख नामक टीले की पुरातात्विक उत्खनन से जर्मन पुरातत्वविद् हर्टेल ने प्रथम शती ई.पू. वाली २७वीं पर्त से एक पकी मिट्टी का पंचाङ्गुल की हथेली पर तीन मांगलिक चिन्ह उत्कीर्ण है - बीच में त्रिरत्न और अगल-बगल स्वास्तिक एवं इन्द्रध्वज अंकित हैं।^{२४} इससे यह स्पष्ट होता है कि उनके मूर्त स्वरूप का भी उपयोग किया जाता था। पंचाङ्गुल स्वयंमेव एक प्रतीक माना गया है जिसकी परंपरा आज भी भारतीय लोक जनमानस में प्रचलित है। सोख से ही हर्टेल को एक घड़ा मिला है। कुषाणकालीन इस घड़े की ग्रीवा के नीचे पिटार पर दो प्रतीक स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं - दक्षिणावर्ती स्वास्तिक और अधोमुखी त्रिरत्न या नन्दिपद।^{२५}

आयागपट्टों तथा पद-चिह्नों पर भी त्रिरत्न भी है। कतिपय आयागपट्टों का अभ्यन्तर चार त्रिरत्नों को ऊपर-नीचे तथा दाए-बायें रखकर सजाया गया है।^{२६} कुछ आयागपट्टों पर चार त्रिरत्नों के बीच में तीर्थंकर की प्रतिमा उत्कीर्ण की गई है।^{२७} कुछ अन्य आयागपट्टों के ऊपरी तथा निचले किनारों पर

अष्टमांगलिक प्रतीक उत्कीर्ण हैं जिनमें त्रिरत्न भी सम्मिलित है।^{३८} मथुरा के कुछ आयागपट्टों पर स्तूप का अंकन पाया गया है जिसके तोरण के स्तम्भ शीर्ष त्रिरत्न से सजाए गए हैं।^{३९}

स्वस्तिक मानव जीवन का एक अद्भुत प्रतीक है। जैनधर्म में स्वस्तिक भी एक लोकप्रिय मांगलिक प्रतीक है। यह सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का लांछन भी है। जैन धर्मानुयायी स्वस्तिक को 'सिद्धम्' के समकक्ष पूज्य मानते हैं।^{४०} स्वस्तिक का महत्व वैदिक, जैन एवं बौद्ध तीनों धर्मों में है। स्वस्तिक का अंकन तीर्थंकर एवं भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं के तलुए एवं हथेलियों पर किया गया है। पवित्रता के रूप में स्वस्तिक का महत्व व्यापक है।^{४१} मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त जैन आयागपट्ट पर स्वस्तिक सहित अन्य मंगल प्रतीकों का सर्वोत्कृष्ट अंकन है। एक आयागपट्ट के केन्द्र में एक छोटा वृत्त है, जिसमें जैन तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। चार रखाएँ एक बड़े आकार के स्वस्तिक का निर्माण करती हैं।^{४२} एक अन्य आयागपट्ट के केन्द्र में एक लघु वृत्त है, जिसमें जैन तीर्थंकर प्रतिमा है। उसके चारों ओर एक-एक त्रिरत्न है। इसके एक बड़े वृत्त में गोलाई से लहराती हुई चार रेखाएँ एक बड़े आकार के स्वस्तिक का निर्माण करती हैं, इसीलिए इसे स्वस्तिक पट्ट भी कहते हैं। इन रेखाओं के अंतिम सिरे मछली की आकृति में दो भागों में विभाजित है। उनके बीच से कमल कलिकाएँ निःसृत हो रहीं हैं। इन चौड़ी रेखाओं के मध्य बिन्दुओं का संयोजन कर अलंकरण किया गया है। इसके चारों भुजाओं के रिक्त स्थानों की आपूर्ति पुनः स्वास्तिक, मत्स्ययुगल, श्रीवत्स एवं वर्धमानक्य अभिप्रायों से की गई है। दाहिने किनारे की ओर वामावर्त स्वस्तिक दर्शनीय है। उसकी एक भुजा खण्डित है।^{४३}

मथुरा से एक चक्रपट्ट प्राप्त हुआ है उसके मध्य सोलह आरों वाला चक्र अंकित है। इस आयागपट्ट का ऊपरी बायां भाग खण्डित है। चारों ओर किनारे की गोट अनेक अलंकरण तथा प्रतीक हैं। ऊपर की गोह में दाहिने किनारे की ओर पत्तियों एवं पंखुड़ियों के माध्यम से बना वामावर्त स्वस्तिक है। नीचे की गोट में बायें किनारे की ओर चौड़ी दोहरी रेखाओं से निर्मित वामावर्त स्वस्तिक कलात्मक रूप में दिखाया गया है। उसके अंतिम छोर मछली की आकृति में समाप्त होते हैं। इनके बीच भी अलंकरण है।^{४४}

जैन धर्म में प्रतीक के रूप में श्रीवत्स चिन्ह का विशेष महत्व है। प्राचीन जैन स्तूप के वेदिका स्तम्भों आयागपट्टों तथा तीर्थकरों की प्रतिमाओं पर अंकन प्राप्त होता है।^{४५} तीर्थकरों के वक्ष पर अंकित श्रीवत्स लांछन उनके कैवल्य का प्रतीक है। श्रीवत्स लांछन से युक्त अनेक जिन प्रतिमाएं मथुरा से मिली हैं जो संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं।

बौद्ध धर्म में भी श्रीवत्स को महापुरुषों का प्रमुख लक्षण माना गया है।^{४६} इसी प्रकार खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में भी इसका विशिष्ट प्रयोग किया है। अभिलेख के प्रारंभ में बायीं ओर प्रथम से लेकर पांचवी पंक्तियों की सीध में ऊपर श्रीवत्स और उसके नीचे स्वस्तिक का एक-एक चिन्ह उत्कीर्ण है।^{४७}

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त एक वेदिका स्तम्भ के वृत्त फलक पर श्रीवत्स का अत्यन्त सरल रूप अंकित है। यह आमने-सामने फण उठाये दो सर्पों की आकृति जैसा है।^{४८} एक अन्य आयागपट्ट के केन्द्र में तीर्थकर प्रतिमा है तथा उसके ऊपर-नीचे और दायें-बायें त्रिरत्न के चार प्रतीक हैं। इस आयागपट्ट के बायें तथा दायें किनारे क्रमशः चक्र एवं हस्ति शीर्ष वाले स्तम्भों से सजे हैं, और ऊपर-नीचे के किनारे पर चार-चार मंगल चिन्ह हैं। ऊपर मीन-मिथुन, भद्रासन, श्रीवत्स तथा नंद्यावर्त और नीचे त्रिरत्न, चक्र, पुष्पमाल, पवित्र पुस्तक तथा भद्रकलश हैं।^{४९} एक अन्य आयागपट्ट पर केन्द्र को चार बड़े त्रिरत्नों से सजाया गया है। ऊपरी किनारे पर श्रीवत्स, स्वस्तिक तथा पद्म है। निचले किनारे पर स्वस्तिक, पुष्पपात्र, मीन-मिथुन, कमण्डलु, रत्नपात्र तथा पीठासीन पुस्तक के प्रतीक प्रतिष्ठापित किये गये हैं।^{५०} इस प्रकार आयागपट्टों पर उत्कीर्ण अष्टमांगलिक लांछनों में श्रीवत्स को विशेष स्थान मिला है।

जैनधर्म के दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों आम्नायों में अष्टमंगल का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। जैन पूजा-पद्धति में प्राचीन काल से इनका समावेश रहा है। हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित अष्टमंगल सहित बलिपट्टों की पुष्टि मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन आयागपट्टों से होती है। भद्रनन्दी की पत्नी अचला द्वारा मथुरा में एक आयागपट्ट स्थापित किया। इस पर ऊपर की पंक्ति में चार तथा नीचे आठ प्रतीक उत्कीर्ण हैं।^{५१} नीचे की पंक्ति में दायें से प्रथम कुछ खण्डित है। दूसरा स्वास्तिक तथा तीसरा अधोन्मीलित कमल कलिका है। चौथा मत्स्य-युगल, पांचवां जलपात्र, छठा समर्पित मिष्ठान्न या रत्नराशि,

सातवां शास्त्र सहित स्थापना (भद्रासन) तथा आठवां प्रतीक एक खण्डित त्रिरत्न प्रतीत होता है।⁴²

इस प्रकार निष्कर्षतः मथुरा के पुरातत्त्व में जैन प्रतीकों का महत्वपूर्ण पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त होता है; जो प्रतीक कला को विविध आयाम से जोड़ने का कार्य करता है। प्रतीकों के माध्यम से कला की अभिव्यक्ति मथुरा कला की अनूठी देन है।

संदर्भ :

१. मनुस्मृति, २, १९, सं. गोपालशास्त्री नेने, वाराणसी, १९३५
२. विष्णु पुराण, १/१२/४, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९७३
३. मैक्रिण्डल, एज डिस्क्राइब्ड बाई टालेमी, पृ. ४२, कलकत्ता, १९२७
४. इण्डियन एण्टिक्वेरी, सं. २०, पृ. ३७५
५. लेगो, जेम्स, दि ट्रेवेल्स ऑव फाहयान, पृ. ४२, दिल्ली, १९७२
६. वाटर्स, थामस, आन-युवान च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, भाग-१, पृ. ३०१, दिल्ली-३, १९६१
७. जैकोबी, हरमन, सैक्रेड बुक्स ऑव दि इस्ट, भाग-४५, पृ. ११२
८. मनुस्मृति, २/१८-२०
९. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ६२, पंक्ति १७
१०. वाजपेयी, कृष्णदत्त, भारत के सांस्कृतिक केन्द्र मथुरा, पृ. २
११. हेमचन्द्राचार्य, अभिधानचिंतामणि, पृ. ३९०, सं. हरगोविंददास बेचरदास तथा मुनिजिनविजय, भावनगर, भाग-१, १९९४
१२. इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द २०, पृ. ३७५
१३. ल्यूडर्स लिस्ट, सं. १३४५, पृ. १६५, सं. ९३७, पृ. ९५
१४. वाजपेयी, कृष्णदत्त, पूर्वोक्त, पृ. ३
१५. प्लिनी, नैचुरल हिस्ट्री, भाग-६, पृ. १९, कनिंघम, ए०, दि ऐश्येन्ट ज्योग्राफी ऑव इण्डिया, पृ. ३१५, वाराणसी, १९६३
१६. कनिंघम, पूर्वोक्त
१७. कनिंघम, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, भाग-३, पृ. १३, वाराणसी, १९६३.
१८. ग्राउस, एफ० एस०, मथुरा : डिस्ट्रिक्ट मेमोआर, पृ. ४०, मथुरा, १८८०
१९. फ्यूरेर, ए०, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, नार्थ-वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध, भाग-६, इलाहाबाद, १८९१
२०. ऋग्वेद, ७,३६ चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६६
२१. शतपथ ब्राह्मण; १४,४,३,७, सं. वेबर, लिपजिंग, १९२४

जैन विज्ञान (Jain Vigyan)

(Glimpses of Modern Science in Jainism)

Authors : Jain Sadhvi Dr. Saritaji & Dr. M.B. Modi (Retd. D.R.D.O. Scientist), Book Pages : 375, ISBN: 978-93-83025-008, Publisher : Gurudev Sahitya, Jodhpur (Raj.)

Book Review (By- Prof. M.L.Jain)

Jain religion with sound scientific foundation is 'Cosmic' in nature. Jain Thirthankars have developed basic concepts of Truth, Relativity and Quantum physics to explain the natural phenomena occurring on the Universal Scale. They also developed the concept of liberation or Moksha through the process of biological evolution and Karma Vigyan. All these Scientific principles are being discussed in this book. In my view this is a unique contribution in bringing out salient Features of Jain Science which according to the authors are not different from the discoveries made by great Scientists like Einstein, Neils Bohr, De-Broglie, Peter Higgs and Darwin.

Jain Science has been the subject of research on the national and International scale for quite some time. However these research activities were limited and severely handicapped by the fact that those researches having knowledge of Jain Agams lacked knowledge in Science and science scholars had very little knowledge of Jain Scriptures and canonical literature. The present team of authors is an ideal combination of a Jain Sadhvi

and a reputed scientist, and they together produced a master piece of Jain Science. Old Jain Scripture describe the theories and Principal of Science in the form a short Sutra which need bit of explanation. The "Sutras" are like "Tweets" of modern times and only those who have background knowledge can grasp them in right way. The authors with sound knowledge of Agams and Science have undoubtedly produced one of the finest piece of literature published in rescent times on Jain Science Visa-Vis Modern Science.

The Authors have proved beyond boubt that Jainism is a scientifice religion which is based on the principles of modern science. As illustration between the Jain principles and modern science principles as shown in the following table.

Jain Scientific Principle	Modern Science Concept
(1) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का सिद्धांत	(1) Law of conservation of Mass and Energy.
(2) लोक, अलोक,आकाशास्तिकाय की अवधारणा	(2) Obsevable space (Universe) 4D Empty, Space and Space Gravitation (Higgs Field).
(3) शीत, उष्ण, रुक्ष तथा स्निग्धा गुणों वाला परमाणु	(3) Atom with + Changes and quantum Energy States.
(4) द्रव्यों यका ‘अस्तिकाय’ स्वरुप	(4) Material Quantum Fields.
(5) परमाणु का ‘खण्ड’ तथा प्रदेश स्वरुप	(5) Dual Nature of Matter.
(6) एकेन्द्रिय जीव का पुरुषार्थ द्वारा मनुष्य भव तक क्रम विकास	(6) Darwin's Law of Natural leading to Omniscience.
(7) मनुष्य का पुरुषार्थ द्वारा परमात्मातक क्रमविकास	(7) Spiritual Evolution leading to Omniscience.

The Authors Argue that centuries ago, Bhagvan Mahavir made the first scientific statement about the universe which is

now being accepted by modern science as statement of Albert Einstein. Mahavir said the universe is neither created by God nor it is an illusion. Existence of the universe is an Absolute Truth.

According to Mahavir, the universe is eternal and continuously evolving. Pudagal Parmanu (Atom) and cosmic consciousness are two eternal components of the universe which create the universe according to the natural Law - Upneiva, Vigneiva, Dhruveiva. Modern scientists call this law as the 'Law of conservation of Mass and Energy'. All type of living and nonliving object and substances found in the universe are created in accordance with this conservation law. IN the process of creation and destruction, neither the atom nor the soul is created or destroyed. In other words the universe ins a closed system in with nothing can enter from outside and nothing can go out of it.

The Authors Argue that unlike Buddha Bhagvan Mahavir made scientific statement that "Truth" is 'Absolute' as well as Relative. Absolute Truth is known only to the universal observer. The human beings know truth only relative to Space, Time, Mass and Phase. Hence truth changes according to the frame of reference. About 2500 years later, Einstien came out with similar statement whice made him the greatest scientist of the world but Mahavir remained in oblivion.

The Authors further Argue that like modern scientist Mahavir also believed that the atom is the ultimate particle of matter and beyond matter is pure consciousness or pure energy- "I regard consciousness as fundamental and matter as derivative from consciousness. Everything that we see and talk about as existing postulates existence of Consciousness in the from of 'Awareness' is also fundamental to the universe."

The Authors Claim that Mahavir also developed the first 'Theory of Everything' that describes every particle and force which constitute this universe and provided answer to the question, why I am here? He proposed existence of atomic size space element, Akash Pradesh which is equivalent to what the scientists today call as Plank's Length over which all the forces weak or strong are unified to produce the 'God Particle' or Higg's Boson. According to Jain belief the atom is a particle yet it is equivalent to one Akash Pradesh. Thus atom exhibits dual nature-particle as well as wave like features. The importance of dual nature of matter can be appreciated from the fact that De Broglie, a French scientist was awarded Nobel Prize for rediscovery of this principle in 1935. Spiritually it means Akas Pradesh is the basic space element that constitutes the universe. Space may be 2D or 3D and therefore Pradesh also represents area and volume unit.

Jains believe in Dwaitvad as well as Adwaitvad. Eternal and independent existence of two elements-Atom and Consciousness constitutes Jain Dwaitwad whereas the Astikaya nature of the universe constitutes Jain Advaitwad where both the atom and consciousness have Pradesh form. Dwaitvad also known as duality is the law of nature where one distinguishes between spirituality and materialism.

Regarding consciousness, Mahavir says consciousness has been present from the very beginning of the universe but its emergence needed its eventual development to an appropriate minimum level found in Ekendriya Jeeva. The purpose of the life is to evolve from this first raw level to enlightened state. This evolution is carried over long cyclic path of 'Birth and Death' rather than a straight path. There are fourteen levels of development

and at the last level the Jeeva becomes Godlike. Most great thinkers and masters who have divine matrices reach levels of 9 to 10. Evolution is also considered as one of the greatest discoveries of modern time for which credit is given to Darwin and proponent of evolutionary spiritualism. But mostly people are not aware of Jain contributions.

The authors claim that they have been able to establish conclusively that the Jains had deep understanding of the universe, the conservation laws, quantum and continuous nature of matter and anthropomorphic consciousness. Their research findings reveal that important modern discoveries like Space-Time Continuum, Theory of Relativity, Dual Nature of Matter, Uncertainty Principle, Bohr's Quantum Atom, Unified Field Theory, Atomic Quantum Jumps, Radiation Emission and Selection Rules etc. Find their origin in Mahavir's Teachings.

Reading the book "Jain Science" which is written both in English and Hindi is a literary delight. It is well researched work on Science and Jain Religion. This book is essential and unavoidable for researches in the field of science of spiritualism. The book will especially be useful and fruitful for educated youth, MBA, Doctors, Scientists, Computer Specialists, Business Executives and modern techno rats. The refreshing and logical arguments rational reasoning of the authors prove beyond doubt that religion can be scientific in fact it is noble task to relate the concepts of modern Science to Jain Religion and vice Versa. The book is an authoritative work in Unfolding the Scientific Secrets of Jainism and will go a long way in promoting youth resource in the field of science and Jainism.

Ten scientific principles annunciated by Mahavir and which form the foundation of Jainism are summerised by the author in the form of Appendix A. The authors claim that their conclusions are based on their intensive research on ten Jain Agams listed below. The names of ten prominent scientists are also listed whose contribution in science have great similarity with the Jain contribution.

<i>Ref-Prominent JAIN AGAMS USED IN THIS STUDY</i>	<i>Prominent Scientists Referred</i>
1. भगवती सूत्र 2. उत्तराध्ययन सूत्र 3. स्थानांग सूत्र 4. द्रव्यानुयोग 5. स्थानांग सूत्र 6. पंचास्तिकाय 7. तत्त्वार्थ सूत्र 8. समयसार 9. प्रवचनसार 10. द्रव्यसंग्रह	1. अलबर्ट आइन्स्टाईन 2. मैक्स बार्न 3. निल्स बोहर 4. डी - ब्रोली 5. श्रोडिन्जर 6. पटिर हिग्ज 7. डार्विन 8. विलझेक 9. लेवाझियर 10. डार्विन

Dr. M. B. MODI has explained in great details the ten scientific contributions of Mahavir in his second book 'Vaigyanic Mahavir'.

- Retd. Prof. University of Delhi
Mob. 91-9213985270

प्राकृत के कुछ भाषामूलक पक्ष

(शौरसेनी सामग्री के आधार पर)

- डॉ. वृषभ प्रसाद जैन

इस आलेख में शौरसेनी से सामग्री लेकर प्राकृत भाषा को केन्द्र में रखते हुए कुछ मूलभूत प्रश्नों को उठाने का यत्न किया गया है। उदाहरण के लिए प्राकृत भाषा पर हुए अब तक के कार्यों में क्या प्राकृत भाषा के सभी पक्षों को उद्घाटित किया गया है अथवा नहीं?..... यदि किया गया है तो कहाँ तक? प्राकृत के अब तक लिखे गए व्याकरण क्या द्विभाषिक व्याकरण हैं या एकभाषिक वर्णनात्मक व्याकरण?..... या फिर ऐतिहासिक आदि कुछ और?

आलेख की प्रमुख सीमा यह है कि इसमें यह नहीं समझा जाना चाहिए कि यह आलेख शौरसेनी प्राकृत के विश्लेषण के लिए किसी विशेष भाषा वैज्ञानिक प्रतिमान (मॉडल) को लाकर सामने रखेगा, बल्कि यह समझना चाहिए कि इसमें उन प्रमुख मुद्दों को लाकर सम्मुख रखने का प्रयास किया जाएगा, जो सामान्यतः प्राकृत और विशेषकर शौरसेनी के भाषामूलक अध्ययन के लिए आवश्यक है।

यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं प्राकृत का अध्यापक-अध्येता न होते हुए भी मैंने प्राकृत के कुछ मूल पाठों को, उन पर लिखी गई टीकाओं, टिप्पणियों और व्याकरणों को यहाँ-वहाँ पढ़ा है। स्पष्ट रूप से कह सकता हूँ कि जिस प्रकार की संस्कृत के शिक्षण की हमारे पास रही है और है, उस प्रकार की प्राकृत शिक्षण की परंपरा हम या तो कभी प्रारम्भ नहीं कर सके या फिर उसे जीवित नहीं रख पाए। एक अन्य तथ्य यह भी सीधे सम्मुख ला सकता हूँ कि हमने हमेशा प्राकृतों को संस्कृत की आँखों से, संस्कृत के चश्मे से देखा, हमने कभी भी प्राकृत को प्राकृत की आँख से देखने का प्रयास नहीं किया, यही कारण रहा कि हमारे प्राकृत के प्राचीन वैयाकरणों ने भी प्राकृत के व्याकरण संस्कृत के व्याकरणों के आधार पर रचे/लिखे, इसीलिए विद्वज्जगत में प्राकृत भाषाओं का स्वतंत्र और वैयक्तिक स्वरूप उभर कर सामने नहीं आ

सका, सैद्धान्तिक परिचर्चा में प्राकृत को या तो संस्कृत की ओर देखना पड़ा या संस्कृत के समानान्तर चलना पड़ा या फिर संस्कृत के आश्रित रहना पड़ा। यह उतना बुरा न होता कि यदि प्राकृत वैयाकरणों ने अपने व्याकरण संस्कृत में लिखे होते या फिर व्याकरण के नियमों की भाषा/सूत्रों की भाषा संस्कृत होती पर तब भी प्राकृत संरचनाओं को प्राकृत उदाहरणों के माध्यम से समझाया जा सकता था। कुछ भी हो हमें इस पक्ष पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए और हमें यह योजना बनानी चाहिए कि हम प्राकृत के लिए सम्पूर्ण और वर्णनात्मक व्याकरण तैयार करें। यहाँ एक बात और कह देना आवश्यक समझता हूँ कि मेरे उपर्युक्त कथ्य का मतलब यह नहीं निकलना चाहिए कि मैं यह कह रहा हूँ कि प्राकृत के अध्ययन को संस्कृत से अलग कर दिया जाए बल्कि मन्तव्य यह है कि प्राकृत का अध्ययन-विवेचन स्वतंत्र रूप में विकसित हो, जिस प्रकार संस्कृत का है, जहाँ तुलना की आवश्यकता हो, जहाँ द्विभाषिकता से सम्बन्धित किसी बिन्दु पर चर्चा करना अपेक्षित हो, जहाँ कोई ऐतिहासिक रूप पुनर्गठित करना हो वहाँ अध्ययन के दोनों समुदाय परस्पर एक-दूसरे समुदाय से सहायता लें/करें।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, प्राकृत पर अब तक जितने भी कार्य हुए हैं, उनमें से किसी ने भी प्राकृत की वाक्यात्मक-संरचनाओं की/वाक्यात्मक विशेषताओं की चर्चा नहीं की, जबकि प्राकृत के साहित्य की एक सुदीर्घ परंपरा है। प्राकृत के अधिकांश भाषामूलक कार्यों में उन ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की चर्चा की गई है जो संस्कृत शब्द के प्राकृत रूप को व्युत्पन्न करने के लिए अपेक्षित है, इन ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के लिए नियम भी बनाने का यत्न किया गया है, इसके साथ ही कुछ वर्णन समापिका विभक्ति प्रत्ययों के (Finite Inflectional Endings) संदर्भ में भी मिलता है। प्राकृत भाषा की समग्रता के गठन की (Linguistics Textures) प्राकृतों के वाक्यात्मक गठनों की चर्चा ढूँढे नहीं मिलती जबकि यह स्पष्ट है कि एक भाषा से दूसरी भाषा वाक्यात्मक आधार पर ही भिन्न होती है। इसीलिए यह तर्क दिया जाता है कि यदि दो भिन्न भाषाएँ हैं तो उनकी वाक्यात्मक संरचनाएँ भी भिन्न होंगी। इसीलिए यह आवश्यक है कि हम प्राकृतों के वाक्यात्मक पक्ष पर

ध्यान दें, जिस पर अभी तक किसी भी वैयाकरण ने ध्यान नहीं दिया। मेरी समझ में इसके कुछ कारण हो सकते हैं कि क्यों प्राकृत वैयाकरणों ने अपने व्याकरणों में प्राकृतों के वाक्यात्मक पक्ष पर विवेचन नहीं किया। पहला कारण ये हो सकता है कि वे यह मानकर चलें/या यह पूर्वकल्पित कर लिया कि संस्कृत के वाक्यात्मक साँचों से प्राकृत के वाक्यात्मक में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है और संस्कृत की वाक्य रचना का वर्णन संस्कृत ग्रन्थों में बहुत विशद रूप में किया गया है, इसलिए उनके अनुसार प्राकृत के वाक्यात्मक साँचों की बात करना बहुत आवश्यक नहीं रहा। दूसरा यह कि प्राकृत ग्रहीताओं के लिए प्राकृत वाक्य रचना उनके लिए आधार नहीं रही। तीसरा कारण यह है कि संस्कृत के प्राचीन व्याकरणों की परम्परा की तरह उन्होंने भी अपने व्याकरणों में विश्लेषण की चरम इकाई के रूप में पद को/शब्द को स्वीकारा और इसीलिए अपना विश्लेषण वहीं तक केन्द्रित रखा। चौथा कारण यह भी हो सकता है कि भाषिक विश्लेषण के समय उनसे वाक्यात्मक संरचनाएँ-छूट गई हों। यहाँ मैंने प्राकृत व्याकरणों में व्याकरणों वाक्यात्मक पक्ष के विवेचन न होने के कुछ प्रमुख कारणों की चर्चा की है। इस पर विशद विवेचन पृथक् से एक अलग निबन्ध में किया जा सकता है।

अब एक प्रॉन की चर्चा यहाँ और कर लेता हूँ कि प्राकृत के व्याकरणों को वर्णनात्मक माना जाए या तुलनात्मक ? उन्हें द्विभाषिक माना जाए या एक भाषिक ? उन्हें भाषा शिक्षण का व्याकरण माना जाए या ऐतिहासिक? कुछ लोग कहते हैं कि वे द्विभाषिक और ऐतिहासिक व्याकरण हैं, पर मुझे लगता है कि वे सही राह पर नहीं हैं। कारण कि यह जरूर है कि वहाँ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के रूप समानान्तर मिलते हैं, पर इसका मतलब यह कदापि नहीं लिया जा सकता कि वहाँ भाषिक रूपों कि किसी ऐतिहासिक क्रम को दर्शाया गया है, वहाँ वैयाकरण का लक्ष्य केवल संस्कृत रूपों से प्राकृत के अन्तर को बताना है, इसीलिए वहाँ भाषिक रूपों का विकास क्रम देखने को नहीं मिलता। इसीलिए प्राकृत के व्याकरण द्विभाषिक जरूर हैं पर हैं तुलनात्मक। इस प्रकार यह बात भी स्पष्ट हो गई कि प्राकृत व्याकरण वर्णनात्मक नहीं है, एक भाषिक भी नहीं है और ऐतिहासिक भी नहीं है।

वाक्यात्मक पक्ष को प्राकृत के व्याकरणों में जोड़े जाने के पीछे जो भी कारण रहा हो। यहाँ इस आलेख का लक्ष्य शौरसेनी को केन्द्र में रखकर प्राकृत की भाषिक विशेषताओं की चर्चा करना भी है। चूँकि प्राकृत के कार्यों में वाक्यात्मक पक्ष पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया, इसलिए मैं यहाँ शौरसेनी की कुछ वाक्यात्मक विशेषताओं की चर्चा करूँगा। यहाँ मैं अपनी सीमा बहुत स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि आज उपलब्ध किसी वाक्यात्मक प्रतिमान (मॉडल) के अनुरूप शौरसेनी के वाक्यों के विश्लेषण में प्राप्त होते हैं। ये वाक्यात्मक साँचे मैंने शौरसेनी की समग्र सामग्री के अन्वेषण के आधार पर नहीं निकाले हैं, बल्कि ये साँचे शौरसेनी पाठ के पढ़ते समय हमें कुछ विशेष लगे, इसलिए हमने उन्हें प्रमुख साँचा मान लिया है।

जब हम संस्कृत की साधारण वाक्य-संरचनाओं की प्राकृत की वाक्य संरचनाओं से तुलना करते हुए आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की वाक्य-रचना की ओर देखते हैं तो यह बात बहुत साफ उजागर होती है कि प्राकृत विशेषकर शौरसेनी पाठों में सहायक क्रिया का प्रयोग नहीं होता, संस्कृत में भी सहायक क्रिया की यह बाध्यता नहीं है। जबकि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में सहायक क्रिया का वाक्य रचना में होना अनिवार्य है। इसीलिए यहाँ “घर में किताब” वाक्य स्वीकार्य नहीं है। इसे या तो सहायक क्रिया “है” की या फिर सहायक क्रिया “था” की आवश्यकता है। जबकि इसके ठीक विपरीत शौरसेनी में हमें वाक्य “अरित्तओ दाव अहं” प्राप्त होता है, इसका सीधा-साधा अनुवाद यदि किया जाए तो हमें संरचना प्राप्त होगी “नहीं खाली तब तक मैं” पर यह संरचना हिन्दी समाज को स्वीकार्य नहीं है, यहीं यदि एक सहायक क्रिया “हूँ” जोड़ दी जाए तो यह “नहीं खाली हूँ तब तक मैं- तब तक मैं खाली नहीं हूँ” हिन्दी का एक स्वाभाविक वाक्य हो जायेगा। प्राकृत वाक्य रचना की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि क्रिया पदबंध को संज्ञा पदबंध की विशेषता बतानी है तो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में ऐसा क्रिया पदबंध संज्ञा पदबंध के हमेशा बाद में आता है जैसे वाक्य है “वह राम है” परन्तु प्राकृत के लिए यह अपरिहार्यता नहीं है अर्थात् ऐसी क्रिया पदबंधीय संरचना संज्ञा पदबंध के पहले भी आ सकती है, यथा-

अस्तित्वो दाव अहं
विशेषक सं०
क्रि०प० सं०प०

सामान्यतः सामान्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की वाक्य संरचना में शब्द-क्रम सुनिश्चित सा है, पर प्राकृतों में यह शब्द-क्रम सुनिश्चित नहीं है, यही कारण है कि प्राकृत वाक्य रचना में कोई भी पद कहीं भी आ जाता है, यथा- “अण्णं अण्णं णिमत्तेदु दाव भवं।” साहित्यिक पाठों में पदों का यह मुक्त-प्रयोग अधिक देखने को मिलता है, परन्तु दर्शन और शुद्ध सिद्धान्त के ग्रन्थों में मुक्त शब्द-प्रयोग उतना सामान्य नहीं है, हम एक उदाहरण षट् खण्डागम से लेते हैं-

इदाणिं णिक्खेवत्थं भणिस्सामो। तत्थ णाम-मंगलं णाम
णिमित्तं तर-णिक्खेक्खा मंगल-सण्णा। तत्थ णिमित्तं चउव्विहं
जाइ-दव्व-गुण-किरिया चेदि। तत्थ जाई तब्भम-सारिच्छ-लक्खण-सामण्णं।
दव्वं दुविहं, संजोय-दव्वं समवायदव्वं चेदि।”

अब हम वाक्य रचना में कुछ क्रिया रूपों के विकास-क्रम की ओर देखते हैं। यथा-

“अष्टी ण भक्खीअदि।” गुठली नहीं खाई जाती है।

“किं ण भणीअदि।” क्यों नहीं कहा जाता है।

“मइरा पञ्चाचगव्वं च एक्कस्सिं भण्डए करीअदि।”

मदिरा तथा पञ्चाचगव्य एक ही पात्र में लिया जाता है।

“कच्चं माणिक्कं च समं आहरणं पउञ्जीअदि।”

कॉच तथा माणिक्य एक ही आभूषण में प्रयुक्त किए जाते हैं।

यदि इन प्राकृत क्रिया रूपों की तुलना संस्कृत वाक्य रचना के क्रिया रूपों से की जाए तो यह स्पष्ट रूप से सामने आता है कि “जाता है” इस प्रकार के संरचनात्मक सॉचे की पृथक् सत्ता के रूप में उपस्थिति प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में नहीं है जबकि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में इनकी लेखीय और संरचनात्मक सत्ता एक पृथक् इकाई के रूप में है। यहीं यदि इन रूपों की परस्पर तुलना की जाए तो यह बात भी स्पष्टतः परिलक्षित होती है

कि “जाती है” प्रकार के संरचनात्मक सॉचो के स्रोत हमें प्राकृत क्रिया रूप संरचनाओं में देखने को मिलते हैं और खासकर “आदि” जैसे सॉचो में जो बाद में “जाता” में बदल गया। प्राकृत में/शौरसेनी में यह पृथक् नहीं परन्तु पृथक् दिख रहा है।

प्राकृत में हमें अनेक ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जो कृदन्तीय प्रयोगों में समाप्त होते हैं, संस्कृत में भी इस कृदन्तीय वाक्यों की समान परंपरा रही है। परन्तु यह सॉचा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में इसी क्रम में नहीं मिलता, फलतः कृदन्तीय प्रयोग सीमित हो गया और इसका स्थान समापिका क्रिया ने ले लिया। यथा-

“अनुसूया- अम्मो ! आवेअक्खलिदाए गईए पब्भटटं मे हत्थादो
पुष्फभाअणं।”
अम्मा ! आवेग से स्खलित गति के कारण मेरे हाथ से
पुष्पभाजन गिर गया।

उपर्युक्त उदाहरण का “पब्भटटं” रूप हिन्दी में “गिर गया” क्रिया रूप के द्वारा स्थापन्न हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि कृदन्तीय प्रयोग सीमित हो गए।

संदर्भ :

1. चारुदत्त (तीसरी गिताब्दी), भास, टी०गणपति गिँस्त्रे, त्रिचन्द्रम, १९२२पृ०८-१२
2. उपर्युक्त
3. षट्खण्डागम, धवला टीका समन्वित, सम्पादक:हीरालाल जैन, जीवस्थान सत्प्ररूपणा।
खण्ड-१, प्रकाशक:श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र शितावराम, अमरावती, १९३९पृ०१७।
4. चारुदत्त, भास, उपर्युक्त विवरण।
5. कर्पूरमंजरी, राजशेखर, सम्पा० स्टेन कोनो, मोतीलाल बनारसीदास, १९६३, पृ०१६-१९।
6. उपर्युक्त, पृ० १९-२२।
7. उपर्युक्त।
8. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास, चतुर्थ अंक का विषकम्भक

- लखनऊ (उ०प्र०)

पुस्तक-समीक्षा**(१) “हाड़ौती की जैन मूर्तिकला एवं शिलालेख”**

लेखक- ललित शर्मा, प्रकाशक- सुरेन्द्र कुमार सेठी फाउण्डेशन, कोटा (राजस्थान), प्रथम संस्करण- २०१४, पृष्ठ-५६ चित्र-१६, मूल्य: भेंट स्वरूप।

प्रस्तुत पुस्तक में हाड़ौती की जैन मूर्ति का एवं शिलालेख में कुल ५ अध्याय हैं। जैन मूर्ति एवं शिलालेख एक परिचय, हाड़ौती की जैन मूर्ति का एवं जैन शिलालेख जैन मूर्तियों के पारिभाषिक शब्द एवं जैन मूर्तियाँ एवं कला के लक्षण। जिज्ञासुओं एवं शोधकर्ताओं के लिए पुस्तक बहुत उपयोगी है।

(२) विचार - भारती

लेखक- डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन, बुरहानपुर (म.प्र.), प्रेरणास्रोत- मुनि पुँगव श्री सुधासागर जी महाराज, संपादक- डॉ. अशोक कुमार जैन अध्यक्ष- जैन बौद्धदर्शन विभाग, बी.एच.यू., प्रकाशक- भ० ऋषभदेव ग्रंथमाला, संघीजी मंदिर, सांगानेर, जयपुर (राज.), आ. ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र व्यावर से भी प्राप्त किया जा सकता है, प्रथम संस्करण- २०१३, प्रति १०००, मूल्य : १५०, पृष्ठ-१६०

लेखक- हिन्दी के प्राध्यापक हैं एवं अच्छे प्रवचनकार एवं वक्ता (Stone-Key Speaker) हैं। पार्श्व ज्याति के संपादक एवं समीक्षक हैं। ३४ शीर्षकों के अंतर्गत विभिन्न विषयों पर भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक-विचारकों के विचारों की आधार भूमि से अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। लेखों को संस्मरणों एवं कथानकों से भी सजाया गया है। प्रस्तुति सुन्दर एवं कृति पठनीय हैं। विचार भारती नाम को ईमानदारी से सार्थक किया है।

(३) आचार्य कुन्दकुन्दकृत - प्रवचनसार

हिन्दी अनुवाद- डॉ. जयकुमार ‘जलज’, प्रकाशक- पारस मूलचंद चैरिटेबल ट्रस्ट कोटा, प्रथम संस्करण-२०१४, मूल्य रु.८०/-, हिन्दी ग्रंथमाला कार्यालय मुम्बई द्वारा मुद्रित, लेखक- हिन्दी भाषा-साहित्य के जाने माने साहित्यकार हैं। १२ पृष्ठ की प्रास्ताविक पठनीय है जो लेखक की विचार

सम्पदा का एक अभिन्न अंग है। प्रत्येक गाथा का अनुवाद संक्षिप्त सटीक एवं प्रामाणिक है।

(४) दर्शन-भारती (पर्यावरण-विशेषांक)

संपादक- डॉ. शीतलचन्द जैन, डॉ. अनिल कुमार जैन, प्रकाशक- महेशचन्द जैन चांदवाड़- मंत्री श्री दि. जैन स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय, ६६ मनिहारों का रास्ता, जयपुर-३ (राज.) शोध पत्रिका है, प्रकाशन वर्ष २०१४ पृष्ठ ८८ मूल्य : ५०/- विभिन्न लेखकों के आध्यात्मिक ग्रंथों के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरणीय दृष्टि संबन्धी लगभग १४ शोधलेख संग्रहीत हैं।

(५) णमोकार - विज्ञान

(णमोकार मंत्र का विशाल आधारित स्वरूप)

प्रस्तुति/ लेखक- मनमोहन चन्द्र, प्राप्ति स्थल- लेखक से काली चट्टान के पास, कालापाठा, बैतूल (छ.ग.)-४६०००९, प्रथम संस्करण- अप्रैल २००४, पृष्ठ - १५८, मूल्य : बारह अध्यायों में- मंत्र का मूल उसकी उत्पत्ति, संयोजन एवं महत्व पर प्रकाश डालते हुए महामंत्र और उसके तत्त्व, णमोकार मंत्र का विस्तार एवं विश्लेषण महामंत्र का प्रभाव एवं इसकी साधना विधि द्वारा एक संपूर्ण आख्यान प्रस्तुत किया है। कृति शोधपूर्ण है। लेखक का श्रम सराहनीय एवं प्रशंसनीय है।

(6) Soul Science- Samayasara

by Acharya Kundakunda - Part 1

लेखक - डॉ. पारसमल अग्रवाल, प्रकाशक- कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ ५८४, एम.जी. रोड, तुकोगंज, इन्दौर-४५२००१ (म.प्र.), मूल्य : २५० रु. विदेश में ६०० रु. पृष्ठ सं. २१६ ।

आ० कुन्दकुन्ददेव के अध्यात्म ग्रन्थ 'समयसार' के अंग्रेजी में अनुवाद एवं आधुनिक वैज्ञानिक शैली में सरल टीका। लेखक १६ वर्ष अमरीका में विजिटिंग प्रोफेसर एवं वैज्ञानिक पदों पर रहे। लेखक भौतिक विज्ञान व जैनदर्शन के अध्येता हैं। आकाशद्वीप की भाँति युवा पीढ़ी को मार्ग प्रशस्त करने वाली श्रेष्ठ कृति।

समीक्षाकार- प्रा. निहालचंद जैन

निदेशक- वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, नई दिल्ली-२

अभिनंदन

प्राचार्य निहालचंद जैन “महावीर पुरस्कार २०१३”
(ब्र० पूरणचन्द्र रिद्विलता लुहा० साहित्य पुरस्कार) से सम्मानित

नई दिल्ली। जैन जगत के वरिष्ठ विद्वान प्राचार्य निहालचंद जैन (बीना) निदेशक-वीर सेवा मंदिर, दरियागंज नई दिल्ली को वर्ष २०१३ का महावीर पुरस्कार (ब्र० पूरणचन्द्र रिद्विलता लुहाडिया साहित्य पुरस्कार) आपकी प्रसिद्ध कृति “सौ बोध कथाएँ” पर जैन विद्या संस्थान दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी की ओर से १६ अप्रैल, २०१४ को श्री महावीरजी के वार्षिक मेले के सुअवसर पर प्रदान किया गया।

श्री प्राचार्य जी १० वर्ष तक “घर घर चर्चा रहे धर्म की” (मासिक) के प्रधान संपादक एवं वीतरागवाणी (मासिक) टीकमगढ़ के विगत ३५ वर्ष से विशिष्ट संपादक हैं। वर्तमान में आप वीर सेवा मंदिर से प्रकाशित शोध त्रैमासिकी “अनेकान्त” के सम्पादक मण्डल के वरिष्ठ सदस्य हैं।

आप एक अच्छे प्रवचनकार और लेखक हैं। अद्यतन आप लगभग १८ पुस्तकों- के लेखक/संपादक हैं और आपको कई लब्धप्रतिष्ठित पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। आपका मुख्य उद्देश्य जैनधर्म के सिद्धांतों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर व्याख्यापित कर नई पीढ़ी को जैनधर्म के प्रति रुझान पैदा करना है। वीर सेवा मंदिर के अध्यक्ष, समस्त पदाधिकारीगण एवं परिवार की ओर से बधाई एवं अभिनंदन। आपके स्वस्थ एवं दीर्घायु की मंगल शुभकामनाओं सहित।

- वी० के० जैन, महामंत्री
वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-२



डॉ० सुरेशचन्द्र जैन : श्रद्धांजलि

जैनदर्शन के मनीषी विद्वान डॉ. सुरेशचन्द्र जैन (दिलशाद गार्डन, नई दिल्ली) का १५ मार्च, २०१४ को एक लम्बी बीमारी के बाद देवलोक गमन हो गया है। मूलतः आप कोतमा (म०प्र०) के निवासी थे। दि० जैन बालाश्रम- दरियागंज, से प्रकाशित 'जैन प्रचारक' मासिक के आप विगत १५-२० वर्ष से संपादक रहकर जैन साहित्य के अभिवर्द्धन में योगदान देते रहे। इसके पूर्व आप स्याद्वाद संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी (उ०प्र०) में दर्शन विभागाध्यक्ष एवं दि० जैन गुरुकुल हस्तिनापुर में प्रधानाचार्य रहे।

वीर सेवा मंदिर (जैनदर्शन शोध संस्थान) से भी संबद्ध रहकर कुछ समय तक आपने निदेशक के रूप में अपनी महती सेवाएँ दीं। आपको “आचार्य ज्ञानसागर पुरस्कार” से भी सम्मानित किया गया था जो आपकी विद्वत्ता एवं जैनधर्म की अनन्य सेवा का प्रतीक था। वीर सेवा मंदिर के पदाधिकारीगण व परिवार आपके देहावसान पर हार्दिक शोक व्यक्त करते हुए दिवंगत आत्मा की शांति व सद्गति के लिए प्रार्थना करता है।

- महामंत्री
वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली

पाठकों के पत्र.....

प्रसन्नता है कि आपने 'अनेकान्त' में पाठकों के पत्र नाम से एक नया स्तम्भ शुरू किया है। इससे अनेकान्त के पठन पाठन में पाठकों की हिस्सेदारी बढ़ने की संभावना है। किसी भी पत्रिका में प्रकाशित सामग्री की सार्थकता इसी में है कि वह पाठकों तक पहुँचे, उनके भीतर प्रतिक्रिया जगाए, उन्हें अपनी शंकाओं के समाधान का और खुली लेकिन मर्यादित बहस का अवसर दे। इसके लिए एक स्थूल उपाय और किया जा सकता है कि आलेख के नीचे उसके लेखक का पता भले ही न दें उसका फोन नं०, ई-मेल जरूर दें। एकल व्यक्ति चित्र के नीचे व्यक्ति का नाम भी दिया रहे तो अच्छा है।

रचनाओं में पाठक की हिस्सेदारी के अभाव में उसमें पढ़ने के प्रति उदासीनता पनपने लगती है। आज स्थिति यह है कि देश में जैन पुस्तकों और जैन पत्रिकाओं पर जैन परिवारों का औसत खर्च २५/-रु० भी नहीं है। आगे आने वाली जैन पीढ़ी का अगर जैनधर्म से जुड़ाव बनाए रखना है तो इस स्थिति को बदलना होगा। अप्रैल-जून ०१४ के अंक में 'वर्तमान में श्रमणचर्या की विसंगतियाँ एवं निदान एक सुविचारित आलेख है। लेकिन उसे समाप्त करते करते लेखक का कथन है कि 'तथापि श्रमणों की प्रवृत्ति मूलाचार, भगवती आराधना, अष्ट पाहुड के स्वाध्याय के प्रति जागृत हो- ऐसा श्रावकों के द्वारा यथासंभव प्रयास होना चाहिए।' इस कथन ने जैसे बीच रास्ते में ही दम तोड़ दिया है। क्या ऐसी प्रवृत्ति श्रावकों में भी जागृत नहीं होनी चाहिए? और उनमें इसे जागृत करने का प्रयास श्रमणों को नहीं करना चाहिए? कथन को आधे रास्ते में ही छोड़ देने की ध्वनि अगर यह है कि उक्त ग्रंथ श्रावकों के लिए नहीं है तो यह तो और भी दुखदायी है। खुद पढ़ने वाला श्रावक ही तो श्रमण में पढ़ने की प्रवृत्ति जगा सकता है।

पिछले कई अंकों में आपने लगातार महत्त्वपूर्ण आलेखों का प्रकाशन किया है। सामग्री का चयन स्तरीय है। प्रस्तुतिकरण, मुद्रण आदि में भी असाधारण और प्रशंसनीय सुधार आपने किया है। यह भी कम अच्छी बात नहीं है कि अनेकान्त ही एक ऐसी जैन पत्रिका है जिसमें प्रूफ की अशुद्धियाँ प्रायः नहीं होतीं। बधाई।

- डॉ० जयकुमार जलज प्राचार्य (से.नि.)

३०, इन्दिरा नगर, रतलाम-४५७००१ फोन-9407108729

अनेकान्त का हर अंक शोधालेखों के कारण सुरक्षित रखता हूँ जो समय समय पर मुझे कई प्रश्नों के उत्तर संदर्भ सहित देते हैं। अप्रैल-जून १४ (६७/२) अंक प्राप्त हुआ। प्रकाशित लेखों की छटा निराली व उच्चकोटि की है। डॉ. जयकुमार जैन का सम्पादकीय लेख- आज के मुनि संघों में व्याप्त शिथिलाचार का कटु परन्तु सत्य बोध कराता है। लेखक के सुझाये हल सरल व उपयोगी हैं। प्राचार्य निहालचंद जैन का लेख जनसाधारण को महान ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' का सटीक व सरल परिचय कराता है। संपादक मण्डल बधाई के पात्र हैं।

- राजकुमार जैन, से.नि. ग्रुप कैप्टन
(भारतीय वायुसेना), पुण
(मो. 09370374391)

अनेकान्त का विगत अंक (अप्रैल-जून २०१४) में संपादकीय लेख जिसमें श्रमणचर्या की विसंगतियों पर प्रकाश डाला है, से मैं पूर्ण सहमत हूँ। व्यक्ति पूजा का विरोधी जैनधर्म आज परिग्रह से पीड़ित, परिषदों से वंचित, श्रावकाचार से भी शिथिल परन्तु स्वयं को भगवान कहलाने में आनंदित अनुभव करने वाले संतों से आक्रान्त है। 'मेरी भावना' के सुन्दर एवं निःशुल्क प्रकाशन हेतु साधुवाद। मेरी भावना मध्यप्रदेश में कक्षा सात की पाठ्य पुस्तक में प्रार्थना के रूप में शामिल की गई है। अनेकान्त का प्रकाशन अभूतपूर्व है। वीरसेवा मंदिर से प्रकाशित पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' के विचारों से बहुत प्रभावित हूँ जिन्होंने वीर सेवा मंदिर की स्थापना करके एक महान कार्य किया। अनेकान्त देश की प्रमुख शोध पत्रिका है, इसके लिए मैं अपनी शुभकामनाएं एवं बधाई भेज रहा हूँ।

- अजित जैन 'जलज' अध्यापक
प्रांतीय संयोजक, करुणा इण्टरनेशनल,
टीकमगढ़ (म.प्र.)-४७२००१ मो. 91+99265 65711

अनेकान्त 67/4, अक्टूबर-दिसम्बर, 2014

1

Year-67, Volume-4
RNI No. 10591/62

Oct.-Dec. 2014
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANT

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना

Pt. Nihal Chand Jain- Bina

(निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली)

Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi

प्रो. डॉ. राजाराम जैन, नोएडा

Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida

प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ

Prof. Dr. Vrashabh Prasad Jain, Lucknow

प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर

Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur

प्रो. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत

Prof. Dr. Shreyans Kr. Jain, Baraut

श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली

Sh. Roop Chand Kataria, New Delhi

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक- रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

Our Banker : Bank of India A/c No. 603210100007664,
Ansari Road, Daryaganj, New Delhi (IFSC- BKID0006032)

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institution for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

स्तुति वंदना

यही है महावीर-सन्देश

विपुलाचल पर दिया गया जो प्रमुख धर्म-उपदेश॥ यही०॥
सब जीवों को तुम अपनाओ, हर उनके दुख-क्लेश।
असद्भाव रखो न किसी से, हो अरि क्यों न विशेष॥१॥
घृणा पाप से हो, पापी से नहीं कभी लव-लेश।
भूल सुझा कर प्रेम-मार्ग से, करो उसे पुण्येश॥२॥
तज एकान्त- कदाग्रह-दुर्गुण, बनो उदार विशेष।
रह प्रसन्नचित्त सदा, करो तुम मनन तत्त्व-उपदेश॥३॥
जीतो राग-द्वेष-भय-इन्द्रिय-मोह-कषाय अशेष।
धरो धैर्य, समचित्त रहो, औ' सुख-दुख में सविशेष॥४॥
अहंकार-ममकार तजो, जो अवनतिका विशेष।
तप-संयम में रत हो, त्यागो तृष्णा-भाव अशेष॥५॥
'वीर' उपासक बना सत्य के, तज मिथ्याऽभिनिवेश।
विपदाओं से मत घबराओ, धरो न कोपावेश॥६॥
सादा रहन-सहन-भोजन हो, सादा भूषा-वेष।
विश्व-प्रेम जाग्रत कर उर में, करो कर्म निःशेष॥७॥
हो सबका कल्याण, भावना ऐसी रहे हमेश।
दया-लोक-सेवा-रत चित हो, और न कुछ आदेश॥८॥
यही है महावीर-सन्देश, विपुला० ।

- जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

विषयानुक्रमणिका

<u>विषय</u>	<u>लेखक का नाम</u>	<u>पृष्ठ संख्या</u>
१. आत्मानुशासन में आत्मस्वरूप मीमांसा	- डॉ. जयकुमार जैन	5-12
2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य में द्रव्य लक्षण	- डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन	13-23
3. जैन शिक्षा पद्धति की वर्तमान में प्रासंगिकता	- श्रीमती प्रेमलता जैन	24-32
4. श्रावकाचार एक वैज्ञानिक जाँच पड़ताल	- मनमोहन जैन	33-46
5. कर्मसिद्धान्त- नये परिप्रेक्ष्य में	- डॉ. सुभाषचन्द जैन	47-56
6. कहकोसु में वर्णित सामाजिक चिन्तन	- डॉ. दर्शना जैन	57-65
7. Ahimsa and Shanti	- Prof. Harishankar Pandey	66-71
8. आचार्य समन्तभद्र का आप्त मीमांसा स्तोत्र (गतांक से आगे)	- डॉ. श्रीयांशकुमार सिंघई	72-79
9. ज्ञाताधर्म कथांग का सांस्कृतिक अवदान	- डॉ. योगेशकुमार जैन	80-86
10. प्राकृत भाषा का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय	- श्री मनोज कुमार	87-92
11. पुस्तक समीक्षा	- पं. निहालचंद जैन	93-94
12. पाठकों के पत्र		95
13. वीर सेवा मन्दिर की प्रकाशन सूची		96

संपादकीय-आलेख**आत्मानुशासन में आत्मस्वरूपमीमांसा**

- डॉ. जयकुमार जैन

आत्मन् (आत्मा) शब्द आङ्. उपसर्ग पूर्वक अत् धातु से मनिन् या अत् धातु से मनिण् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसके प्रमुखतया आत्मा, जीव, स्व एवं परमात्मा आदि अनेक अर्थ हैं। ये सभी एकार्थक भी हैं और क्वचित् भिन्नार्थक भी। द्रव्यसंग्रह की टीका में कहा गया है कि 'अत' धातु सतत गमन करने रूप अर्थ में प्रयुक्त होती है। सभी गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक भी होती हैं। अतः यहाँ पर गमन शब्द से ज्ञान कहा जाता है। फलतः जो यथासंभव ज्ञानादि गुणों में वर्तन करता है, वह आत्मा है। अथवा शुभ-अशुभ मन, वचन, काय की क्रिया के द्वारा यथासंभव तीव्र-मन्द आदि रूप से जो पूर्णतया वर्तन करता है, वह आत्मा है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों के द्वारा जो पूर्ण रूप से वर्तन करता है, वह आत्मा है।¹ अतः कहा जा सकता है कि सब असंख्यात प्रदेशों के साथ जिसमें ज्ञान सतत प्रवाहित है, वह आत्मा है और जिसमें ज्ञान नहीं है वह आत्मा नहीं है। आत्मा का निरुक्त्यर्थ स्पष्ट करते हुए श्रीजिनसेनाचार्य ने लिखा है-

‘भूवेष्वातति सातत्यादेतीत्यामा निरुच्यते।

सोऽन्तरात्माष्टकर्मन्तर्वर्तितादभिलष्यते॥

स स्याज्ज्ञानगुणोपेतो ज्ञानी च तत एव सः।’²

अर्थात् यह जीव नर-नारकादि पर्यायों में निरन्तर गमन करता रहता है, इसलिए आत्मा कहलाता है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अन्तर्वर्ती होने से अन्तरात्मा भी कहलाता है। यह जीव ज्ञान गुण से सहित है इसलिए ज्ञानी कहलाता है और ज्ञ भी कहा जाता है।

आचार्य जिनसेन ने जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी- इन सबको पर्यायवाची माना है।

आचार्यवर्य श्री गुणभद्रस्वामी द्वारा विरचित ग्रन्थ आत्मानुशासन का अभिधान ही ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा को बतलाता है। उनका 'आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम्'^४ कथन ग्रन्थ में अत्यन्त अल्प उल्लिखित होने पर भी आत्मस्वरूपमीमांसा की प्रधानता को अभिव्यक्त करता है। अग्रिम श्लोक में आत्मन् सम्बोधन भी यह स्पष्ट करने में समर्थ है कि ग्रन्थ का प्रणयन आत्मा की सम्बुद्धि के लिए हुआ है। यथा -

‘दुःखाद्विभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्!

दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव॥’^५

श्रीगुणभद्राचार्य ने सब द्रव्यों का एक सामान्य लक्षण बतलाने के पश्चात् आत्मा के असाधारण लक्षण का कथन करते हुए लिखा है-

‘ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावाप्तिरच्युतिः।

तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥’^६

अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वभावी है और स्वभाव की प्राप्ति अविनाशी होती है। इसलिए अविनाशी अवस्था को चाहने वाले विवेकी को ज्ञान की भावना भानी चाहिए।

यह असंदिग्ध तथ्य है कि चार्वाकेतर सभी दार्शनिक मोक्ष को ही दर्शन का परम प्रयोज्य मानते हैं। श्री त्रैविध सोमदेवाचार्य ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है-

‘गवामनेकवर्णानामेकवर्णं यथा पयः।

षण्णां वै दर्शनानाञ्च मोक्षमार्गस्तथा पुनः॥’^७

अर्थात् जिस प्रकार अनेक वर्णों वाली गायों का दूध एक ही वर्ण वाला होता है, उसी प्रकार छहों दर्शनों का प्रयोज्य मोक्षमार्ग है। मोक्ष आत्मा के कल्याण एवं दुःखों से छुटकारे की अवस्था है। इसलिए सभी दार्शनिकों ने आत्मा के स्वरूप की मीमांसा की है। किन्तु उनकी विवेचना में आत्मा का स्वरूप पृथक्-पृथक् है। आत्मानुशासनकार ने आत्मा के स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए जो एक श्लोक दिया है, उसमें अन्य दार्शनिकों के मतों के खण्डन का भी संकेत है। यथा -

‘अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।

देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः॥८

अर्थात् आत्मा न तो कभी मरता है। इसकी कोई आकृति नहीं है, यह अमूर्तिक है। यह व्यवहार नय की अपेक्षा कर्मों का कर्ता है तथा निश्चय नय की अपेक्षा अपने स्वभाव का कर्ता है। यह व्यवहार नय की अपेक्षा सुख-दुःख का भोक्ता है तथा निश्चय नय की अपेक्षा अपने स्वभाव का भोक्ता है। व्यवहार नय की अपेक्षा यह आत्मा इन्द्रियजन्य सुखों से सुखी है तो निश्चय नय की अपेक्षा परमानन्दमयी है। यह आत्मा ज्ञानरूप है। व्यवहार नय की अपेक्षा यह आत्मा देहमात्र या स्वदेहपरिमाणी है तथा निश्चय नय की अपेक्षा यह चेतनामात्र है। यह आत्मा कर्ममल से मुक्त होकर ऊपर जाकर लोकाग्र पर अचल स्थित हो जाता है। यह आत्मा स्वयं प्रभु है, इसका कोई अन्य स्वामी नहीं है। इस श्लोक में आत्मा को अजात, अनश्वर, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, सुखी, ज्ञानी, देहप्रमाण, निर्मल होने पर लोकाग्र में स्थित अचल तथा प्रभु कहा गया है। इन विशेषताओं के कथन से किसी न किसी अन्य दार्शनिक या अन्य मतालम्बियों के एकान्त मतों का निरसन करना ग्रन्थकार को अभीष्ट है। कुमारकवि ने आत्मप्रबोध में आत्मा के स्वरूप का जो विवेचन किया है, उस पर आत्मानुशासन का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यथा -

‘नित्यो निरत्ययगुणः परिणामधाम,

बुद्धो बुधैर्दृगवबोधमयोपयोगः।

आत्मा वपुःप्रमितिरात्मपरप्रमाता,

कर्ता स्वतोऽनुभविताऽयमनन्तसौख्यः॥

अर्थात् यह आत्मा नित्य, अविनाशी गुणों वाला, परिणामी, दर्शन एवं ज्ञानोपयोगी, स्वशरीरपरिमाणी, कर्ता, स्वयं भोक्ता, अनन्त सुखी है।

आत्मानुशासन में श्रीगुणभद्राचार्य द्वारा वर्णित आत्मा के विविध विशेषणों का निहितार्थ महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक विशेषण के निहितार्थ को इस प्रकार देखा जा सकता है।

१. अजात - अनात्मवादी चार्वाक दार्शनिकों का कहना है कि आत्मा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश - इन पञ्चभूतों के योग्य संयोग से उत्पन्न हुई शक्ति मात्र को जीव कहते हैं, अतः जीव उत्पन्न होता है। वे कहते हैं कि जैसे मधूक, गुड, जल आदि में मद्य शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है, किन्तु जब वे पारस्परिक समीचीन

संयोग को प्राप्त होते हैं, तो उनमें मद्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि पाँच भूतों के संयोग से जीव उत्पन्न हो जाता है। चार्वाकों की इस मान्यता का खण्डन करने के लिए आत्मा को अजात कहा गया है। आत्मा की उत्पत्ति माना जाना इसलिए भी अतार्किक है, क्योंकि आज तक ऐसा कोई फार्मूला नहीं है कि पंचभूतों के इतने-इतने संयोजन से आत्मा की उत्पत्ति हो सके।

२. अनश्वर - अनश्वर विशेषण के द्वारा भी चार्वाकों का ही खण्डन किया गया प्रतीत होता है। क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उसी का नाश सम्भव है। अजात या अनादि पदार्थ नियम से अनश्वर या अनन्त होता है। जिस प्रकार जीवन या आत्मा का आदि नहीं है, जन्म-मरण होते रहने पर भी समूल नाश न होने से आत्मा का अनश्वर होना सिद्ध है। मरण वस्तुतः देहान्तरप्राप्ति की प्रक्रिया का नाम है।

३. अमूर्त - जिस प्रकार चार्वाक दार्शनिक जीव को मूर्तिक पिण्ड मानते हैं, उसी प्रकार कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसा दार्शनिक भी आत्मा को मूर्तिक स्वीकार करते हैं। जैनों की दृष्टि में भी यद्यपि कर्मबद्ध संसारी आत्मा मूर्तिक होता है तथापि आत्मा में पुद्गल के गुण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं पाये जाते हैं, इसलिए आत्मा को अमूर्त कहा गया है। मूर्तता आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, वह तो वैभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण तो आत्मा का अमूर्त होना ही है। श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है-

‘अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।

जाण अलिंगगहणं जीवमणिदिदट्ठसंठाणं॥’१०

अर्थात् जीव या आत्मा को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतना गुणवान् अशब्द, किसी लिंग से अग्राह्य और किसी भी संस्थान (आकार) से रहित समझो।

४. कर्ता - सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। इनमें प्रकृति जड़ किन्तु क्रियायुक्त है जबकि पुरुष चेतन किन्तु निष्क्रिय है। उनकी दृष्टि में पुरुष (जीव या आत्मा) कर्ता नहीं है। प्रकृति में क्रिया होने से वही सुख-दुःख आदि की कर्ता है। जैन दर्शन के अनुसार

कर्मबद्ध आत्मा ही अपने शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप रूप परिणामों का कर्ता है। सांख्य दार्शनिक जीव को सर्वथा निष्क्रिय कूटस्थ शुद्ध द्रव्य मानते हैं। वह वास्तव में बन्धन में भी नहीं पड़ता है। वे कहते हैं -

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥^{११}

अर्थात् अपरिणामी होने से कोई भी पुरुष (आत्मा) न बन्धन को प्राप्त होता है, न मुक्त होता है और न संसरण करता है। प्रकृति ही संसरण करती है, बन्धन को प्राप्त होती है और मुक्त होती है। जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि आत्मा निश्चय नय के अनुसार अपने भावों का और व्यवहार नय के अनुसार कर्मों का कर्ता है। यदि आत्मा को कर्मों का कर्ता नहीं माना जायेगा तो फिर वह बन्धन में नहीं पड़ेगा और बन्धन नहीं है तो मोक्ष कैसा? क्योंकि बन्धन के नाश का नाम ही मोक्ष है। इसी कारण आत्मानुशासन में आत्मा को कर्ता कहा गया है।

५. भोक्ता- आत्मा को क्षणिक मानने के कारण बौद्धों में भोक्तृत्व संगत नहीं बन पाता है। क्योंकि जब क्रिया की गई तबका आत्मा अग्रिम क्षण में है ही नहीं। अतः उसमें कर्तापने एवं भोक्तापने की एकता संभव नहीं है। वह व्यवहार नय के अनुसार अपने कर्मफल रूप सुख-दुख आदि का तथा निश्चय नय के अनुसार चैतन्यरूप आनन्द का भोक्ता है। यदि आत्मा को अपने कर्मों का भोक्ता नहीं माना जायेगा तो पुण्य-पाप एवं पुनर्जन्म आदि की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। अतः आत्मविषयक बौद्ध मान्यता के निरसन के लिए आत्मा को भोक्ता कहा गया है।

६. सुखी- अनेक विचारक सुख को जीव का गुण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कर्मफलमुक्त जीव में सुखादि विद्यमान नहीं रहते हैं। बौद्धों का निर्वाण दीपक के बुझने के समान अनुभूतिहीन दशा है। नैयायिक आदि में भी ऐसी मान्यता दृष्टिगत होती है। जबकि जैन दर्शन के अनुसार सुख आत्मा का विशेष गुण है। आलापपद्धति में कहा गया है कि जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व- ये छह गुण हैं।¹² पञ्चाध्यायीकार चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान एवं वीर्य इन पाँच को आत्मा का विशेष गुण मानते हैं। सुख रूप विशेष गुणता के कारण श्रीगुणभद्राचार्य ने आत्मा को सुखी कहा है।

७. ज्ञानी- आत्मा के चैतन्य गुण के अनुविधायी परिणाम का नाम उपयोग है और यह उपयोग जीव का लक्षण है।¹³ उपयोग दो प्रकार का होता है- ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। दर्शनोपयोग निराकार है और ज्ञानोपयोग साकार। चतुर्विध दर्शन और अष्टविध ज्ञान आत्मा का सामान्य व्यावहारिक लक्षण है। शुद्ध रूप में जीव केवल दर्शन और केवल ज्ञानमय है। सांख्य एवं नैयायिक आत्मा को ज्ञान रहित मानते हैं। नैयायिकों का कहना है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है, बाहर से आया है। सांख्य ज्ञान को प्रकृति की विकृति मानते हैं। उनके अनुसार बुद्धि ही ज्ञान है और वह प्रकृति का विकार है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है, जैसे अग्नि का उष्णता। जो जीव है वह ज्ञानवान् है और जो ज्ञानवान् है वह जीव (आत्मा) है। यह जीव मात्र में पाया जाता है। अतः सांख्यों एवं नैयायिकों की ज्ञानहीन आत्मास्वरूपता का खण्डन करने के लिए आत्मानुशासन में आत्मा को बुध (ज्ञानी) कहा गया है।

८. देहमात्र (देहपरिमाण)- आत्मा की आयतनिक स्थिति के विषय में विविध दार्शनिकों में पर्याप्त मतभिन्नता है। सांख्य, न्याय एवं वैशेषिक दर्शन अमूर्त होने के कारण आत्मा को आकाश की तरह सर्वव्यापक मानते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी मान्यता का प्रतिपादन है।¹⁵ किन्तु माधवाचार्य आदि कतिपय वेदान्ती आत्मा को अंगुष्ठमात्र या अणु रूप में स्वीकार करते हैं।¹⁶ सभी जैन दार्शनिक आत्मा को स्वदेहपरिमाण स्वीकार करते हैं। शरीर के आकार के अनुसार दीपक की तरह आत्मप्रदेशों में संकोचन या विस्तार होता रहता है।¹⁷ आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, न ही शरीर के एकदेश में रहने वाली है, अपितु शरीरव्यापी है। इस अभिप्राय को अभिव्यक्त करने तथा सांख्यादि दार्शनिकों की मान्यता से असहमति दिखाने के लिए आत्मानुशासन में आत्मा को देहमात्र कहा गया है।

९. निर्मल (मलैमुक्तः) - आत्मा के 2 रूप हैं - स्वाभाविक एवं वैभाविक। स्वाभाविक रूप स्वाधीन होता है, जबकि वैभाविक रूप परनिमित्ताधीन होता है। स्वाभाविक रूप से आत्मा निर्मल है, जबकि वैभाविक रूप में आत्मा अशुद्ध या कर्ममल से संयुक्त है। आत्मा को निर्मल कहना शुद्ध स्वाभाविक आत्मदशा का कथन है। सदाशिव मत के अनुसार जीव सदाशिव स्वरूप है। वह कभी भी संसारी नहीं होता है। कर्मों का उस

पर कोई असर नहीं पड़ता है। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को एक मात्र यथार्थ मानकर जीव को उसका विवर्त मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि से कर्ममलयुक्त संसारी है। संसारी दशा में वह अशुद्ध है। वह पुरुषार्थ के बल से कर्मों को नष्ट कर निर्मल या शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है। निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा को निर्मल कहा गया है। इससे उन विचारकों की मान्यताओं का खण्डन किया गया प्रतीत होता है, जो एकान्ततः आत्मा को निर्मल ही मानते हैं या आत्मा का कभी भी निर्मल हो पाना स्वीकार नहीं करते हैं।

१०. अचल – जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ऊर्ध्वगतिस्वभावी है। आत्मा जब कर्ममलों से मुक्त हो जाता है, तो दीपक की निर्वात शिखा की तरह ऊर्ध्व गमन करता है। उसकी इस गति में धर्मद्रव्य निमित्त बनता है। यतः लोकाकाश के आगे अलोकाकाश में धर्म द्रव्य की सत्ता नहीं पाई जाती है, अतः लोकाकाश तक ही वह गमन कर पाता है।¹⁸ वह लोक के अग्र भाग पर अचल दशा में स्थित हो जाता है। माण्डलिक मतानुयायी जीव को निरन्तर गतिशील मानते हैं।¹⁹ उनकी मान्यता में जीव सतत गतिशील ही बना रहता है, वह कभी भी अचल नहीं होता है। जैनदर्शन में जीव को ऊर्ध्वगमनस्वभावी मानते हुए धर्मद्रव्य के अभाव में लोकाग्र में स्थित अचल माना गया है। आत्मा के अचल विशेषण से उन माण्डलिक मतानुयायियों का खण्डन किया गया है, जो जीव को सदा गतिशील मानते हैं।

११. प्रभु – अद्वैत वेदान्ती जीव को ब्रह्म का अंश मानकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता का निषेध करते हैं। जैन दार्शनिक अद्वैतवेदान्तियों की इस मान्यता से सहमत नहीं है। यतः सभी जीवात्माओं की प्रवृत्तियाँ समान नहीं है, आत्मा या जीव एक या एक के अंश नहीं है, अपितु अनेक हैं। श्री भावसेन का कहना है कि यदि आत्मा एक होती हो एक समय में वह तत्त्वज्ञ और मिथ्याज्ञानी, आसक्त और निरासक्त विरुद्ध व्यवहार वाला न होता। अतः आत्मा एक नहीं है।²⁰

सांख्य दार्शनिकों ने बड़े ही तार्किक ढंग से एकात्मवाद का खण्डन तथा अनेकात्मवाद की स्थापना की है –

‘जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥’²¹

अर्थात् जन्म, मरण और करण (अन्तःकरण और बाह्यकरण) की प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् स्थिति दृष्टिगोचर होने से, सब जीवात्माओं की किसी क्रिया में एक साथ प्रवृत्ति न होने से तथा तीनों गुणों की भिन्न-भिन्न आत्मा में विपरीतता देखे जाने से प्रत्येक आत्मा की भिन्नता एवं उनकी अनेकता की सिद्धि हो जाती है।

सांख्य दार्शनिकों के समान नैयायिक, वैशेषिक एवं मीमांसक भी आत्मा की अनेकता स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिकों को आत्मा की अनेकता के साथ उनकी स्वयंप्रभुता भी अभीष्ट है। अतएव आत्मा को प्रभु कहा गया है।

संदर्भ :

1. 'अत् धातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते। सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्था इति वचनात्। तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते। अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासंभवं तीव्रमन्दादिरूपेण। आसमन्ताद् अतति वर्तते यः स आत्मा। अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्ताद् अतति वर्तते यः स आत्मा।' -

- द्रव्यसंग्रह, गाथा 57 की टीका

2. आदिपुराण, अध्याय 24 श्लोक 107-108 3. वही, अध्याय 24 श्लोक 103
4. आत्मानुशासन, 1 5. वही, 2 6. वही, 174
7. समाधिसार, श्लोक 83 8. आत्मानुशासन, श्लोक 266
9. आत्मप्रबोध, श्लोक 9 10. समयसार, गाथा 49
11. सांख्यकारिका, कारिका 62
12. 'जीवस्य ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि चेतनत्वामूर्तत्वमिति षट्।' - आलापपद्धति, 2
13. 'तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम्।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम्॥' - पञ्चाध्यायी, श्लोक 945
14. 'उपयोगो लक्षणम्।' - तत्त्वार्थसूत्र, 2/8 15. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/20
16. द्रष्टव्य- भारतीय दर्शन (डॉ. राधाकृष्णन्) भाग 2, पृ. 652
17. 'प्रदेशसंहार विसर्पाभ्यां प्रदीपव्।' - तत्त्वार्थसूत्र 5/16
18. 'धर्मास्तिकायाभावात्।' - वही, 10/8 19. द्रव्यसंग्रह गाथा 2 की टीका
20. विश्वतत्त्वप्रकाश, पृष्ठ 174 21. सांख्यकारिका, कारिका 18

- पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष,

एस.डी. पी.जी. कालेज, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य में द्रव्य लक्षण

- डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन (से.नि. प्राचार्य)

आचार्य विद्यानन्द द्वारा विरचित 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार'^१ एक महत्त्वपूर्ण भाष्य ग्रन्थ है। इसको 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य' 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकव्याख्यान' और 'श्लोकवार्तिकभाष्य' नामों से भी अभिहित किया जाता है।

द्रव्य का लक्षण सत् :

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक एक भाष्य ग्रन्थ होने से विशेष रूप से द्रव्य के स्वरूप का विवेचन उसमें वहीं किया गया, जहाँ मूल ग्रंथकार को अभीष्ट रहा है, फिर भी प्रसंगतः भाष्य में अन्यत्र भी द्रव्य से संबन्धित चर्चा उपलब्ध होती है। तत्त्वार्थसूत्र के द्रव्य विवेचन के सूत्र पंचम अध्याय के सूत्र संख्या दो, बत्तीस, उन्तालीस और एकतालीस की व्याख्याओं में प्रमुख रूप से दृष्टव्य हैं। जैनदर्शन में 'सद्द्रव्यलक्षणम्' सत् को द्रव्य का लक्षण बताकर उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक बताया है। द्रव्य गुणपर्यात्मक होता है। चेतन और अचेतन के रूप में सत् दो प्रकार का है, जिसमें अपनी जाति को छोड़े बिना अन्तरंग और बहिरंग निमित्त मिलने पर प्रतिसमय नवीन अवस्था की प्राप्ति एवं पूर्व अवस्था का त्याग होता रहता है, जिसे क्रमशः उत्पाद और व्यय के रूप में जाना जाता है।^२ भारतीय दर्शनों में सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधारायें हैं। न्यायवैशेषिक और मीमांसा दर्शन में सत्ता का अस्तित्व मात्रा या जाति रूप माना गया है, वेदान्त दर्शन सर्वव्यापक ब्रह्म का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। सांख्य योग दर्शन में पारिणामि नित्यवाद के रूप में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप स्वीकार किया गया है।^३

जो सत् है, वह द्रव्य है, द्रव्य गुणपर्याय वाला होता है। परम्परागत द्रव्य के लक्षणों के विषय में एकान्तवादियों के द्वारा उठाई गयीं आपत्तियों का निराकरण करते हुए आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं कि पूर्वपक्षी यदि यह कहते हैं कि सत् द्रव्य का लक्षण यदि विशेष सामान्य रूप से कहा गया है तो उसमें

अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आते हैं, क्योंकि विशेष रूप से द्रव्य को सत् मानने पर पर्यायों में भी द्रव्यत्व का प्रसंग उपस्थित होता है, परन्तु पर्यायें द्रव्य नहीं होतीं, इसलिए इसमें अव्याप्ति दोष है। भूत, वर्तमान और भविष्य में अन्वय रूप से अनुयायी द्रव्य में सत् विशेष का अभाव है, वर्तमान द्रव्य में ही विशेष रूप से सत् होता है। इसलिए विशेष सत् को द्रव्य का लक्षण मानने पर उसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष आते हैं। सामान्य रूप से द्रव्य का लक्षण मानने पर शुद्ध द्रव्य ही द्रव्य हो सकेगा। इससे पुनः अव्याप्ति दोष उपस्थित होता है। क्योंकि अशुद्ध द्रव्यों में सामान्यरूप सत् का अभाव उपस्थित होता है। अतः शुद्ध या जीवत्व, पुद्गलत्व आदि विशेषणों सहित अशुद्ध द्रव्य में सामान्य रूप से द्रव्य का सत् लक्षण घटित हो जाता है।¹⁴ जिस विशेष रूप से सत् द्रव्य का लक्षण स्वीकार करने में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आते हैं, वह लक्षण स्वीकार करने योग्य नहीं है, सामान्य रूप से द्रव्य का लक्षण ही जैनदर्शन में स्वीकार्य हैं, जिसमें विशेष अशुद्ध द्रव्य भी सामान्य सत् के अंतर्गत आ जाते हैं। क्रम और युगपत् रूप से परिणमन कर रही अपनी पर्यायों में व्याप्त जीवत्व विशिष्ट जीव है। इसी तरह क्रम और युगपत् रूप से परिणमन कर रही अपनी पर्यायों में व्याप्त पुद्गलत्व से विशिष्ट जीव है। क्रमभावि और अक्रमभावि धर्मपर्याय से व्याप्त धर्मत्व विशिष्ट सत्ता धर्मद्रव्य है। इसी तरह अन्य द्रव्यों के संदर्भ में भी समझना चाहिए।¹⁵

पूर्वपक्ष के रूप में सांख्य मत का उल्लेख करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है कि वे नित्य सत् को ही द्रव्य का लक्षण मानकर 'यही वही है' ऐसा सत्त्व के एकत्व का प्रत्यभिज्ञान होने का पक्ष रखते हैं। यदि 'सत्' को अनित्य माना जाता है तब सादृश्य प्रत्यभिज्ञान सम्भव होने पर भी 'यह वही है' ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान घटित नहीं हो पायेगा। सभी कालों में सत् के नित्यत्व को सिद्ध कर रहा एकत्व प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण बाधकों से रहित है। बौद्ध सत् को प्रतिक्षण उत्पाद और व्ययात्मक होने से नाशशील मानते हैं। उनके अनुसार पहली पर्याय नष्ट होकर दूसरे क्षण में अन्य ही पर्याय उत्पन्न हो जाती है।¹⁶

उपर्युक्त पूर्वपक्षियों के समाधान में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककार ने सूत्रकार का 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' सूत्र उपस्थित कर लिखा है कि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् है। इसको परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है कि अपनी जातियों (जीवत्व, पुद्गल आदि) का परित्याग नहीं करके (चेतन

व अचेतन द्रव्य के) परिणामान्तरों की प्राप्ति हो जाना उत्पाद है और स्वजाति का त्याग किये बिना पूर्ववर्ती भावों का विनाश हो जाना व्यय है। 'ध्रुव गतिस्थैर्ययोः' इस तुदादि गण व 'ध्रुव स्थैर्य' इस भ्वादि गण की स्थिर क्रिया के अर्थ वाली 'ध्रुवति' धातु से अच् प्रत्यय करने पर 'ध्रुव' शब्द निष्पन्न होता है। इस 'ध्रुव' का कर्म व भाव ध्रौव्य है। तद्धित मं 'ष्यञ्' प्रत्यय करने पर भी 'ध्रौव्य' शब्द बन जाता है। इस तरह सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। सत् के इस लक्षण से सर्वथा एकान्तवादियों का पक्ष ध्वस्त हो जाता है और यह सिद्ध होता है कि वस्तु भेदाभेदात्मक है।^{१०}

यह कहना भी असंगत है कि ध्रौव्य युक्त सत् को द्रव्य का लक्षण तथा उत्पादव्यात्मक सत् को पर्याय का लक्षण स्वीकार कर लेना चाहिए। क्योंकि जैनसिद्धान्त के अनुसार सत्-सत्ता एक ही है और सत् द्रव्य अनन्तपर्यायों वाला है। द्रव्य सत्ता और पर्याय सत्ता के रूप में दो प्रकार की सत्ताएं नहीं हैं अन्यथा इनसे परे एक महासामान्य द्रव्य को स्वीकार करना पड़ेगा। असत् पदार्थों के अस्तित्व से सत् स्वीकार करना (वैशेषिक) महासामान्य सत्त्व भी खरविषाणकी तरह द्रव्य नहीं कहलायेगा। महासामान्य को सत् स्वरूप स्वीकार करने पर सत् के रूप में द्रव्य सिद्ध हो ही जाता है और यह भी सिद्ध होता है कि द्रव्य असत् रूप नहीं है।^{१०} क्योंकि मृद आदि द्रव्य-उपादान हो रहीं पर्यायें ही घट आदि कार्यों का प्रागभाव है तथा उपादेय की उत्पत्ति ही उपादान का ध्वंस है। स्वभावान्तरों से स्वभाव की व्यावृत्ति हो जाने का परिणाम अन्योन्यभाव है। त्रैकालिक भेद को बनाये रखने वाली परिणतियाँ अत्यन्ताभाव है। तात्पर्य यह कि अभाव, भावस्वरूप ही है। न्यायवैशेषिक, ब्रह्माद्वैतवादी जो सत्ता को केवल नित्य मानते हैं, उनके मत में विशेष भेद करने वाले लिंगों का अभाव है। उनके यहाँ नित्य और अनेक में समवायी सत्ता को स्वीकार किया गया है। जैन दृष्टिकोण से एकान्त मन्तव्यों का व्यवच्छेदक सत्, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक माना गया है, जो अनन्तात्मक पर्यायों के साथ तदात्मक हो रहा है। पर्यायें भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक हैं।^{११}

बौद्धों के अनुसार सत् नित्य और एक नहीं है। सत् सत् ऐसी अन्वयात्मक शुद्ध सत् आकार वाली भी सत्ता नहीं है क्योंकि सत्त्व कोई वस्तुभूत सत्ता नहीं है, असत्पने की आवृत्ति करके उस सत् को कल्पित कर लिया गया है। इसी तरह सत् भी असत् का निषेध रूप होकर सत्ता रूप होकर

सत्ता रूप से कल्पित कर लिया गया है। नित्य स्थूल आदि कोई भी पदार्थ नहीं है। वस्तुतः क्षणिक असाधारण, सूक्ष्म ऐसे उत्पाद, व्यय स्वभावों वाले स्वलक्षण ही सत् का स्वरूप हो सकता है। बौद्धों के इस एकान्त का व्यवच्छेद करने के लिए जैनाचार्यों ने द्रव्य के लक्षण में ध्रौव्य शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। पुनः बौद्ध प्रतिप्रश्न करते हैं कि उत्पादि त्रय किस प्रकार दूसरे उत्पादि के विना सत् स्वरूप हैं, उसी प्रकार सत् वस्तु को भी उत्पादि के विना सत् स्वरूप मान लेना चाहिए। यदि ऐसा मानते हैं कि उत्पाद, विनाश आदि का अन्य उत्पाद आदि से योग हो जाने पर सत् है, तब इसमें अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि फिर दूसरे का तीसरे और तीसरे से चौथे इस प्रकार आगे भी उनका सत्पना सिद्ध करने के लिए क्रम नहीं टूटेगा। आचार्य विद्यानंद ने लिखा है कि उपर्युक्त मत प्रज्ञाकर (बौद्ध विज्ञान) का है जो अप्रज्ञा का द्योतक है एवं निराधार है। क्योंकि सत् स्वरूप वस्तु के साथ उन उत्पाद आदि धर्मों के सर्वथा भेद की असिद्धि है। तात्पर्य यह कि उत्पाद आदि, सत् से सर्वथा भिन्न नहीं है। इसलिए उत्पाद आदि को सिद्ध करने के लिए अन्य उत्पाद आदि की आवश्यकता नहीं होने से अनवस्था दोष नहीं आता। दूसरे उत्पाद आदि का सत् के साथ सर्वथा अभेद भी जैनसिद्धान्त में अभीष्ट नहीं है। इसलिए सत् और उत्पाद आदि में लक्ष्य लक्षण भाव बन जाता है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों की एकता से युक्त द्रव्य है। यहाँ 'युक्त' शब्द को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है कि 'युज' धातु समाधानार्थक तादात्म्य अर्थ का व्याख्यान करती है, जो सत् में स्थापित है, जिससे उत्पादिक का सत् से भेद का कथन नहीं होता। इससे सर्वथा भेद पक्ष में होने वाला अनवस्था दोष नहीं आता। सर्वथा अभेद भी नहीं है, जिससे लक्ष्य लक्षण का विरोध भी नहीं बनता।^{१२}

सत् नित्यानित्य :

सत् न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है, पर वह है कैसा इसका समाधान 'तद्भावाव्ययं नित्यं'^{१३} तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र में किया गया है। विवक्षित पदार्थ का जो भाव है, वह तद्भाव है, जो 'यह वही है' ऐसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण द्वारा समझा जा सकता है। इससे कदाचित् भी विनाश हो जाने का अभाव है। इस दृष्टि से तद्भाव से विनाश नहीं होने को नित्य माना गया है। 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' के अनुसार तद्भाव से

उत्पाद नहीं होना भी नित्य में गर्भित है। यह स्वतः सिद्ध है कि व्यय की निवृत्ति होते ही उसी समय उत्पाद की निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उत्तर आकार के उत्पाद की पूर्व आकार के विनाश के साथ व्याप्ति है।^{१४} अन्यत्व अतद्भाव है 'पूर्व परिणाम से यह परिणाम अन्य है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान स्वरूप अन्वय प्रत्यय से, अतद्भाव को समझा जा सकता है। उत्पाद और व्यय का योग होने से अतद्भाव का प्रयोजक अधौव्य-अनित्य है। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है - नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतीतिसिद्धेः। नतद्विरुद्धं बहिरन्तरंगनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते।^{१५} जो पहले था वह ही यह है, ऐसी प्रतीति होने से अर्थ नित्य है। बहिरंग औष अन्तरंग रूप में निमित्त नैमित्तिक परिणतियों के योग से नित्य और अनित्य रूप धर्म एक पदार्थ में विरुद्ध नहीं है। सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य मानने पर क्रम से और युगपत् अर्थक्रिया नहीं बन सकती। अर्थक्रिया से रहित वस्तु खरविषाण के समान निरर्थक है।^{१६} यहाँ आचार्य विद्यानंद ने नित्यत्व और अनित्यत्व किसी कारण से विरुद्ध नहीं हैं, इसके समाधान में सूत्रकार के 'अर्पितानर्पितसिद्धेः'^{१७} सूत्र का अवतरण करते हुए लिखा है कि 'अर्पितानर्पित सिद्धेः' को हेतु तथा तद्भाव-अव्यय होना नित्य, अतद्भाव-व्यय सहित होना अनित्य को साध्य बना लिया जाये तब अनेकान्तात्मक वस्तु में अर्पित-प्रधानता (एक धर्म की विवक्षा) तथा अनर्पित-अप्रधानता (प्रयोजन न होने पर अविवक्षा) से नित्य-अनित्य आदि परस्पर विरुद्ध धर्म विरोध रहित होकर एक वस्तु में सिद्ध हो जाते हैं। इसको न्यायवाक्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि एक वस्तु में इतर अनित्य के साथ विद्यमान नित्य सवरूप धर्म विरुद्ध नहीं होता, यह प्रतिज्ञा वाक्य है। उसमें अर्पित और अनर्पित सिद्ध हो जाने से, हेतु है, नय के भेदों के समान, यह अन्वय दृष्टान्त है। सत् नित्यरूप और अनित्यरूप अर्पित-प्रधानता से तथा अनर्पित-अप्रधानता से क्यों विवक्षित हो जाते हैं, इसका समाधान इस प्रकार दिया गया है कि द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य स्वरूप अर्पित है और पर्यायार्थिक नय से अविवक्षित होकर अनर्पित है। इसके विपरीत द्रव्यार्थिक नय से अनर्पित और पर्यायार्थिक नय से अर्पित वस्तु का अनित्य स्वरूप सिद्ध होता है।^{१८}

एक वस्तु में नित्य और अनित्य आदि मानने पर उभय, विरोध, वैयाधिकरण, शंकर, व्यतिकर, संशय, अनवस्था और अप्रतिपत्तिक इन आठ दोषों के आने का प्रसंग उपस्थित होता है। आचार्य इसका समाधानपूर्वक उत्तर देते हैं कि प्रमाण ज्ञान की प्रधानता से एक वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों से तीसरी ही जाति की नित्यानित्यात्मक प्रतीति हो जाती है। इसलिए उभय, विरोध आदि दोष नहीं आते हैं। नित्य, अनित्य दोनों प्रतिकूल धर्मों को एक वस्तु रूप मानना उभय दोष है। नित्य, अनित्य आदि दो रूपों का एक अभिन्न वस्तु में होना असंभव है, यह विरोध दोष है। ये दोनों दोष वस्तु को प्रमाण से सकलादेशी मानने पर सत्, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सिद्ध हो जाता है। इसलिए उभय और विरोध दोष नहीं आ सकते, क्योंकि अनेकान्तात्मक सत् सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य दोनों दूषित एकान्तों से रहित अलग तरह का नित्यानित्यात्मक है। नित्य अन्तिय का एकत्र उपालम्भ हो जाने से विरोध दोष भी नहीं है। तीसरी ही जाति वाली नित्यानित्यात्मक वस्तु सिद्ध हो जाने से अनवस्था, वैयाधिकरण, संकर और व्यतिकर दोष भी नहीं आ सकते। वस्तु की समीचीन प्रतिपत्ति होने से अप्रतिपत्ति दोष भी नहीं आता है।^{१९}

गुण और पर्याय युक्त द्रव्य :

‘गुणपर्यायवद् द्रव्यम्’^{२०} को भी सूत्रकार ने द्रव्य कहा है। वार्तिककार ने ‘द्रव्य’ शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है कि ‘द्रवतिद्रोष्यत्यदुद्वतांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यमित्यपि न विरुध्यते।’ अर्थात् जो अपनी उन उन पर्यायों का वर्तमान में द्रवण कर रहा है, भविष्य में द्रवण करेगा और जो भूतकाल में द्रवण कर चुका है, वह द्रव्य है। द्रव्य स्वभाव से ही तीनों काल अपनी तदात्मक पर्यायों में द्रवण करती रहती है। द्रव्य में पर्यायों का सामान्य की अपेक्षा नित्य योग है, इसमें कोई विरोध नहीं है। विशेष की अपेक्षा पर्यायों का नित्य ही योग नहीं है, उनका कदाचित् होना ही सिद्ध है।^{२१} ‘द्रव्य’ को परिभाषित करते हुए सूत्रकार के ‘द्रव्याणि’^{२२} सूत्र की व्याख्या में भी भाष्यकार ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ‘द्रु गतौ- धातु से कर्म और कर्ता में ‘यत्’ प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्द सुघटित हो जाता है। स्व और पर कारणों से उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों को जो प्राप्त हो वह द्रव्य है। ‘द्रूयते’-बहाये जा रहे-गमन कर रहे हैं, जो वह द्रव्य है एवं द्रव्य स्वतंत्र होकर पर्यायों को द्रवण करते हैं-प्राप्त करते हैं।^{२३} द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रत्यय पर हैं तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति स्व प्रत्यय

है। बाह्य प्रत्ययों के रहने पर भी यदि द्रव्य में स्वयं उस पर्याय की योग्यता न हो तो पर्यायान्तर की प्राप्ति नहीं हो सकती। दोनों मिलने पर ही पर्याय उत्पन्न होती है। जैसे पकने योग्य उड़द यदि बोरे में पड़ा है तो पाक नहीं हो सकता। यदि घोटक (न पकने योग्य) उड़द उबलते हुए पानी में भी डाला जाये तो भी नहीं पकता।^{१४} इस तरह कर्म और कर्तृ साधन बन जाने से स्याद्वादियों के यहाँ विरोध दोष नहीं आता। परन्तु सर्वथा एकान्तवादियों के यहाँ विरोध होने से कर्तृ, कर्म व्यवस्था नहीं बन सकती। उनके यहाँ द्रव्यों का पर्यायों में अनुगमन नहीं बन सकता, जिससे पर्यायें स्वमेव असिद्ध हैं। वस्तुतः द्रव्य के पराधीन हो रहे स्वभावों को ही पर्यायत्व सिद्ध होता है, सर्वथा भेद में नहीं।^{१५} तात्पर्य यह कि गुणों और पर्यायों का द्रव्य में नित्य योग बना रहता है, अविनाशी गुण तो द्रव्य में सदा विद्यमान रहते हैं। उत्पाद विनाश शील पर्यायें-विशेष रूप में कदाचित् पायी जा रहीं सदा नहीं ठहरतीं, परन्तु सामान्य की अपेक्षा कोई न कोई पर्याय द्रव्य में बनी ही रहती हैं। जैसे आत्मा में चेतन गुण नित्य विद्यमान हैं, परन्तु चेतना गुण के परिणाम घटज्ञान, पटज्ञान, श्रुतज्ञान, चक्षुदर्शन आदि कदाचित् ही होते हैं। पर्यायें सदा अवस्थित नहीं रहतीं।

गुणपर्यायवान् द्रव्य के लक्षण का प्रयोजन :

द्रव्यों का समुदाय सत् महाद्रव्य है। जिसका लक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि व्यवहार नय के अनुसार अर्पण करने पर उनमें द्रव्यत्व है। उसका असाधारण लक्षण गुणपर्यायत्व है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य का लक्षण 'क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्'^{१६} माना गया है। अर्थात् जो क्रियावान्, गुणवान् तथा समवायिकारण है, वह द्रव्य है। उनके यहाँ आकाश, काल, दिक्, आत्मा इन चार द्रव्यों को व्यापक मानकर क्रिया रहित स्वीकार किया गया है तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पांच द्रव्यों में ही क्रिया मानी गई है। आचार्य विद्यानंद ने लिखा है कि वैशेषिक का उक्त द्रव्य लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि क्रिया सहित उस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है तथा क्रिया रहित आकाश आदि द्रव्यों में क्रिया का अभाव है। इसी तरह गुणवत्त्व लक्षण भी अव्याप्ति दोष से युक्त है। समवायिकारणत्व भी द्रव्य का लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि इससे गुण और कर्म भी द्रव्यत्व को प्राप्त हो जायेंगे। इनमें समवाय सम्बन्ध से गुणत्व और कर्मत्व जाति समवेत हो रही है। यही उनकी समवायित्व से कारणता है।

वैशेषिक का यह कहना भी निराधार है कि गुणत्व और कार्यत्व सामान्य है। किसी के कार्य नहीं है। इसलिए इनके समवायिकारण गुण या कर्म नहीं हो सकते। क्योंकि सामान्य सदृशपरिणाम लक्षण वाला है, जिसमें कथंचित् कार्यपना सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए गुणत्व, कार्यत्व और सामान्यों का कथंचित् अनित्यत्व भी अनिष्ट नहीं है। सर्वथा नित्य पदार्थों में प्रत्यभिज्ञान का होना असंभव है, इस दृष्टि से सामान्य को कथंचित् नित्य भी कहा जा सकता है।^{१७}

गुणवद् द्रव्यम् और पर्यायवद् द्रव्यम् :

गुणवद् द्रव्यम् और पर्यायवद् द्रव्यम् अनेकान्त की सिद्धि के लिए कहा गया है। द्रव्य के सहभावी परिणाम गुण हैं। अनन्तधर्मात्मक द्रव्य में गुणों की अपेक्षा सहानेकान्त है। क्रमभावी अंश पर्यायें हैं, ऐसी अनेक पर्यायों की अपेक्षा क्रमानेकान्त है। क्रम और युगपद्रूप में अर्थक्रिया करने वाली वस्तु सत् है। दोनों में से कोई एक को मानने पर वस्तु स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता।^{१८}

योगाचार-विज्ञानवादी ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार के रूप में एक संवेदन को ग्रहण करने वाले एक बहिरंग और अंतरंग तत्त्व में एकसाथ अनेक धर्मों के अधिकरण का प्रतिक्षेप करते हैं, वे कैसे परीक्षक हो सकते हैं, वेद्य, वेदक, वित्ति, वेत्ता इन आकरों के पृथक् भाव को परोक्ष रूप से जान रहे ज्ञान में सम्वेदन आकार को भी प्रत्यक्ष रूप जानने की इच्छा रखते हुए वे बौद्ध वस्तु में एकसाथ विद्यमान अनेक धर्मों के निराकरण करने में समर्थ नहीं है। इसलिए उन्हें सहानेकान्त अवश्य स्वीकार करना चाहिए। बौद्धों का यह कहना भी असंगत है कि शुद्ध सम्वेदनाद्वैत में प्रत्यक्ष आकार और परोक्ष आकार वास्तविक नहीं है, कल्पित हैं। सम्वेदन तो स्वकीय स्वरूप में ही संलग्न है। इसका प्रत्युत्तर जैनाचार्य यह देते हैं कि इसमें तो परमार्थभूत और अपरमार्थभूत आकार वाला एक सम्वेदन वलात् आ जाता है। यह कहना भी न्याय संगत नहीं है। कि विज्ञान का परमार्थ आकार ही वास्तविक सत् है, संवेदन का कल्पित आकार सत् नहीं है क्योंकि इससे तो विज्ञानवादियों ने एक समय में सत्त्व स्वभाव और असत्त्व स्वभाव से आक्रान्त हो रहे एक सम्वेदन को स्वीकार ही कर लिया है। अनेकान्तवाद में कथंचित् असत्त्व दोनों धर्म एक सम्वेदन में व्यवस्थित हो जाते हैं अन्यथा एकान्त रूप में किसी के

यहां भी अभीष्ट तत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकती। वस्तुतः वस्तु का वस्तुत्व, अपने स्वरूप का उपादान और परकीय रूप का परित्याग इस व्यवस्था से आपादन करने योग्य है। इसलिए सहानेकान्त अवश्य स्वीकार करना चाहिए क्योंकि एक शुद्ध ज्ञान में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों आकार विद्यमान हैं। गुणवद् द्रव्यम् कहने का प्रयोजन यही सिद्ध करता है।^{१९}

‘क्रमवर्तिनः पर्यायाः’ पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं। प्रत्येक गुण की एक समय में एक पर्याय होती है। इस तरह से अनन्तानन्त पर्यायें क्रम से होती रहती हैं। सूत्रकार ने इसलिए पर्ययवद् द्रव्यम् कहा है। क्रम अनेकान्त और अक्रम अनेकान्त का निराकरण करने वाले बौद्ध, सांख्य, ब्रह्माद्वैतवादियों आदि का निराकरण ‘गुणपर्ययवद् द्रव्यम्’ से हो जाता है।^{२०} आचार्य विद्यानंद ने तीन प्रकार के एकान्तवादियों के प्रति तीन सूत्रों का समुदाय समझाकर न्यायिक व्यवस्था दी है -

१. द्रव्यम् (पक्ष) गुणवत् (साध्य) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु)
 २. द्रव्यम् (पक्ष) पर्ययवत् (साध्य) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु)
 ३. द्रव्यम् (पक्ष) गुणपर्ययवद् (साध्य) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु)
- गुण और पर्याय में अन्तर :

गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। इन दोनों से युक्त द्रव्य होता है तथा वह अयुतसिद्ध और नित्य होता है।^{२१} द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः^{२२} अर्थात् जो द्रव्य के आश्रित हों, गुण रहित हों, वे गुण हैं। वस्तुतः गुणों के द्वारा ही द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि भेदक गुण न हों तो द्रव्यों में सांकर्य उत्पन्न हो जाये। जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और गुण रहित हैं, वे गुण हैं। यह स्पष्ट होते हुए भी कि द्रव्य आधार है और गुण आधेय, पर गुण द्रव्य से कथंचित् अभिन्न है। गुण का दूसरा नाम विशेष भी है, जो स्वयं विशेष रहित हों, वे गुण हैं। जैस द्रव्य में गुण पाये जाते हैं, गुण में अन्य गुण नहीं रहते। गुण पर्यायों में भी पाये जाते हैं क्योंकि वे भी द्रव्य के आश्रय से रहते हैं। इसलिये पर्यायें भी विशेष रहित होती हैं। परन्तु गुण का लक्षण पर्यायों में नहीं जाता क्योंकि पर्यायें कदाचित् होती हैं।^{२३} सूत्रकार ने लिखा है कि ‘तद्भावः परिणामः’^{२४} द्रव्य का जो परिणाम होता है, वह परिणाम पर्याय है। पर्याय व्यतिरेकी होते हुए भी वह

द्रव्य से कथंचित् ऐक्य है, क्योंकि उनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इनमें जो भेद या नानात्व पाया जाता है, उसके निम्न कारण है^{३५}—

१. द्रव्य और पर्याय में परिणाम का भेद है।
२. दोनों में शक्तिमान और शक्तिभाव का भेद है।
३. दोनों में संज्ञा का भेद है।
४. दोनों में संख्या का भेद है।
५. दोनों में स्वलक्षण का भेद है और
६. प्रयोजन का भेद है।

पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्याय अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए दोनों को वास्तविक मानना आवश्यक है। इस प्रकार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य में आचार्य विद्यानंद द्वारा विभिन्न एकान्तवादियों द्वारा मान्य द्रव्य के लक्षण की समीक्षा करके सूत्रकार द्वारा बताये गये द्रव्य लक्षण को ही युक्तियुक्त सिद्ध किया है। तीर्थकरों के परम्परा से प्राप्त अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व के चिंतन के आलोक में सत्, द्रव्य, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य गुण और पर्याय आदि वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक पारिभाषिक शब्दों की व्युत्पत्तिपरक प्रमाणिक अर्थसंगति बैठाकर स्याद्वाद पद्धति से स्वसिद्धान्त को मण्डित किया है तथा न्यायवैशेषिक, बौद्ध, सांख्ययोग, ब्रह्माद्वैत आदि विभिन्न संप्रदायों के द्रव्य स्वरूप विषयक एकपक्षीय दृष्टिकोणों के प्रत्येक पक्ष को गंभीरता से पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उनमें गुण दोषों के उद्भावन पूर्वक द्रव्य के स्वरूप की कथंचित् नित्यानित्यात्मक एवं भेदाभेदात्मक व्यवस्था दी है। यद्यपि कि आचार्य विद्यानंद से पूर्व उन्हें आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक जैसे प्रखर तार्किक जैन नैयायिकों का प्रगाढ़ चिंतन उपलब्ध था, पर जैनेतर एकान्तवादी दर्शनों के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्गीकरण कर उनका विस्तृत समीक्षण प्रस्तुत किया जाना उनके अद्भुत वैदुष्य का परिचायक है।

संदर्भ :

१. आचार्य विद्यानंद, त० श्लोक, पुस्तक ६, भाषा टीकाकार पं. माणिकचंद कौन्देय, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापुर, द्वि० सं० सन् २०११
२. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, ५.२९
३. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ५.३०

४. डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, समन्तभद्र अवदान, स्याद्धाद प्रसारिणी सभा, जयपुर, प्र० सं० सन् २००१.

५. त० श्लोक ५, १, पृष्ठ ३४८, ४३९

८. त० सूत्र, ५.२०

१०. वही, ५.३५२.५३

१२. वही, ३५३, ३५६

१४. त० श्लोक ३५८

१६. त० श्लो० ३५९, ३६०

१८. वही, ५.३२

२०. त० सूत्र, ५.३९

२२. त० सूत्र, ५.२

२४. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, ५.२

२६. वैशेषिक दर्शन, १.१.१५

२८. वही, ५.३९ ३९७

३०. वही, ३९९

३२. त० सूत्र ५.४१

३४. त० सूत्र, ५.४२

३५. आचार्य समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, ७१ और ७२

६. वही, ३४९ ७. वही, ३५०

९. त० श्लोक ५.३०.३५१

११. वही, ३५३, ३५४

१३. त० सूत्र, ५.३०

१५. आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्रम् ४३

१७. त० सूत्र, ५.३०

१९. वही, ५.३२, ३६४, ३६५

२१. त० श्लोक ५.३९.३९३

२३. त० श्लोक ५.२.१६

२५. त० श्लो० ५.२

२७. त० श्लो० ५.३८ पृष्ठ, ३९५

२९. वही, ४००

३१. सर्वार्थसिद्धि, ५.३८

३३. स० सि० ५.४१

- II A- 78, नेहरुनगर,
गाजियाबाद (उ०प्र०)

जैनशिक्षा-पद्धति की वर्तमान में प्रासंगिकता

- श्रीमती प्रेमलता*

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का एकाग्र रूप से अध्ययन करने की दृष्टि से जैन शिक्षा पद्धति का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भारत में श्रमण और ब्राह्मण (या वैदिक) शिक्षा पद्धतियों का समानान्तर विकास हुआ है। श्रमण परम्परा के अंतर्गत ही जैन और बाद में बौद्ध शिक्षा पद्धति विकसित हुई। प्राचीन भारत में शिक्षा का विकास मूलतः ब्राह्मण और श्रमण विचारधारा जैन और बौद्ध दो धाराओं में विभक्त हो गयी। फलस्वरूप शिक्षा का भी तीन धाराओं में विकास हुआ -

१. वैदिक शिक्षा पद्धति
२. जैन शिक्षा पद्धति
३. बौद्ध शिक्षा पद्धति

जैन शिक्षा वैदिक शिक्षा की तरह निःश्रेयस् या मोक्ष मूलक रही है, किन्तु वैदिक शिक्षा के साथ अनेक समानताएँ होने पर भी जैनशिक्षा के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। वैदिकशिक्षा जिस प्रकार ऋषियों पर केन्द्रित थी, उसी प्रकार जैन शिक्षा के केन्द्र भी मुनि या श्रमण थे। किन्तु ऋषियों की तरह आश्रम-व्यवस्था स्वीकार न करने के कारण जैन शिक्षा का स्वरूप वैदिक शिक्षा से भिन्न रूप में विकसित हुआ। आश्रम पद्धति को स्वीकार न करने के कारण जैन शिक्षा के प्रायः वैसे केन्द्र न बन सके, जैस कि ऋषियों के आश्रम या तपोवन के रूप में वैदिक शिक्षा में विकसित हुए, बाद में मन्दिर, तीर्थ, स्वाध्यायशाला आदि के रूप में जैन परम्परा शिक्षा और संस्थानों का विकास हुआ।

जैन परम्परा में पांच परमेष्ठी माने गए हैं। इन्हें ही वास्तविक गुरु माना गया है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठियों के रूप में परिणमन किया गया है। उपाध्याय का कार्य मुख्य रूप से शिक्षा का होता था।

जैन शिक्षा पद्धति में शिक्षण की सोलह विधियाँ बताई गई हैं- १. निसर्ग विधि २. अधिगम विधि ३. निक्षेप विधि ४. प्रमाण विधि ५. नय विधि ६. (क) स्वाध्याय विधि (ख) प्रश्नोत्तर विधि ७. पाठ विधि ८. श्रवण विधि ९. पद विधि १०. पदार्थ विधि ११. प्ररूपणा विधि १२. उपक्रम विधि १३. व्याख्या विधि १४. शास्त्रार्थ विधि १५. कथा, रूपक, तुलना उदाहरण विधि १६. संगोष्ठी विधि।

जैन परम्परा में शिक्षण विधि का व्यवस्थित क्रम सदाकाल से चला आ रहा है। भगवान महावीर ने कहा था- जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते हैं, वैसे ही शिष्यों को नित्य प्रतिदिन और प्रतिरात शिक्षा देनी चाहिए।^१

१. निसर्ग विधि^२ - निसर्ग का अर्थ- स्वभाव। स्वयंप्रज्ञ व्यक्ति को आचार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रहती। प्राप्त जीवन में वे स्वतः ही ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों को पूर्व संस्कारवश सीखते जाते हैं- तत्त्वों का सम्यक् बोध स्वतः प्राप्त करते हैं। उनका जीवन ही प्रयोगशाला होता है। यह निसर्ग विधि है।

२. अधिगम विधि^३ - अधिगम का अर्थ - पदार्थ का ज्ञान। दूसरों के उपदेशपूर्वक पदार्थों का जो ज्ञान होता है, वह अधिगमज कहलाता है।

इस विधि के द्वारा प्रतिभावान तथा अल्पप्रतिभा युक्त सभी प्रकार के व्यक्ति तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। निसर्ग विधि में प्रज्ञावान व्यक्ति की प्रज्ञा का स्फुरण स्वतः होता है किन्तु अधिगम विधि में गुरु का होना अनिवार्य है। गुरु के उपदेश से जीवन और जगत् के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना, यही अधिगम विधि है।

अधिगम विधि के दो भेद हैं - १. स्वार्थाधिगम २. परार्थाधिगम।

३. निक्षेप विधि - संकेत-काल में जिस वस्तु के बोध के लिए जो शब्द गढ़ा जाता है वह वही रहे तब कोई समस्या नहीं आती। किन्तु ऐसा होता नहीं। वह आगे चलकर अपने क्षेत्र को विशाल बना लेता है। उससे फिर उलझन पैदा होती है और वह शब्द इष्ट अर्थ की जानकारी देने की क्षमता खो बैठता है। इस समस्या का समाधान पाने के लिए निक्षेप पद्धति है।

जैन ग्रन्थों में निक्षेप का सामान्य लक्षण इस प्रकार है- संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप वस्तु को निकालकर जो निश्चय में क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते हैं।^४ अर्थात् जो अनिर्णीत वस्तु का नामादिक द्वारा निर्णय

करावे, उसे निक्षेप कहते हैं। निक्षेप का दूसरा नाम न्यास भी है। तत्त्वार्थसूत्रकार⁴ ने निक्षेप के स्थान पर न्यास शब्द का प्रयोग किया है।

४. प्रमाण विधि⁵ – संशय आदि से रहित वस्तु का पूर्ण रूप से ज्ञान कराना प्रमाण विधि है। इस विधि के अंतर्गत ज्ञेय वस्तु के विषय में संपूर्ण जानकारी दी जाती है।

जैन आचार्यों ने प्रमाण का विस्तृत विवेचन किया है। सर्वार्थसिद्धि में प्रमाण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है- “जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमितिमात्र प्रमाण है।”⁶ कसायपाहुड के अनुसार- “जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाए, उसे प्रमाण कहते हैं।”⁷

५. नय विधि – वक्ता के अभिप्राय या वस्तु के एकांशग्राही ज्ञान को नय कहते हैं।

धवला ने नय नय का निरुत्यर्थ इस प्रकार दिया है- जो उच्चारण किए गए अर्थपद और उसमें किए गए निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देता है, इसलिए वह नय कहलाता है।⁸

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में भी - जीवादि पदार्थों को जो ले जाते हैं, प्राप्त कराते हैं, बनाते हैं, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रकट कराते हैं, उसे नय कहते हैं।⁹ मूलभूत नय दो हैं - १. द्रव्यार्थिकनय २. पर्यायार्थिकनय।

द्रव्य नित्य है, अतएव नित्यता को ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है। पर्याय अनित्य है, अतः पर्याय को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

६. (क) स्वाध्याय विधि – विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वाध्याय विधि का उपयोग किया जाता था। आचार्य जिनसेन ने स्वाध्याय की महिमा का वर्णन महापुराण में इस प्रकार किया है- ‘स्वाध्यायेन मनोरोधस्ततो क्षाणां विमिर्जय.....’ अर्थात् स्वाध्याय करने से मन का निरोध होता है और मन का निरोध होने से इन्द्रियों का निरोध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में स्वाध्याय के लिए पाँच तरीके बताये गये हैं - वाचनापृच्छानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः¹⁰ अर्थात् १. वाचना २. पृच्छना ३. अनुप्रेक्षा ४. आम्नाय ५. धर्मोपदेश ये पाँच प्रकार के स्वाध्याय हैं।

१. वाचना - भव्य जीवों के लिए शक्त्यनुसारा ग्रंथ की प्ररूपणा एवं शिष्यों को पढ़ाने का नाम वाचना है।^{१२}
२. पृच्छना - संशय का उच्छेद करने के लिए अथवा निश्चित विषय को पुष्ट करने के लिए प्रश्न करना पृच्छना है।^{१३}
३. अनुप्रेक्षा- सुने हुए अर्थ का श्रुत के अनुसार चिंतन करने को भी अनुप्रेक्षा कहते हैं।^{१४}
४. आम्नाय - उच्चारण की शुद्धिपूर्वक पाठ को पुनः पुनः दोहराना आम्नाय है।^{१५}
५. धर्मोपदेश - इस विधि का उपयोग उसी समय किया जाता है, जब शिष्य प्रौढ़ हो जाता है और उसका मस्तिष्क विकसित हो प्रमुख विषयों को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। आदिपुराण में आदि तीर्थंकर इसी विधि के अंतर्गत लिया जा सकता है।^{१६}
६. (ख) प्रश्नोत्तर विधि- प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग जैन वाङ्मय में कई जगह आया है। अनेक प्रकार के प्रश्न उपस्थित कर उन प्रश्नों के उत्तर द्वारा विषयों का अध्ययन कराया तथा समस्या पूर्तियों या पहेलियों द्वारा बुद्धि को तीक्ष्ण करना इसका उद्देश्य है। यद्यपि इस विधि को पृच्छना के अंतर्गत भी रखा जा सकता है। यहाँ ज्ञानवर्द्धन हेतु कतिपय प्रश्नों और उत्तरों को प्रस्तुत किया जाता है-

वट वृक्षः पुरो यं ते धनच्छायः स्थितो महान्।

इत्युक्तोऽपि न तं धर्मेऽश्रितः कोऽपि वदाद्भुतम्॥^{१७} (स्पष्टान्धकम्)

उपनिषदों की शिक्षा एवं समयसार की शिक्षा प्रश्नोत्तर विधि से ही संपन्न की जाती थी।

७. पाठ विधि - गुरु शिष्यों को पाठविधि द्वारा अंक और अक्षर-ज्ञान की शिक्षा देता है। वह किसी काष्ठ पट्टिका के ऊपर अंक या अक्षर लिख देता है। शिष्य उन अक्षरों या अंकों का अनुकरण करता है। बार-बार उन्हें लिखकर कण्ठस्थ करता है। आजकल भी यह शिक्षा प्राथमिक शालाओं (प्राइमरी स्कूलों) में दी जाती है। ऋषभदेव ने अपनी कन्याओं को इसी विधि से शिक्षित किया था। यथा -

इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्ठके।

अधिवास्य स्वचितस्थां श्रुतदेवी सपर्यया॥
 विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम्।
 उपादिशल्लिपिं संख्यास्थानं चांकेरनुक्रमात्॥^{१८}

इस विधि में मूलतः तीन शिक्षा तत्त्व परिगणित हैं - १. उच्चारण की स्पष्टता, २. लेखनकला का अभ्यास और ३. तर्कात्मक संख्या प्रणाली।

८. श्रवण विधि - जिनभद्र गणी ने अपने विशेषावश्यकभाष्य^{१९} ग्रन्थ में श्रवण विधि में कई तरह से श्रवण के तरीकों का उल्लेख किया है।

सर्वप्रथम गुरु के मुख से चुप होकर सुने। दूसरी बार उसे हाँ करके स्वीकार करें। तीसरी बार 'बहुत अच्छा' कहकर अनुमोदन करें। चौथी बार उस विषय की मीमांसा करें। पांचवीं बार उक्त प्रसंग को पूरी तरह पारायण कर लें और छठी बार गुरु के समान स्वयं उस विषय को अभिव्यक्त करें। शिक्षा के किसी भी विषय-विशेष में पारंगत होने का यह क्रम है। इससे विवक्षित विषय का पूरा व्याख्यान करने को शिष्य पूरी तरह समर्थ हो जाता है।

९. पद विधि - 'पद्यन्ते ज्ञायन्तेऽनेनेति पदम्' - जिसके द्वारा (अर्थ) जाना जाता है, वह पद है।^{२०} जिसका जिसमें अवस्थान है वह पद अर्थात् स्थान कहलाता है।^{२१}

इसके पाँच भेद हैं - १. नामिक २. नैपातिक ३. औपसर्गिक ४. आख्यानिक और ५. मिश्र।

१०. पदार्थ विधि - द्रव्य और भावपूर्ण पदों की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करना इस विधि का लक्ष्य है। वैदिक परम्परा में वेद के अध्ययन के हेतु स्वर पाठविधि का जिस प्रकार प्रचलन था उसी प्रकार पदार्थविधि द्वारा आगमों के अध्ययन के लिए इस विधि का उपयोग किया जाता था।

११. प्ररूपणा विधि - वाच्य-वाचक, प्रतिपाद्य-प्रतिपादक एवं विषय-विषयी भाव की दृष्टि से शब्दों का आख्यान करना प्ररूपणा विधि है।

प्ररूपणा विधि के आठ भेद हैं^{२२} - १. सत् २. संख्या ३. क्षेत्र ४. स्पर्शन ५. काल ६. अन्तर ७. भाव ८. अल्प बहुत्व।

१२ उपक्रम विधि^{२३} - जिसके द्वारा श्रोता प्राभृत (शास्त्र) को उपक्रम्यते अर्थात् समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं।

जिन मनुष्यों ने किसी शास्त्र के नाम, आनुपूर्वी, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाकार नहीं जाने हैं वे उस शास्त्र के पठन-पाठन आदि क्रियाफल के लिए

प्रवृत्ति नहीं करते हैं। अर्थात् नाम आदि जाने बिना मनुष्यों की प्रवृत्ति प्राभृत के पाठन में नहीं होती है, अतः उनकी प्रवृत्ति कराने के लिए उपक्रम कहा जाता है।

१३. व्याख्या विधि^{२४} - शब्दों द्वारा सामान्य या विशेष रूप से जितना भी व्याख्यान किया जाता है वह सब भाषा के अन्तर्गत आता है। भाषा ही अभिव्यक्ति का माध्यम है।

व्यक्ति की वाणी द्वारा सामान्य सीधी-साधी अभिव्यक्ति ही भाषा है। विभाषा अभिव्यक्ति या व्याख्या की ऊपर की कड़ी है। इसमें पर्यायवाची शब्दों द्वारा मूल का विशेष व्याख्यान किया जाता है।

विभाषा के सम्बन्ध में धवलाकार लिखते हैं -

‘विविहा भासा विहासा, परूपणा निरूपणा वक्खाणमिदि एयुो ।’

अर्थात् विविध प्रकार के भाषण अथवा कथन करने को विभाषा कहते हैं^{२५}। विभाषा, प्ररूपणा, निरूपण और व्याख्यान ये सब एकार्थक नाम है।

१४. शास्त्रार्थ विधि - शास्त्रार्थ विधि प्राचीन शिक्षा पद्धति की एक प्रमुख विधि है। इस विधि में पूर्व और उत्तरपक्ष की स्थानापूर्वक विषयों की जानकारी प्राप्त की जाती है। एक ही तथ्य की उपलब्धि विभिन्न प्रकार के तर्कों, विकल्पों और बौद्धिक प्रयोगों द्वारा की जाती है।

जैन वाङ्मय में शास्त्रार्थ के दो रूप उपलब्ध होते हैं - १. पत्र परीक्षा २. ग्रन्थ परीक्षा। शास्त्रार्थ का दूसरा नाम विजिगीषु कथा है।

१५. कथा, रूपक, तुलना उदाहरण विधि- प्राचीन जैन वाङ्मय में भी वैदिक और बौद्ध साहित्य की तरह कथा रूपक, तुलना, उदाहरणादि से दर्शन, न्याय, नीति आदि की शिक्षा देने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। गुरु को किस प्रकार अपने गुरुकुल में शिष्य को अच्छी तरह परीक्षण कर स्थान देना चाहिए और किसी प्रकार उसे उचित शिक्षा देनी चाहिए। इसके लिए विशेषावश्यकभाष्य और आवश्यक निर्युक्ति की एक गाथा से स्पष्ट है-

गोणी चंदण कंथा चेडीसो सा वए वहिर गोहे।

टंकण ववहारो पडिवक्खो आयरिय-सीसे।^{२६}

१६. संगोष्ठी विधि- पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन काल में आधुनिक काल की तरह संगोष्ठी (सेमिनार) का आयोजन होता था जिसमें नाना प्रकार की विद्याओं के सम्बन्ध में चर्चाएँ होती थी। विद्या संवाद गोष्ठी (आदिपुराण ७/६५) में सभी विद्याओं की चर्चा-वार्ता होती थी। दर्शन, काव्य, कथा, कामशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, भूगोल, प्रभृति, विषयों की चर्चा की जाती थी। गोष्ठियों के पुरातन रूप का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि विद्या संवाद गोष्ठी में ग्यारह या पन्द्रह सदस्य भाग लेते थे। एक-एक विद्या का जानकार एक-एक विद्वान होता था। ये सभी विद्वान शास्त्रार्थ-शास्त्र चर्चा वीतराग कथा के रूप में करते थे।^{१७}

निष्कर्ष : निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं-

१. प्राचीन भारत में ब्राह्मण और श्रमण शिक्षा पद्धतियों का समानान्तर रूप में विकास हुआ।
२. जैन शिक्षा पद्धति में श्रमण या साधु शिक्षा के केन्द्र अवश्य थे, किन्तु आचार विषयक नियमों के कारण वे एक-स्थान पर स्थिर होकर नहीं रह सकते थे।
३. ब्राह्मण शिक्षा पद्धति में शिक्षा प्रवृत्तिमूलक थी, जबकि श्रमण शिक्षा निवृत्तिमूलक।
४. जैन शिक्षा मूलतः मोक्षमूलक थी, किन्तु उसका उद्देश्य, सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र द्वारा व्यक्तित्व का समग्र विकास करना था।
५. जैन शिक्षा पद्धति में शिक्षा विधि की अपनी विशेषताएँ थी।
६. जैन शिक्षा बहुआयामी थी। ज्ञान विज्ञान का कोई जैन आचार्यों ने अछूता नहीं छोड़ा।
७. जैन शिक्षा पद्धति में शिक्षा के माध्यम के विषय में किसी भाषा विशेष पर आग्रह नहीं देखा जाता। विश्व के पहले शिक्षाशास्त्री जैनाचार्य हैं।

जिन्होंने सर्वप्रथम शिक्षा का माध्यम मातृभाषा एवं लोकभाषाओं को बनाने में विशेष योगदान दिया। कारण है कि उस समय की लोकभाषाओं को बनाने में विशेष बल दिया। यही कारण है कि उस समय भी लोकभाषाओं-अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि में उन्होंने यथेष्ट साहित्य का सृजन भी किया। जिसके आधार पर अधिकारपूर्ण कहा जा सकता है कि

आधुनिक बुनियादी शिक्षा (Basic Education) के मूल बीज का वपन आज से २५०० वर्ष पूर्व उन्होंने कर दिया था।

वर्तमान में प्रासंगिकता -

आज वर्तमान में हम यदि जैन शिक्षा के तत्त्वों को अपनी आधुनिक शिक्षा पद्धति में समावेश करें तो हम काफी हद तक शिक्षा में व्याप्त विसंगतियों से निजात पा सकते हैं जैसे- जैन शिक्षा में गुरु की महत्ता निस्प्रेय थी, आज वर्तमान में यही एक बहुत बड़ी महत्ता है। देश में हिंसा, झूठ, चोरी अपराध इतना भयंकर बढ़ा हुआ है, परन्तु दूसरी तरफ जैन नैतिक शिक्षा का प्रभाव जन-जीवन पर इतना अधिक हुआ कि सहस्रों वर्षों के बाद आज भी जैन धर्मावलम्बियों में अपराध वृत्ति नहीं के बराबर देखी है।^{१८} यह तथ्य सर्वेक्षण द्वारा भी प्रमाणित हुई।^{१९} यह नैतिक शिक्षा का ही प्रभाव है जैन परम्परा में शाकाहार को ही प्रतिष्ठा मिली तथा मादक द्रव्यों को कठोरतापूर्वक निषेध किया।

संदर्भ :

१. श्री आचारांगसूत्रम्, १/६/३, पृ. १०६: संपादक शोभाचन्द्र भारिल्ल श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया, नवम्बर २९६०
२. 'निसर्ग स्वभावः इत्यर्थः। यद्वाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्। (सर्वार्थसिद्धि, १/३/१२/३) 'निसृज्यत इति निसर्गः प्रवर्ततम्'। सर्वार्थसिद्धि १/९/३२६/६ राजवार्तिक १/३/२२/१६ तथा ६/९/२/५१६/२
३. अधिगमोऽर्थावबोधः। यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यगमनिमित्तं तदुत्तरम्। सर्वार्थसिद्धि, १/३/१२
४. धवला ४/३/, १/२/६, १/१, १, १/१०/४, १३/५/३, ५/३/११, १३/५? ५, ३/१९३/४ - कसायपाहुडं
५. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्नयासः - तत्त्वार्थसूत्र, १/५, पृ. ११, विवेचनकर्ता पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री। षट्खण्डागम १३/५, ५ सूत्र ४/१९८, - धवला १/१, १, १/८३/१
६. प्रकर्षेण मानं प्रमाणं, सकलादेशीत्यर्थः। धवला भाग ९, ४/१, ४५/१६६/१
७. प्रमिणोति प्रमीयते अनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्। १. सर्वार्थसिद्धि, १/१०, ९८/२ २. राजवार्तिक, १/१०/१/४९/१३
८. प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। कसायपाहुड १/१/१, २७/३७/६। आप्तपरीक्षा ८१ स्याद्वादमंजरी, २०/३०७/१८। न्यायदीपिका १/१०/११
९. धवला १/१, १/३, ४/१०
१०. तत्त्वार्थसूत्र ९/२५, पृ. ४३४ : विवेचक पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री (पचविहे सज्जाये प्रणते, तं जहा-वाचणा १, पुच्छण्धा २,
११. परियट्ठणा ३, अनुप्पेहा ४, धम्मकहा ५।। सूत्र २७।।)- स्थानांगसूत्रम् (चतुर्थोभाग)
१२. 'शिष्याध्यापनं वाचना' - धवला ९/४/, १-५४, २५२/६

१३. संशयोच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छना। सर्वार्थसिद्धि ९/२५/४४३/४
१४. कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि - मज्जाणुगयस्स सुदणाणरस परिमलणमणुपेक्खणा णाम। धवला ९/४, १, ५५/२६३/१ सुदत्थस्स सुदाणुसारेण चिन्तणमणुपेहणं णाम। धवला १४, ४६, १४/९/५
१५. 'घोष शुद्धं परिवर्तनाम्नायं' - सर्वार्थसिद्धि ९/२५/४४३/५, तत्त्वार्थसार, ७/१९, अनगार धर्माभूत ७/८७/७१६
१६. आदिपुराण (महापुराण) २१/९६, २३/६९-७२, २४/८५-१८०
१७. महापुराण, १२/२२६
१८. महापुराण, षोडश पर्व, १०३-१०४, पृ. ३५५
१९. विशेषावश्यकभाष्य, सं० डॉ. नथमल टाटिया, पृ. १६८-६९
२०. न्यायबिन्दु, टीका १/७/१४०/१९
२१. जस्स जम्हि अवट्ठाणं तस्स तं पदं पयत गम्यते परिच्छिद्यते इति पदं। - धवला १०/४/, २, ४. १/१८/६ जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश भाग ३, पृ. ५
२२. सर्वार्थसिद्धि १/८
२३. कसायपाहुड (जयधवला) १/९/११/७
२४. विशेषावश्यकभाष्य (श्रीमज्जिनाद्रगणि क्षमाश्रमण विरचितं श्रीमत्कोटयाचार्यकृतवृत्त विभूषितम्), संपादक डॉ. नथमल टाटिया, प्रथम सं. पृ. ३५१-५२.
२५. धवला - ६, १, ९-१, ३/५/३
२६. (क) विशेषावश्यकभाष्यम्॥१४३७॥ निर्युक्ति १३१, (ख) आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका ४६/१३६। विशेष संदर्भ मूल टीका में
२७. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत : डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, पृ. २५०
२८. Mrs. Sinclair Stevenson, M.A.I, Sc.D. : The Heart of Jainism, Chapter 2 P.20. O.U.P. 1915
29. Dr. Vilas Adinath Sangave : Jain Community : A Social Survey, P. 341, Popular Book Depot, Bombay, 1959.

- शोधछात्रा, जैनदर्शन विभाग,
श्रीलाल बहादुरशास्त्री रा. संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली-११००१६

श्रावकाचार एक वैज्ञानिक जाँच पड़ताल

- मनमोहन जैन

जैन परम्परा में गृहस्थ श्रावक (सागार) के लिए जिस आचारधर्म का पालन किया जाता है, उसके प्ररूपक कई ग्रंथ श्रावकाचार नाम से प्रसिद्ध है, यथा :

१. आचार्य समंतभद्र (ई. दूसरी) कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार
२. आचार्य योगेन्द्रदेव (ई. छठी) कृत नवकार श्रावकाचार
३. आचार्य अमितगति (ई. ९८३-१०२३) - श्रावकाचार
४. आचार्य वसुनंदि ३ (ई. १०४३-१०५३) - श्रावकाचार
५. पं. आशाधर (ई. ११७२-१२४३)- धर्मामृत-अनागार एवं सागार
६. आचार्यपद्मनंदि (ई. १३०५) - श्रावकाचार
७. आचार्य सकलकीर्ति (ई. १४३३-१४४२) - प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
८. आचार्य तारण तरण (वि.सं. १५०५-१५७२) - श्रावकाचार

सामान्यतः श्रावक के आचार को लक्ष्य कर लिखे गए श्रावकाचार ग्रंथों में धर्म का स्वरूप, ज्ञान की आराधना, तप, षट् आवश्यक आदि विषयों सहित भोजन संबन्धी आचार एवं दोषों का विवरण मिलता है। यहाँ जैन धर्मभूषण धर्म दिवाकर ब्र. शीतलप्रसाद ने 'तारण तरण श्रावकाचार' ग्रंथ की टीका करते समय भूमिका में जो कथन किया है कि - "प्रायः जो श्रावकाचार प्रचलित है, उनमें व्यवहारनय का कथन अधिक है परन्तु इस ग्रंथ में निश्चयनय की प्रधानता से व्यवहार का कथन है।"-

सम्यग्दर्शनं न्यानं, चारित्रं सुध संयमं।^१

जिनरूपं सुध दव्वार्थ, साधओ साधु उच्यते॥४४८॥

अन्वयार्थ- जो (सम्यग्दर्शनं न्यान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र को (सुध संयमं) शुद्ध संयम को, (जिनरूपं) जिनेन्द्र के स्वरूप को (सुध दव्वार्थ) शुद्ध आत्म द्रव्य के भाव को (साधओ) साधन करते हैं, वे (साधु उच्यते) साधु कहलाते हैं।

संपूर्ण मानवता के कल्याण के लिए जैन दर्शन की, तर्कपूर्ण एवं विज्ञान सम्मत अनूठी देन इस प्रकार है- १. जल गालन, २. रात्रि भोजन विरति।

जल गालन :

जैन मार्ग में जल को छानकर ही प्रयोग में लाना, श्रावक की त्रेपन क्रियाओं में सम्मिलित है। निर्धारित विधियों से शुद्ध किया गया, जीव रहित जल प्रासुक कहलाता है।

भा.पा./टी०/१११/२६१/२१^३ के अनुसार वर्षा का जल प्रासुक है। यतिजन वर्षाऋतु में वर्षायोग धारण करते हैं। वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करते हैं। उस समय वृक्ष के पत्तों पर पड़ा हुआ वर्षा का जो जल यति के शरीर पर पड़ता है, उससे उसको अपकायिक जीवों की विराधना का दोष नहीं लगता क्योंकि वह जल प्रासुक होता है।

रत्नमाला/ ६३-६४^४ के अनुसार पाषाण को फोड़कर निकाला हुआ अर्थात् पर्वतीय झरनों का, अथवा रहट द्वारा ताड़ित हुआ और वापियों का गरम-गरम ताजा जल प्रासुक है।

व्रत विधान संग्रह/३१^५ के अनुसार गर्म जल प्रासुक होता है परन्तु उबाला हुआ जल २४ घण्टे तक प्रासुक या पीने योग्य रहता है, और उसके पश्चात् बिना छाने के समान हो जाता है। छाना हुआ दो घड़ी तक ही प्रासुक रहता है। २ घड़ी या ४८ मिनट बाद पुनः छानने की आवश्यकता होगी। लवंग, हरड़ से प्रासुक किया गया जल छः घंटे तक चलेगा। इस विधि में यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि पानी का स्वाद व रंग बदल जाए। छानने द्वारा जल प्रासुक करने की विधि में सागर धर्माभूत/३/१६^६ के अनुसार छोटे छेदवाले या पुराने कपड़े से छानना योग्य नहीं है। क्रियाकोष/ पं. दौलतराम/२४४^७ के अनुसार रंगे हुए या पहने हुए वस्त्र से जल नहीं छानना चाहिए। जल विधान संग्रह/ ३० पर उद्धृत ३६ अंगुल लम्बे और २४ अंगुल चौड़े वस्त्र को दोहरा करके उसमें से जल छानना चाहिए। परन्तु व्यवहार में छान्ना इतना बड़ा होना चाहिए कि दोहरा करने पर बर्तन के मुख से तीन गुना चौड़ा हो, ताकि बिना छाना पानी बर्तन में न आवे। पानी छानकर उसका विलछन या जीवानी वहीं सम्हालकर पहुंचा देनी चाहिए, जहां से पानी भरा हो।

जल गालन का प्रयोजन :

प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बोस ने एक बूँद जल में, आधुनिक विज्ञान के आधार पर ३९४५० बैक्टीरिया जीवों की सिद्धि की है। इसके अतिरिक्त जिन जलकायिक जीवों के शरीररूप बहुबिन्दु हैं, वे उनकी दृष्टि विषय ही नहीं है। उनका प्रमाण अंगुल असंख्यात आगम में कहा गया है। चिकित्सा विज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि किसी भी रोग के मूल में, रोग विशेष से संबन्धित बैक्टीरिया होते हैं। अतः जलगालन निरोग शरीर बनाए रखने में सहायक है।

भोजन ग्रहण करने के पूर्व और बाद में, भारतीय परिवेश में जिस शुद्धता का ध्यान रखा जाता रहा है, वह निरोग तन-मन का मूल है। मार्लन होने के नाम पर छुरी, काँटे, चम्मच के प्रयोग से जहाँ तन-मन दूषित हो रहे हैं, वहीं डाक्टर्स और अस्पताल की बढ़ती संख्या के अनुपात से अधिक रोग और रोगी बढ़ रहे हैं।

एक प्रसिद्ध कहावत है- “जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीवे पानी वैसी बोले वानी”। वास्तव में पुद्गल का असर जीव के भावों में और जीव के भावों का असर पुद्गल पर पड़ता है। पुद्गल के अशुद्ध उपयोग के कारण आत्मा की शुद्ध शक्ति आच्छादित हो जाती है। शरीर निर्बल, अस्वस्थ एवं खेदित हो जाता है, थक जाता है। आत्मा के शुद्धोपयोग से मन प्रसन्न रहता है, शरीर प्रफुल्लित हो जाता है। यही प्रफुल्लता शरीर की निरोगता का आधार है। इस निरोगता में सहायक शुद्ध खान-पान रहता है जिसका असर सर्व शरीर पर पड़ता है - उपयोग पर भी पड़ता है। शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है जिसकी प्राप्ति का प्राथमिक आधार जल गालन है।

जलगालन की क्रिया में यद्यपि एक बार जलकायिक जंतुओं की हिंसा होती है, परन्तु मर्यादा तक उसमें ऐसे जीव उत्पन्न नहीं होंगे, न फिर उनके घात की आवश्यकता होगी। अप्रत्यक्ष रूप से शरीरधारी छहों जाति के प्राणियों की जीवरक्षा हो जाती है जो अहिंसा और दया का पालन है। यह आसाधारण स्थिति अविरत श्रावक की होती है जिसका सम्यक्त्व निर्मल है और ज्ञान सम्यक् है। आचार्य तारण-तरण ने न्यान समुच्चय सार में कहा है -

जल गालन उवयेसं, प्रथमं संमत सुध भावस्स।^१

चित्तं सुध गलंतं, पच्छिदो जलं च गालम्मि॥२९०॥

अर्थात् श्रावक को पानी छानने का उपदेश है, किन्तु पहले सम्यक्त्वरूपी शुद्ध परिणामों से चित्त हो छानकर शुद्ध करें अर्थात् दोषों से विरक्त रहें।
रात्रि भोजन विरति :

(१) आहार का प्रयोजन -

वेयणविज्जावच्चे किरियुद्वारे य संजमट्ठाए^{१०}

तवपाणधम्मचिंता कुज्जा देहि आहारं॥४७९॥ मूलाचार

अर्थात्- भूख की वेदना का शमन करने के लिए, संयम की सिद्धि के लिए, अपनी तथा दूसरों की सेवा के लिए, तथा मुनि के छह आवश्यक कर्तव्य, ज्ञान, ध्यान आदि के लिए मुनि को आहार करना चाहिए।

बुभुक्षाग्लपिताक्षाणां प्राणिरक्षा कुतस्तनी^{११}

क्षमादयः क्षुधार्तानां शुद्ध्याश्चापि तपस्विनाम्॥६२॥

अर्थात् जिनकी इन्द्रियां भूख से शक्तिहीन हो गई हैं वे अन्य प्राणियों की रक्षा कैसे कर सकते हैं ? जो तपस्वी भूख से पीड़ित हैं उनके भी क्षमा आदि गुण शंकास्पद ही रहते हैं।

क्षुत्पीतवीर्येण परः स्ववदार्ती दुरुद्धरः^{१२}

प्राणाश्वाहार शरणा योगकाष्ठाजुषामपि॥६३॥

अर्थात् जिस मनुष्य की शक्ति भूख से नष्ट हो गई है वह अपनी तरह पीड़ित दूसरे मनुष्य का उद्धार नहीं कर सकता। जो योगी योग के आठ अंग की चरम सीमा पर पहुँच गए हैं उनके भी प्राणों का शरण आहार ही है।

आहार का परिमाण :

बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होई^{१३}

पुरिसस्स महिलियारा अट्ठावीसं हवे कवला॥२१२॥

अर्थात्- पुरुष के आहार का प्रमाण बत्तीस ग्रास है और स्त्री के आहार का प्रमाण अट्ठाईस ग्रास है। इतने से उनका पेट भर जाता है।

सव्यञ्जनाशनेन द्वौ पानेनैकमंशमुदरस्य^{१४}

भृत्वाद्भृतस्तुरीयो मात्रा तदीतक्रमः प्रमाणमलः॥३८॥

अर्थात् साधु को दो भाग दाल, शाक सहित भात आदि से भरना चाहिए और उदर का एक भाग जल आदि पेय से भरना चाहिए तथा चौथा भाग खाली रहना चाहिए। इसका उल्लंघन करने पर प्रमाण नामक दोष होता है।

काल की अपेक्षा इसमें परिवर्तन करने का विधान 'पिण्डनिर्युक्ति' में

है। काल तीन है- शीत, उष्ण और साधारण। अतिशीतकाल में पानी का एक भाग और भोजन के चार भाग कल्पनीय हैं। मध्यम शीतकाल में पानी के दो भाग और तीन भाग भोजन ग्राह्य है। मध्यम उष्ण काल में भी दो भाग पानी और तीन भाग भोजन कल्पनीय है। अति उष्ण काल में तीन भाग पानी और दो भाग भोजन ग्राह्य है। सर्वत्र छठा भाग वायु संचार के लिए रखना उचित है।

आहार हेतु विधान :

द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च।^{१५}

स्वास्थ्याय वर्तनां सर्वविद्धशुद्धासनैः सुधीः॥६५॥

अर्थात्- सुधीजन को द्रव्य, क्षेत्र, अपनी शारीरिक शक्ति, छह-ऋतु, भाव और स्वाभाविक शक्ति का अच्छी तरह विचार करके स्वास्थ्य के लिए सर्वाशन, विद्धासन और शुद्धासन के द्वारा भोजन ग्रहण करना चाहिए।

द्रव्य से मतलब आहारादि से है। भूमि प्रदेश को क्षेत्र कहते हैं। यह तीन प्रकार के होते हैं- जांगल, अनूप और साधारण। जहाँ पानी, पेड़ और पहाड़ कम हों उसे जांगल कहते हैं। जांगल में वात का आधिक्य रहता है। जांगल के विपरीत अनूप में कफ की प्रधानता रहती है। जहाँ जल आदि सामान्य हो उसे साधारण कहते हैं। साधारण प्रदेश में तीनों ही सम रहते हैं। तदनुसार भोजन किया जाना चाहिए।

काल से तात्पर्य ऋतु और समय से है। ऋतुचर्या का विधान इस प्रकार है- शरत् और बंसत ऋतु में रूक्ष तथा ग्रीष्म और वर्षाऋतु में शीत अन्नपान लेना चाहिए। रस के अनुसार शीत और वर्षाऋतु में मधुर, खट्टा और लवणीय तथा बंसत ऋतु में कटु, चरपरा और कसेला, ग्रीष्म ऋतु में मधुर और शरद्ऋतु में मधुर, तिक्त और कषाय रस का सेवन करना चाहिए।^{१६}

सत्वेसणं च विद्देसणं च सुद्धेसणं च ते कमसो।^{१७}

एसण समिदिविसुद्धं णिव्वियडमवज्जणं जाण॥ मूलाचार ६/७०॥

- एषणा समिति से शुद्ध भोजन सर्वाशन है। गुड़, तेल, घी, दही, दूध, सालन आदि से रहित और कांजी, शुद्ध तक्र आदि युक्त भोजन विद्धाशन है। बिना व्यंजन के पककर तैयार हुआ जैसा का तैसा भोजन शुद्धासन है। ये तीनों ही प्रकार का भोजन खाने के योग्य है।

आहार ग्रहण का उचित समय :-

मनुष्य के सभी दैनंदिन कार्य प्रकृति से तादात्म्य बनाए रखते हुए संचालित होते हैं। वास्तविक सूर्योदय से पूर्व नित्यकर्म से निवृत्त हो जाना चाहिए। श्रावक के लिए आहार ग्रहण का समय, वास्तविक सूर्योदय के पश्चात् एवं वास्तविक सूर्यास्त के पूर्व है।

प्रकाश की संपूर्ण आंतरिक परावर्तन की घटना के (Total internal reflection of light) कारण अपने वास्तविक उदयकाल से २ घड़ी अर्थात् ४८ मिनट पूर्व ही सूर्य की पूर्व दिशा में दिखने लगता है, वह वास्तविक सूर्य नहीं होता है बल्कि उसका आभासी प्रतिबिंब दिखाई देता है। इसी प्रकार वास्तविक सूर्य डूब जाने के बाद भी दो घड़ी या ४८ मिनट तक उसका आभासी प्रतिबिंब आकाश में दिखाई देता रहता है। सूर्य के इस आभासी प्रतिबिंब में दृश्य किरणों के साथ अवरक्त लाल किरणें एवं अल्ट्रा वायलेट किरणें नहीं होती हैं। वे केवल सूर्योदय के ४८ मिनट बाद आती हैं और सूर्यास्त के ४८ मिनट पूर्व ही समाप्त हो जाती है।^{१८}

जिस प्रकार एक्सरे मांस और चर्म को पार कर जाती है उसी प्रकार उक्त दोनों प्रकार की किरणें कीटाणुओं के भीतर प्रवेश कर उन्हें नष्ट करने की शक्ति रखती है। यही कारण है कि दिन में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति नहीं होती।^{१९}

उपरोक्त संदर्भों से यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि केवल अवरक्त लाल किरणों (इंफ्रारेड) और अल्ट्रावायलेट किरणों की उपस्थिति में ही सूक्ष्म जीवों की या तो उत्पत्ति नहीं होती है या अपवाद रूप सूक्ष्म जीवों की न्यूनतम हुई उत्पत्ति स्वतः नष्ट हो जाती है। जैसा कि उपरोक्त संदर्भों में कथन है कि उक्त दोनों प्रकार की किरणें केवल सूर्योदय के ४८ मिनट बाद आती हैं और सूर्यास्त के ४८ मिनट पूर्व ही समाप्त हो जाती है। शेष किसी भी समय, किसी भी तरह के प्रकाश में उक्त दोनों तरह की किरणें उपलब्ध नहीं रहती। कृत्रिम तेज प्रकाश जैसे सोडियम, लैंप, मर्करी लैंप, आर्कलैंप से निकलने वाले प्रकाश का यदि वर्णक्रम देखें तो उनमें भी ये दोनों किरणें नहीं पाई जाती है। इस तरह पूर्णतः शुद्ध और सात्विक आहार तैयार करने के समय के साथ-साथ, भोजन करने के समय का भी समय निश्चित हो जाता है।

बुंदेलखण्ड में 'अन्थउ' शब्द का प्रयोग सूर्यास्त पूर्व भोजन करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह अण्थम शब्द का अपभ्रंश है।^{१०}

सूर्यास्त के बाद भोजन करने वालों को सूर्यद्रोही कहा है।

यो मित्रेऽस्तंगते रक्ते विदध्यादभोजनं जन।

तद् द्रोही स भवत्पाप शवस्योपरिचाशनम्॥२६॥^{११}

घड़ी दोय जब दिन चढ़ै, पिछलो घटिका दोय।

इतने मध्य भोजन करे, निश्चय श्रावक होय॥१३॥^{१२}

(१) सूर्य प्रकाश पाचन शक्ति का दाता है। वैज्ञानिक अनुसंधानों का यह निष्कर्ष है कि दिनचर्य वर्ग के मनुष्य आदि का पाचन तंत्र सूर्य के वास्तविक प्रकाश में सक्रिय रहता है। रात्रि के समय हृदय और नाभि कमल संकुचित हो जाने से भुक्त पदार्थ का पाचन गड़बड़ हो जाता है। भोजन करके सो जाने पर संकुचन और अधिक हो जाता है और निद्रा में आ जाने से पाचन शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है।

(२) वैज्ञानिकों ने विभिन्न भोज्य पदार्थों के पाचन का समय खोजा है। रेशेदार हरी सब्जियाँ इस अर्थ में सुपाच्य हैं कि पाचनतंत्र इन्हें २ से ३ घंटे में पचा लेता है। वहीं दाल इत्यादि के पाचन में ३ से लेकर ५ घंटे तक लगते हैं। आरोग्य शास्त्र में भी भोजन करने के बाद तीन घंटे नहीं सोना चाहिए। दूसरे शब्दों में रात्रि शयन से न्यूनतम ३ घंटे पहले भोजन कर लेना चाहिए।

(३) दृश्य सूर्य प्रकाश में उपस्थित इन्फ्रारेड और अल्ट्रावायलेट किरणों के गर्म स्वभाव के कारण भोजन को पचाने में अतिरिक्त मदद मिलती है।

(४) सूर्यग्रहण के समय इन्फ्रारेड और अल्ट्रावायलेट किरणों का अभाव रहता है। अतः सूर्यग्रहण के काल में भोजन का निषेध उचित है।

निष्कर्ष यही है कि दिन के शुद्ध वायुमंडल में किया गया भोजन स्वास्थ्यकर और पोषण युक्त होता है।

जैनधर्म की प्रकृति के साथ तादात्म्य की अनोखी प्रस्तुति है। सर्वज्ञ महावीर ने जब प्रकृति को निहारा तो उन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति सभी में जीवन का स्पंदन होते देखा। इसी आधार पर आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में एक सूत्र दिया- “ परस्परपग्रहो जीवानाम्”॥५/२९॥^{१३} इस अमर सूत्र का मूलमंत्र शाकाहार में छुपा हुआ है और अहिंसा की मान प्रतिष्ठा का सरल, स्वास्थ्यवर्धक आहार शाकाहार है।

अल्पफल बहुविघातान्मूलमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।^{२४}

नवनीत निम्बकुसुमं कैतकीमल्येवमव हेयत्।।८५।।

अर्थात् - जिसके सेवन से अपना प्रयोजनमूल फल तो अल्पसिद्ध होता है किन्तु खाने से अनंत जीवों का घात होता है ऐसे कन्दमूल, शृंगवेर, मक्खन, नीम के फूल, कुसुम, जिनमें अनंत जीवों का घात होता है, त्यागने योग्य ही हैं।

एकमपि प्रजिघांसु निहन्त्यनन्तान्यतस्नतोवऽश्यम्।^{२५}

करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्त कायानाम्।।१६२।।

भावार्थ - जिस एक को घात करने से अनंत स्थावर जीवों का घात होता है इसलिए अनन्तकाय वाली साधारण वनस्पतियों को सर्वप्रकार त्याग देना चाहिए। कंदमूल प्रायः इस दोष में आते हैं, अतः त्यागना उचित है।

कन्दादिषट्कं त्यागार्हमित्थन्नाद्वि भजेन्मुनिः।^{२६}

न शक्यते विभक्तुं चेत् त्यज्यतां तर्हि भोजनम्।।४१।।

अर्थ- कन्द, मूल, फल, बीज, कण और कुण्ड, ये छह त्याज्य है अतः इन्हें भोजन से अलग कर दें। यदि इन्हें भोजन से अलग करना शक्य न हो तो भोजन ही त्याग देना चाहिए।

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।^{२७}

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमः।।६६।।

अर्थ- श्रमणोत्तम अर्थात् जो गणधरदेव तथा श्रुतकेवली हैं वे गृहस्थ के मद्य, मांस, मधु के त्याग सहित पांच अणुव्रतों को अष्टमूल गुण कहते हैं।

जमीन के अंदर सूर्य की किरणें किसी भी समय नहीं पहुंच पाती, इसलिए कंदमूल आदि सभी तरह के जमीकंद असंख्यात सूक्ष्म जीवों से सदा आवेष्टित होकर दूषित रहते हैं। यही अभक्ष्य पदार्थ रात्रिकालीन अंधकार की तामसी प्रवृत्ति के कारण विषाद, अधर्म, अज्ञान, आलस्य और राक्षसीवृत्ति को जन्म देते हैं। बुंदेलखण्ड में चार बातों की शुद्धि को 'चौका' कहते हैं। वे हैं- १. द्रव्य शुद्धि २. क्षेत्र शुद्धि, ३. काल शुद्धि, ४. भाव शुद्धि। एषणा समिति की अंगभूत आठ प्रकार की पिण्ड शुद्धि इस प्रकार है:- उदगम् शुद्धि, उत्पादन शुद्धि, आहार शुद्धि, संयोग शुद्धि, प्रमाण शुद्धि, अंगार शुद्धि, धूम शुद्धि और हेतु शुद्धि। पिण्ड का अर्थ आहार है और व्यापक अर्थ में द्रव्य।

षट्चत्वारिंशता दोषैः पिण्डोऽधः कर्मणा मलैः।^{२८}

द्विसप्तैश्चोज्झितोऽविघ्नं योज्यस्त्याज्यस्तथार्थतः।।१॥

अर्थात् निमित्त और प्रयोजन के आश्रय से छियालस दोषों से, अधः कर्म से और चौदह मलों से रहित आहार अन्तराओं को टालकर ग्रहण करना चाहिए तथा यदि ऐसा न हो तो उसे छोड़ देना चाहिए।

छियालीस दोषों में सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दस शंकित दोष, चार अंगार दोष, धूम दोष, संयोजन दोष और प्रमाण दोष होते हैं। भोजन बनाने में जो हिंसा होती है उसे अधःकर्म कहते हैं। पीब, रुधिर, मांस, हड्डी, चर्म, नख, केश, मरे हुए विकलत्रय, कंद, सूरण आदि, बीज मूली आदि, फल, कण और कुण्ड- ये आहार संबन्धी चौदह मल हैं।

मांसाहार दोषों को वैज्ञानिक निष्कर्ष पर समझने हेतु, शारीरिक एवं मानसिक व्यापार को नियंत्रित करने वाली उन तरंगों/ किरणों के प्रभाव और विशेषताओं को समझना आवश्यक है जो विभिन्न परिस्थितियों के कारण मस्तिष्क से उत्सर्जित होती है। इन तरंगों के गुण और कार्य निम्नानुसार है:^{३०}

(१) थीटा तरंग : 4-7.5 HZs की थीटा तरंगें सामान्य हल्की निद्रा या गहरी ध्यानावस्था में उत्सर्जित होती हैं। ऐसा माना जाता है कि गहन आध्यात्मिक तादात्म्य और चराचर जगत से एकाकार अनुभव में आता है। 7 से 8 HZs की सीमा पर, मानसिक स्तर पर सृजनात्मकता प्रारंभ होती है।

(२) अल्फा तरंग : 7.5-14 HZs की अल्फा तरंग, वास्तव में तरंग नहीं, बल्कि तीव्र, चलायमान, घनात्मक आवेश वाले हीलियम न्यूक्लियस (Helium nuclei) है जिनमें २ न्यूट्रान और ४ प्रोटान होते हैं। भारी होने के कारण इनकी छेदन क्षमता अल्प रहती है अतः मोटे कागज से भी रोके जा सकते हैं। ये तरंगें जागृत परन्तु आरामदायक स्थिति में बंद आंखों के साथ 'आस्सिपिटल लोब' (Occipital Lobe) से पैदा होती हैं। अल्फा तरंगों को प्रमस्तिष्क या अर्धचेतन अवस्था का प्रवेश द्वारा माना गया है।

(३) बीटा तरंग : 14-40 HZs की बीटा तरंग भी, वास्तव में तरंग नहीं, बल्कि तीव्र, चलायमान ऋणात्मक आवेश या इलेक्ट्रान हैं। अल्फा तरंगों की तुलना में कम भारी, बीटा तरंगों की भेदन क्षमता भी अधिक होती है परन्तु 'आवेश होने के कारण इन्हें अत्यधिक मोटे और कड़े कार्ड बोर्ड या दीवाल

आदि से रोका जा सकता है। यह तरंग चेतना को जागृत करने के साथ तर्कयुक्त विवेक के लिये भी उत्तरदायी है। परन्तु बीटा तरंगों के स्तर में अधिकता तनाव, चिंता और थकान के लिये भी उत्तरदायी हैं आज की तथाकथित आधुनिक जीवन-शैली में तनाव सबसे बड़ी स्वास्थ्य समस्या है।

(४) गामा तरंग : 75-100 HZs वाली गामा तरंग आवेश रहित फोटॉन हैं, जो प्रकाश में होते हैं। गामा तरंग की छेदन क्षमता अत्यधिक होती है। इनमें जीवित कोशिकाओं को नष्ट करने की क्षमता होती है।

उपरोक्त, विभिन्न आवृत्ति वाली तरंगों के, मस्तिष्क और शरीर पर पड़ने वाले गुणदोषों के विवरण से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि जैसे-जैसे तरंग की आवृत्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे, मस्तिष्क और शरीर पर तरंग का लाभ की जगह दुष्प्रभाव बढ़ता जाता है। ये किरणें मस्तिष्क और शरीर पर अच्छा या बुरा प्रभाव क्यों डालती है ? हम यह भूल बैठे हैं कि हमारे विचार विश्वास, चेतना एवं स्वयं के अस्तित्व के नियंत्रक हैं। वास्तव में हम स्वयं ही कर्ता हैं और स्वयं ही भोक्ता हैं। वास्तव में तरंगों तो निमित्त मात्र हैं, जिसका आस्रव भी कर्ता और भोक्ता कर रहा है और बंध भी स्वयं कर्ता और भोक्ता ही कर रहा है। ऐसी स्थिति में कर्मफल से कैसे बचा जा सकता है।

मांसाहार क्योंकर दूषित है और मांसाहारी को यह क्योंकर कष्टप्रद है, इसका समाधान उच्च आवृत्ति वाली तरंगों के अनिष्टकारी प्रभाव और शरीर शास्त्र (Anatomy) में वर्णित ग्रंथियों से होने वाले स्राव के कार्य और प्रभाव के आधार पर किया जा सकता है। समाधान हेतु प्रारंभिक शरीरशास्त्र में उल्लेखित 'एड्रिनल ग्रंथि' (Adrenal gland)³⁹ से, घटना विशेष में उत्सर्जित होने वाले स्राव (Hormones) के कारण और प्रभाव से किया जा रहा है।

क्या पशु-वध गृह में वध किये जाने वाले पशु या मौत की आहट सुनने वाले साथी पशु की स्थिति, उपरोक्त घटना से अलग होती है ? भिन्न भी और भयानक भी। पशु वध गृह में वध के लिये तैयार पशु Adrenaline स्राव के चलते बढ़ा रक्तचाप, बढ़ी धड़कन, पसीना-पसीना होकर अतिरिक्त शक्ति प्राप्त कर लेता है, Noradrenaline स्राव से बचने का विचार और

युक्ति भी समझ लेता है परंतु पशु का रुदन और चीत्कार इस बात का द्योतक है कि बिना अपराध किये मृत्यु दण्ड को प्राप्त पशु कितना निरीह, लाचार और जीवन बचाने में असमर्थ है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यही विवशता पशु के अंदर क्रोध और बदले की भावना पैदा कर देती है। वध के समय असीम वेदना से छटपटाता पशु, अनंतानुबंधी क्रोध पालकर उस मांसाहारी को बददुआएँ देता है।

जानवरों से फैलने वाला घातक, संक्रामक रोग 'जूनोटिक डिसऑर्डर' हैं। इन बीमारियों के खतरनाक वायरस, बैक्टीरिया, पैरासाइट और कवक जानवरों के शरीरों में पकते हैं। जानवरों के संपर्क में रहने वालों में खून से शरीर में संक्रमण होने या इन जानवरों के प्रदूषित मांस भक्षण से संक्रमित होने वाले इंसान में दिमागी विकृति आ जाती है। इन बीमारियों में वे पुराने इन्फेक्शन भी शामिल हैं जिन्हें इलाज के बाद अलविदा मान लिया गया था। यह ज्यादा इसलिए भी खतरनाक है क्योंकि फिर से सक्रिय होने वाले वायरस पर पुरानी एंटीबायोटिक दवाइयाँ लगभग बेअसर हो जाती हैं।

संक्रमण के साथ-साथ, वध प्रक्रिया के दौरान उपजी उच्च आवृत्ति वाली 'गामा' किरणों से विच्छिन्न आहार ससे नए-नए रूप क बीमारियों का असर दुनिया भर में देखा जा रहा है। इनकी पहचान में काफी समय लग जाता है, ऐसे में इलाज से पहले ही थे बीमारियाँ फैलने लगती हैं।

ब्रिटेन में दिमाग, रीढ़ की हड्डी और पाचन-तंत्र पर घातक प्रभाव वाले रोगियों का परीक्षण सर्वेक्षण सन १९८९ में किया गया तो सभी रोगियों द्वारा कुछ महिनों से लेकर कई सालों तक मवेशियों का संक्रमित मांस खाना पाया गया। इस बीमारी का नाम दिया गया 'मेड काऊ डिजीज'।

उपरोक्त विवरण का निष्कर्ष संभवतः आश्चर्यजनक लगे कि पशु-वधगृह में लाने तक की प्रक्रिया और पशु के प्रवेश के साथ ही प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष परन्तु सम्बद्ध पक्षों का कर्म-बंध और फलादान की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। सामान्य जीवन शैली में, शरीर में बीटा तरंगें व्याप्त रहती हैं। पशु वधगृह में प्रवेश करने पर, मृत्यु भय से आक्रांत पशु को अतिरिक्त बल प्रदान करने के लिए एड्रिनल ग्रंथि जो 'एड्रेनिलिन' साव उत्सर्जित करती है,

उससे उच्च रक्तचाप, हृदय की धड़कन बढ़ना, शरीर पसीने-पसीने होना जैसे लक्षणों के साथ ही, बीटा तरंगों भी, उच्च आवृत्ति वाली गामा तरंगों में परिवर्तित होकर शरीर के प्रत्येक प्रदेश को आवेष्टित कर लेती हैं। कभी-कभी अधिक व्यग्रता की स्थिति में, बीटा-तरंगों, गामा तरंगों से भी अधिक आवृत्ति वाला फास्ट और सुपर फास्ट श्रेणी की तरंगों में भी परिवर्तित हो जाती हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से हमारे शरीर में सात्विक, राजस और तामस ये तीन प्रकार के गुण होते हैं। सात्विक गुण से ज्ञान, बुद्धि, मेधा, स्मृति आदि गुणों का विकास होता है जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक होते हैं। सात्विक गुण के सर्वथा विपरीत तामसिक गुण होता है। साधारण, सदाचारी, संसारी जीव के सात्विक और तामस मध्य का राजस गुण होता है।

मांस के समतुल्य रात्रि-भोजन के दोषों के साथ ही, वैज्ञानिक विश्लेषणों में पाये गए दोष निम्नलिखित हैं:³³

- (१) मांस भक्षण और इसके समतुल्य रात्रि-भोजन सात्विक गुणों का नाश करके तामसिक गुणों की वृद्धि करते हैं।
- (२) रोगों को रोकने में रेशा - Fibre का बड़ा महत्व है। मांसाहारी पदार्थों में फाइबर की मात्रा बिल्कुल नहीं होती। अतः मांसाहार में रोग-प्रतिरोधक क्षमता शून्य होती है।
- (३) मांसाहार में कोलेस्ट्रॉल (Cholestrol) की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है।
- (४) मांस का पाचन समय अधिक होने के कारण उसे पचाने में शक्तिशाली पाचक तत्वों की आवश्यकता होती है जिससे शरीर के पाचन-तंत्र पर अधिक दबाव पड़ता है।
- (५) एक खोज के अनुसार रेड मीट (Red meat) से हाइपरटेंशन (Hypertension) और हृदय रोग का खतरा अधिक रहता है।
- (६) मांस के प्रक्रम (Processing) में रसायन का उपयोग होता है जो शरीर और प्राकृतिक स्वास्थ्य के प्रतिकूल है।

निष्कर्ष : *We are, what we eat* (हम वही होते हैं जैसा खाते हैं)।

संदर्भ :

१. श्री तारणतरण श्रावकाचार के टीकाकार, ब्र. शीतलप्रसाद की भूमिका, पृष्ठ-११
२. गाथा ४४८ पृ. ३८० - वही -
३. भावपाहुड टीका - १११/२६१/२१- प्रकाशक- माणिकचंद्र ग्रंथमाला, मुम्बई।
४. रत्नमाला- गाथा ६३-६४
५. व्रतविधान संग्रह - पृष्ठ ३१
६. सागार धर्माभूत- तृतीय अध्याय, श्लोक-१६- पं. प्रवर आशाधर जी
७. क्रियाकोष पृष्ठ २४४- पं. दौलतराम
८. व्रतविधान संग्रह- पृष्ठ २०
९. गाथा-२००- न्याय समुच्चय सार (आचार्य तारणतरण), टीकाकार- ब्र. शीतलप्रसाद
१०. गाथा ४७९- मूलाचार- आचार्य कुंदकुंद
११. श्लोक ६२, पंचम अधिकार, अनगार धर्माभूत, पृष्ठ-४०८- पं. प्रवर आशाधर
१२. श्लोक ६३, वही
१३. गाथा २१२- भगवती आराधना
१४. श्लोक २८- पंचम अधिकार- अनगार धर्माभूत, पृ. ४०८, पं. प्रवर आशाधर
१५. श्लोक ६५ वही, पृ. ४०९- पं. प्रवर आशाधर
१६. भावधि- पंचम अधिकार, अनगार धर्माभूत, पृ. ४१० से उद्धृत, पं. अशाधर
१७. श्लोक - मूलाचार ६/७० आचार्य कुंदकुंद
१८. जैनधर्म का वैज्ञानिक चिंतन, पृ. ६५-६६- प्राचार्य पं. निहालचंद जैन
१९. वही - पृष्ठ ६४ २०. वही - पृ. ६६
२१. श्लोक १६- धर्मसंग्रह श्रावकाचार
२२. दोहा १३, प्रा. पं. निहालचंद जैन लिखित जैनधर्म का वैज्ञानिक चिंतन, पृ. ६५
२३. सूत्र २९, अध्याय पंचम, तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी
२४. श्लोक ८५, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पृ. १३८ आचार्य समन्तभद्र
२५. श्लोक १६२ पुरुषार्थसिद्धयुपाय- आचार्य अमृतचंद्र
२६. श्लोक ४१, पंचम अधिकार, पृ. ४०२ पं. प्रवर आशाधर, अनगार धर्माभूत
२७. श्लोक ६६, पृ. ११० रत्नकरण्ड श्रावकाचार- आचार्य समंतभद्र
२८. श्लोक १, पंचम अधिकार, अनगार धर्माभूत, पृ. ३७७, पं. प्रवर आशाधर
२९. कथन- जैनधर्म का वैज्ञानिक चिंतन एवं इंटरनेट से साभार
३०. विभिन्न भौतिक विज्ञान की पुस्तकें एवं इंटरनेट से साभार
३१. एड्रिनल ग्रंथि के स्राव और कार्य- विभिन्न चिकित्सा विज्ञान की किताबें एवं इंटरनेट
३२. गुण प्रतिशत - इंटरनेट से उद्धृत
३३. मांसाहार के दोष ---- वही -----

- ८०२ आर. पी. नगर, फेस-१
कोसाबाड़ी, कोरबा (छ.ग.)

कर्मसिद्धान्त -नये परिप्रेक्ष्य में

- डॉ. सुभाष चन्द्र जैन

कर्म सिद्धान्त की चर्चा में कर्म शब्द का उपयोग दो विभिन्न प्रसंग में किया जाता है। प्राणी कर्म करते हैं और कर्म बांधते भी हैं। 'करने' वाले और 'बंधने' वाले कर्मों के अर्थ में अंतर है। दोनों तरह के कर्म, यानी 'करने' वाले और 'बंधने' वाले कर्म, फल देते हैं। दोनों तरह के कर्मों के फल को कर्मफल कहा जाता है। मिसाल के तौर पर, एक व्यक्ति चोरी करने के अपराध में दो वर्ष का कारागार का दंड पाता है। यह सामान्य मान्यता है कि कारागार का दंड उस व्यक्ति के कर्म का फल है। परन्तु यह फल कौन से कर्म का फल है। यदि यह माना जाए कि यह फल चोरी 'करने' वाले कर्म का फल है, तो प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार के फल कर्म सिद्धान्त द्वारा नियंत्रित होते हैं? यदि नहीं, तो 'करने' वाले कर्म के किसी प्रकार के फल कर्म सिद्धान्त द्वारा नियंत्रित होते हैं? यदि यह माना जाए कि यह फल पूर्वकृत 'बंधे' कर्म का फल है, तो प्रश्न उठता है कि पूर्वकृत 'बंधे' कर्म किस प्रकार के फल प्रदान करते हैं।

चर्चा की सुविधा के लिए इस लेख में 'करने' वाले कर्म और 'बंधने' वाले कर्म के लिए भिन्न शब्द उपयोग किये गये हैं। 'करने' वाले कर्म को क्रिया शब्द से, 'बंधने' वाले कर्म को कर्म शब्द से, 'करने' वाले कर्म के फल को क्रियाफल शब्द से, और 'बंधने' वाले कर्म के फल को कर्मफल शब्द से संबोधित किया गया है।

हम हर क्षण, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, क्रिया करते रहते हैं जिसके कारण हम अपने कार्मण शरीर से नवीन कर्म बांधते रहते हैं और पूर्व कर्म काटते रहते हैं। क्रिया करना, नवीन कर्मों का बंध होना और पूर्व कर्मों का फलना, ये तीनों प्रक्रिया सदैव साथ-साथ होती रहती है। उदाहरणार्थ, तुम इस समय इस लेख को पढ़ने की क्रिया कर रहे हो और इस क्रिया के कारण नवीन कर्म बांध रहे हो और पूर्व कर्म भोग रहे हो। क्रिया के बिना नवीन कर्मों का बंध और पूर्व कर्मों का फलना संभव नहीं है। सदैव

साथ-साथ होने वाली तीनों प्रक्रियों के कारण जीव की आत्मा, भौतिक शरीर और कर्मण शरीर की पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है।

क्रिया करने के लिए साधन/निमित्त आवश्यक है। बिना साधन के क्रिया संभव नहीं है। उदाहरणार्थ, तुम्हारी इस लेख को पढ़ने की क्रिया कामूल साधन यह लेख है, जिसके बिना तुम इस लेख को पढ़ने की क्रिया नहीं कर सकते। इस लेख को तैयार करने लिए द्रव्य और उनकी पर्याय (भाव) और इस लेख को पढ़ने का यह क्षेत्र और काल, यानी, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये सब गौण साधन हैं। इन मूल और गौण साधनों के बिना शेष पढ़ने की क्रिया संभव नहीं है। भिन्न-भिन्न क्रियाओं के लिए भिन्न-भिन्न मूल और गौण साधन आवश्यक हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के साथ-साथ भोजन करने की क्रिया का मूल साधन भोजन की सामग्री है; सुखी होने की क्रिया का मूल साधन धन-दौलत है; और दुःखी होने की क्रिया का मूल साधन प्राकृतिक विपदा है, इत्यादि।

प्राणी की क्रिया के दो घटक हैं। एक घटक है मन, वचन और काय की भौतिक क्रिया, जिसे योग कहते हैं। दूसरा घटक है कषायादि द्वारा परिचालित आत्मिक क्रिया जिसमें भावना, अभिप्राय, इच्छा, इत्यादि निहित है और जिसे मोह कहते हैं। क्रिया योग एवं मोह द्वारा परिचालित एक प्रक्रिया है।

जीव का शरीर असंख्यात कोशिकाओं से बना है जो सदैव गतिशील रहती है। लोक का संपूर्ण रिक्त स्थान कर्मण स्कंध से ठसाठस भरा है और कर्मण स्कंध कोशिकाओं से अधिक सूक्ष्म होने के कारण आसानी से कोशिकाओं में प्रवेश और उनमें से निकासी करते रहते हैं। सदैव गतिशील कोशिकाएँ प्रवेश करने वाले कर्मण स्कंधों से टकराती रहती हैं और उनसे संपर्क करती रहती हैं। कोशिकाओं के संपर्क में आये कर्मण स्कंध आत्मा के संयोग में आते रहते हैं। कोशिकाओं के संपर्क में आये कर्मण स्कंधों की मात्रा कोशिकाओं के स्पंदन की प्रबलता पर निर्भर करती है। कोशिकाओं का स्पंदन प्राणी के मन, वचन और काय की भौतिक क्रियाएँ, यानी योग नियमन करता है। जब जीव अधिक उत्तेजित होता है, तब उसे योग की गति तीव्र हो जाती है और उसके साथ-साथ कोशिकाओं का स्पंदन भी प्रबल हो जाता है, जिसके कारण कर्मण स्कंध अधिक मात्रा में कोशिकाओं के संपर्क और आत्मा के संयोग में आते हैं। इसके विपरीत जब जीव ध्यान (मैडीटेशन)

करता है, तब उसके योग की गति मंद हो जाती है और उसके साथ-साथ कोशिकाओं का स्पंदन भी मंद हो जाता है, जिसके कारण कर्मण स्कंध थोड़ी मात्रा में कोशिकाओं के संपर्क में और आत्मा के संयोग में आते हैं। कर्मण स्कंध आत्मा के संयोग में आने पर कर्म में परिवर्तित हो जाते हैं। योग की तीव्रता कर्मण स्कंधों की मात्रा और कर्म की प्रकृतियों को नियंत्रित करती है।

कर्मों के फल देने का समय, यानी स्थिति और फलते समय की अभिव्यक्ति की प्रबलता, यानी अनुभाग, को क्रिया का दूसरा घटक मोह नियंत्रित करता है। कर्मों की स्थिति मोह की प्रबलता बढ़ने के साथ बढ़ती है। इसी प्रकार कर्मों का अनुभाग भी मोह की प्रबलता बढ़ने के साथ बढ़ता है।

संक्षेप में योग से कर्मण स्कंध आत्मा के संयोग में आते हैं और कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों में परिवर्तित हो जाते हैं। कर्म मोह द्वारा निर्धारित समय तक निष्क्रिय रहते हैं। उसके बाद कर्म सक्रिय होकर मोह द्वारा निर्धारित अनुभाग के अनुसार कर्मफल प्रदान करने के पश्चात आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। कर्मफल आत्मा और भौतिक शरीर के गुणों को प्रभावित करते हैं, जो बदले में प्राणी की नवीन क्रिया को प्रभावित करते हैं। नवीन क्रिया द्वारा नए कर्म आत्मा से बंध करते हैं और यह चक्र चलता रहता है। नए संलग्न कर्म पुरातन संलग्न कर्मों को संशोधित करते हैं।

किस प्रकार के क्रियाफल और कर्मफल सिद्धांत द्वारा नियंत्रित होते हैं? कर्म सिद्धांत की उपर्युक्त संक्षेप जानकारी से इस प्रश्न का उत्तर पाना कठिन है। इस प्रश्न का सीधा और सरल उत्तर वर्तमान ग्रंथों में भी उपलब्ध नहीं है। साधारण मनुष्य को इस प्रश्न का या तो अधूरा, और या गलत उत्तर मालूम है। इस प्रश्न का सही उत्तर कर्म सिद्धांत का लक्षण समझने पर उपलब्ध किया जा सकता है।

कर्म सिद्धान्त का लक्षण :

कर्म सिद्धांत की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि यह सिद्धांत सर्वत्र और सदैव वैध हो। कर्म सिद्धान्त अर्थहीन हो जाएगा यदि यह सिद्धांत कुछ ही स्थान पर लागू होता हो और शेष स्थान पर नहीं। मिसाल के तौर पर, यदि यह माना जाए कि कर्म सिद्धान्त केवल भारत देश में लागू होता है और शेष देशों में नहीं, तो मनुष्य भारत देश में अच्छी क्रिया करके और अन्य देशों में बुरी क्रिया करके कर्म सिद्धान्त को निरर्थक बना देगा। इसी प्रकार कर्म

सिद्धान्त अर्थहीन हो जाएगा यदि यह सिद्धांत सदैव लागू न होता हो। मिसाल के तौर पर, यदि यह माना जाए कि कर्म सिद्धांत केवल शनिवार, रविवार, सोमवार और मंगलवार को लागू होता है और शेष दिन, यानी बुधवार, बृहस्पतिवार और शुक्रवार, को नहीं, तो मनुष्य शनिवार, रविवार, सोमवार और मंगलवार को अच्छी क्रिया करके और बुधवार, बृहस्पतिवार और शुक्रवार को बुरी क्रिया करके कर्म सिद्धांत को निरर्थक बना देगा। सर्वत्र और सदैव लागू होने वाले सिद्धांत को यूनिवर्सल (सार्विक) सिद्धांत कहते हैं, इसलिए कर्म सिद्धांत एक यूनिवर्सल सिद्धांत है।^१

यदि कर्म सिद्धांत यूनिवर्सल है, तो कर्म सिद्धांत द्वारा नियंत्रित क्रिया के फल भी यूनिवर्सल होने चाहिए। अर्थात्, कर्म सिद्धांत द्वारा नियंत्रित क्रिया के फल केवल क्रिया पर निर्भर होना चाहिए, क्रिया के समय और स्थान पर नहीं। चाहे विवक्षित क्रिया भारत, या अमरीका, या लोक में कहीं पर भी किया जाए, उस विवक्षित क्रिया के कर्म सिद्धांत द्वारा नियंत्रित फल अभिन्न होते हैं। उसी प्रकार चाहे विवक्षित क्रिया फल की गई थी, या आज की गई है, या भविष्य में की जाएगी, उस विवक्षित क्रिया के कर्म सिद्धान्त द्वारा नियंत्रित फल भी अभिन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में कर्म सिद्धांत द्वारा नियंत्रित क्रिया के फल यूनिवर्सल होते हैं।

क्रियाफल :

हम यहाँ पर दो प्रकार के फल पर विचार करेंगे; एक प्रकार के फल जो यूनिवर्सल हैं उनको अदृष्ट फल से संबोधित किया गया है; और दूसरे प्रकार के फल जो यूनिवर्सल नहीं हैं उनको दृष्ट फल से संबोधित किया गया है। केवल अदृष्ट फल ही, जो यूनिवर्सल हैं, कर्म सिद्धान्त द्वारा नियंत्रित होते हैं। क्योंकि कर्म सिद्धान्त एक यूनिवर्सल सिद्धांत है, प्रत्येक क्रिया के यूनिवर्सल फल, यानी अदृष्ट फल, अवश्य होते हैं। परन्तु प्रत्येक क्रिया के दृष्ट फल का होना आवश्यक नहीं है। दृष्ट और अदृष्ट फल को उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है।

एक व्यक्ति एक कारखाने में नौकरी करता है और नौकरी के बदले में वेतन पाता है। वह उस वेतन से भोग-सामग्री अर्जित करता है। नौकरी करना एक प्रकार की क्रिया है और वेतन पाना इस क्रिया का फल है। दूसरा व्यक्ति चोरी करता है और चोरी के बदले कारागार की सजा पाता है। चोरी

करना भी एक प्रकार की क्रिया है और कारागार की सजा इस क्रिया का फल है। वेतन-रूप या कारावास-रूप फल यूनिवर्सल फल नहीं है। नौकरी करने का वेतन और चोरी करने का कारागार का दण्ड भिन्न-२ देशों में भिन्न-२ है और वे भूतकाल में आज से भिन्न थे और भविष्य में भी भिन्न होंगे। इस प्रकार के फल यूनिवर्सल नहीं हैं; ये दृष्ट फल हैं जो मनुष्यकृत नियमों द्वारा नियंत्रित होते हैं, कर्म सिद्धान्त द्वारा नहीं।

कर्म सिद्धान्त का प्रयोजन केवल यूनिवर्सल अदृष्ट फल से है जो प्रत्येक क्रिया के अवश्य होते हैं। नौकरी और चोरी करने की क्रिया के अदृष्ट फल भी हैं। प्राणियों को अदृष्ट फल 'बंधने' वाले कर्मों के रूप में उपलब्ध होते हैं। प्राणी इन कर्मों का फल भविष्य में भोगते हैं। कर्मों का उपादान कारण कर्मण स्कंध हैं और निमित्त कारण अदृष्ट फल हैं। कर्मण स्कंध यूनिवर्सल होते हैं; ये भी स्थान और समय पर निर्भर नहीं होते। कर्मों के दोनों कारण (उपादान और निमित्त), यानी कर्मण स्कंध और अदृष्ट फल, यूनिवर्सल हैं, इसलिए कर्म भी यूनिवर्सल होते हैं, अर्थात् कर्म केवल क्रिया पर निर्भर होते हैं, क्रिया के स्थान और समय पर नहीं। क्रिया योग-एवं-मोह द्वारा परिचालित प्रक्रिया है। योग की तीव्रता कर्मों के प्रदेश और प्रकृतियाँ नियंत्रित करती है। मोह की तीव्रता कर्मों की स्थिति और अनुभाग नियंत्रित करती है। इसलिए कर्म केवल क्रिया, यानी योग-एवं-मोह, पर निर्भर होते हैं, क्रिया के स्थान और समय पर नहीं।

हम एक और क्रिया का उदाहरण देंगे जिसका कोई दृष्ट फल नहीं है, केवल अदृष्ट फल है। मान लो किसी ने अपने एक शत्रु की हत्या करने का निर्णय लिया। वह हत्या की योजना बनाने में कई दिवस व्यतीत करता है। जिस दिन वह शत्रु की हत्या करने वाला था, उसे पता चला कि शत्रु देश छोड़कर कहीं चला गया है और वह उसकी हत्या नहीं कर पाया। क्या उसे हत्या की योजना बनाने की क्रिया का फल मिलना चाहिए? हत्या की योजना बनाना एक प्रकार की क्रिया है और इस क्रिया का भौतिक प्रमाण नहीं है, इसलिए इस क्रिया के फल का मनुष्यकृत नियमों से कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार की क्रिया के कोई दृष्ट फल नहीं है; इसके केवल अदृष्ट फल हैं जो कर्मों के रूप में आत्मा से बंध जाते हैं। हम यह मानकर दूसरों के बारे में बुरा-भला सोचते रहते हैं कि इन क्रियाओं का कोई फल नहीं है। परन्तु ऐसा

सोचना गलत है; हर क्रिया के अदृष्ट फल अवश्य होते हैं जिन्हें हम भविष्य में भोगते हैं। हमें हर क्रिया को सोच-समझकर करना चाहिए।

कर्मफल :

कर्म फल का स्वरूप जानने के लिए हमें यह जानना होगा कि प्राणी कर्मों का फल कैसे भोगता है। प्राणी दो द्रव्यों से बना है- आत्मा और जीवित मैटर। यहाँ पर आत्मा के संयोग में आने वाले मैटर को जीवित मैटर कहा है। प्राणी के भौतिक और कार्मण शरीर का मैटर जीवित मैटर है क्योंकि भौतिक और कार्मण शरीर का आत्मा से संयोग है। जब मैं यह कहता हूँ कि मैं अपने कर्मों का फल भोग रहा हूँ, इस कथन का अर्थ है कि मेरी आत्मा और मेरा भौतिक शरीर मेरे कर्मों के फल भोग रहे हैं। अब प्रश्न उठता है कि आत्मा और भौतिक शरीर कर्मों के फल कैसे भोगते हैं? आत्मा और जीवित मैटर के कुछ गुण हैं जिनकी पर्याय/अवस्था सदैव परिवर्तित होती रहती है। कर्मों के फल भोगने पर आत्मा और जीवित मैटर के गुणों की पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है। इसलिए मैं अपने कर्मों के फल अपनी आत्मा और अपने जीवित मैटर के गुणों की पर्याय में परिवर्तन करके भोगता हूँ। कर्मों के फलने के कारण आत्मा और जीवित मैटर के गुणों की पर्याय में परिवर्तन होता रहता है। कर्म का फलना केवल आत्मा और जीवित मैटर के गुणों की पर्याय में परिवर्तन करता है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं करता। इस तथ्य पर ध्यान दें कि कर्म यूनिवर्सल होते हैं और आत्मा और मैटर के गुण भी यूनिवर्सल होते हैं। आत्मा और मैटर के गुण स्थान और समय के साथ नहीं बदलते।

कर्म की चार घातीय प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, वीर्यावरणीय (अंतराय) और मोहनीय आत्मा के चार गुणों, यानी दर्शन, ज्ञान, वीर्य और सुख, की पर्याय में परिवर्तन करती है। कर्म की चार अघातीय प्रकृतियाँ नाम, वेदनीय, गोत्र और आयु जीवित मैटर के चार प्राण से संबन्धित योग्यताओं, यानी इन्द्रियों (स्पर्श, रस, गंध, चक्षु और घ्राण), मन, वचन और काय की भौतिक क्रिया, श्वासोच्छ्वास और आयु की पर्याय में परिवर्तन करती है।¹ कार्मण शरीर की पर्याय में परिवर्तन का विवरण आगे दिया गया है।

आत्मा के ज्ञान गुण के उदाहरण द्वारा कर्मफल का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना करो कि तुमने एक अध्यापक की वार्ता सुनकर

कंप्यूटर के बारे में ज्ञान अर्जित किया। यह सत्य है कि तुम्हारे द्वारा अध्यापक की वार्ता सुनने की क्रिया तुम्हारे ज्ञान में परिवर्तन का कारण है, परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है, अपूर्ण सत्य है। तुम्हारे ज्ञानावरणीय कर्म का फल तुम्हारी आत्मा के ज्ञान गुण की पर्याय में परिवर्तन करता है, और तुम्हारे द्वारा अध्यापक की वार्ता सुनने की क्रिया तुम्हारे ज्ञानावरणीय कर्म का फल नहीं है।

तुम्हारी आत्मा की वर्तमान पर्याय ज्ञान से युक्त है। ज्ञान आत्मा का एक गुण है और यह ज्ञान आत्मा की पर्याय के साथ बदलता रहता है। वार्ता सुनने से पहले जो ज्ञान तुम्हारे पास था, तुम उसके बिना कंप्यूटर के बारे में ज्ञान अर्जित नहीं कर सकते थे और वह ज्ञान भी तुम्हारे ज्ञान में बदलाव का कारण है। इस उदाहरण में तुम्हारी आत्मा की दो पर्यायें सम्मिलित हैं; वार्ता सुनने से पहले की पर्याय, यानी पूर्व पर्याय और वार्ता सुनने के बाद पर्याय, यानी उत्तर पर्याय। आत्मा की इन दो पर्यायों में कार्य-कारण संबन्ध है। तुम्हारी पूर्व पर्याय तुम्हारी उत्तर पर्याय का एक कारण है। तुम्हारी उत्तर पर्याय तुम्हारी पूर्व पर्याय का एक कार्य है। तुम्हारी आत्मा की पर्याय में परिवर्तन के कार्य का कारण तुम्हारी पूर्व पर्याय है। तुम्हारी आत्मा की पूर्व पर्याय तुम्हारी आत्मा के ज्ञान में बदलाव का उपादान कारण है, क्योंकि तुम्हारी आत्मा की पूर्व पर्याय वार्ता सुनने के बाद तुम्हारी आत्मा की उत्तर पर्याय में बदल जाती है। तुम्हारी आत्मा के ज्ञान में बदलाव का निमित्त कारण तुम्हारे ज्ञानावरणीय कर्म का फलना है। इस उदाहरण में, उपादान कारण (तुम्हारी वार्ता सुनने से पहले की आत्मा की पर्याय) और निमित्त कारण (तुम्हारे ज्ञानावरणीय कर्म का फलना), दोनों कारण वैयक्तिक हैं; वे केवल तुम्हें प्रभावित करते हैं, किसी और को नहीं।

कर्म का फलना -

एक प्रश्न उठता है कि तुम्हारे ज्ञान के बदलाव में अध्यापक की वार्ता सुनने की क्रिया का क्या योगदान है? इस प्रश्न का उत्तर ज्ञानावरणीय कर्म की पर्याय में परिवर्तन के उपादान और निमित्त कारण पहचानने पर मिल सकता है। हर द्रव्य की पर्याय के समान कर्मों की पूर्व पर्याय का हर क्षण व्यय और उत्तर पर्याय का हर क्षण उत्पाद होता रहता है। कर्मों के फल देने से पहले की पर्याय फल देने के बाद की पर्याय से भिन्न होती है। तुम्हारे ज्ञानावरणीय

कर्म की पर्याय में परिवर्तन का उपादान कारण तुम्हारा ज्ञानावरणीय कर्म है और निमित्त कारण तुम्हारे द्वारा अध्यापक की वार्ता सुनने की क्रिया है। तुम्हारे द्वारा अध्यापक की वार्ता सुनने की क्रिया तुम्हारे ज्ञानावरणीय कर्म के फलन के द्वारा तुम्हारी आत्मा के ज्ञान को परोक्ष रूप में प्रभावित करती है।

कर्म का फलना न केवल कर्म पर निर्भर करता है, बल्कि कर्म के फलन के निमित्त कारण पर भी। कर्म के फलन के निमित्त कारण के बदलने के साथ कर्मफल भी बदलता है, जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण के साथ समझाया गया है। मान लो कि तुम कंप्यूटर की कक्षा में वार्ता सुनने की क्रिया के बजाय एक अध्यात्मिक पुस्तक पढ़ने की क्रिया करते हो। पुस्तक पढ़ने की क्रिया से तुम्हारे ज्ञान में बदलाव आता है, परन्तु तुम्हारे ज्ञान में बदलाव कंप्यूटर की कक्षा में वार्ता सुनने की क्रिया से भिन्न है। कक्षा में जाने या पुस्तक पढ़ने से पहल की दोनों परिस्थितियों में तुम्हारी आत्मा की पूर्व-पर्याय और ज्ञानावरणीय कर्म की पूर्व-पर्याय समान है, फिर भी तुम अपने ज्ञान में भिन्न बदलाव अनुभव करते हो। जब तुम कंप्यूटर की कक्षा में वार्ता के बजाय पुस्तक पढ़ते हो, तुम्हारे ज्ञानावरणीय कर्म का फल भिन्न है। ज्ञानावरणीय कर्म के फलन का निमित्त कारण दोनों परिस्थितियों में भिन्न है। निमित्त कारण एक परिस्थिति में कंप्यूटर पर वार्ता सुनने की क्रिया है और दूसरी परिस्थिति में अध्यात्मिक पुस्तक पढ़ने की क्रिया। तुम्हारी आत्मा की उत्तर पर्याय दो परिस्थितियों में एक दूसरे से भिन्न है। इस भिन्नता का कारण निमित्त कारण में भिन्नता है।

प्रत्येक क्रिया के साथ न केवल आत्मा और भौतिक शरीर की पर्याय में परिवर्तन होता है, कर्मण शरीर की पर्याय में भी परिवर्तन होता है। प्रत्येक क्रिया के साथ कर्मण शरीर से हर क्षण उदय में आए पूर्व कर्म अलग होते रहते हैं और नवीन कर्म जुड़ते रहते हैं। जीव क्रिया और कर्मण शरीर की पूर्व-पर्याय द्वारा कर्मण शरीर की उत्तर-पर्याय निर्धारित होती है। कर्मण शरीर की उत्तर-पर्याय का उपादान कारण कर्मण शरीर की पूर्व-पर्याय है और निमित्त कारण जीव की क्रिया है।

क्रिया का साधन -

इस तथ्य पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि यद्यपि कर्म यूनिवर्सल होते हैं, कर्मफल नहीं। कर्मफल कर्म के अतिरिक्त क्रिया की प्रकृति पर भी

निर्भर करते हैं और क्रिया के मूल और गौण साधन द्वारा निर्धारित होती है। यह सत्य है कि हमारी वर्तमान क्रिया हमारे पूर्वकृत कर्म नियंत्रित करते हैं, परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है, अपूर्ण सत्य है। प्रश्न उठता है कि क्या क्रिया की प्रकृति भी पूर्वकृत कर्म नियंत्रित करते हैं? तुम इस लेख को पढ़ने की क्रिया कर रहे हो। तुम्हारे इस लेख को पढ़ने की क्रिया की प्रकृति इस क्रिया के मूल साधन पर, यानी इस लेख पर, और गौण साधनों (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) पर निर्भर करती है। क्या तुम्हारे द्वारा इस लेख का इस जगह और इस समय पढ़ना भी तुम्हारे पूर्वकृत कर्म द्वारा नियंत्रित था? क्या तुम्हारे पूर्वकृत कर्म में यह जानकारी संचित थी कि तुम्हारी क्रिया के ये ही साधन बनेंगे, यानी तुम इस लेख को इस जगह और इस समय पढ़ोगे? यदि इस प्रश्न का उत्तर हाँ माना जाए, तो यह भी मानना पड़ेगा कि तुम्हारे इस समय मनुष्य गति में होने की जानकारी तुम्हारे पूर्वकृत कर्म में संचित थी। परन्तु यह जानकारी कि तुम इस भव में मनुष्य होंगे तुम्हारी पिछले भव की आयु के दो-तिहाई भाग बीतने के बाद ही कार्मण शरीर में संचित होती है, इस से पहले नहीं। इसलिए इससे पहले के पूर्वकृत कर्मों को आत्मा के साथ बंधते समय यह जानकारी नहीं थी कि तुम्हारी क्रिया के ये ही साधन बनेंगे। इसलिए यह मानना कि क्रिया के साधन की जानकारी पूर्वकृत कर्म में संचित रहती है तर्क संगत नहीं है।

तुम अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्म फलन के साधन को चुनने में सक्षम हो। कुछ व्यक्तियों की यह मान्यता है कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय सुनिश्चित है, इसलिए साधन को पुरुषार्थ द्वारा चुना नहीं जाता, साधन (निमित्त) स्वयमेव उपस्थित हो जाते हैं। इस मान्यता के अनुसार पुरुषार्थ की मनुष्य जीवन की दैनिक क्रियाओं में कोई भूमिका नहीं है।

अतिरिक्त प्रश्न -

यह संभव है कि कुछ व्यक्ति इस निष्कर्ष से कि दृष्ट फल कर्म सिद्धांत द्वारा नियंत्रित कर्मों के फल नहीं है पूरी तरह से संतुष्ट नहीं हों क्योंकि यह निष्कर्ष इस मान्यता पर आधारित है कि कर्मफल केवल आत्मा और जीवित मैटर के गुणों की पर्याय में परिवर्तन करते हैं। उन व्यक्तियों का मानना है कि धन-दौलत, सुख-दुःख के साधन, भौतिक सामग्री और उच्च-नीच कुल कर्म सिद्धांत द्वारा नियंत्रित कर्मों के फल हैं। उनका ऐसा मानने से

अनेको अनुत्तरित प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं। उनमें से कुछ प्रश्न निम्नलिखित हैं।^१

१. कर्म तो हर समय उदय में आते रहते हैं पर भौतिक सामग्री और उच्च-नीच कुल तो बहुत समय तक विद्यमान रहते हैं। भौतिक सामग्री और उच्च-नीच कुल कौन से कर्म के उदय का कारण मानी जाए?
२. यदि भौतिक सामग्री एक ही व्यक्ति को कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल प्रतीत होती है, तो वह भौतिक सामग्री किस कर्म के उदय का कारण मानी जाए ?
३. यदि मनुष्य का अच्छा आचरण उसके अच्छे कर्मों का फल माना जाए, तो सब अच्छे आचरण वाले मनुष्य धन-दौलत से सम्पन्न होने चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है, क्यों ?

इस तरह के और अनेक प्रश्न हैं जिनका तर्क-संगत उत्तर केवल इस तथ्य के आधार पर दिया जा सकता है कि दृष्ट फल कर्म सिद्धांत द्वारा नियंत्रित कर्मों के फल नहीं है।

निष्कर्ष -

कर्म सिद्धान्त एक प्राकृतिक यूनिवर्सल सिद्धांत है जिसका कोई भी प्राणी उल्लंघन नहीं कर सकता। क्रिया के यूनिवर्सल अदृष्ट फल कर्म सिद्धांत द्वारा नियंत्रित होते हैं। क्रिया के दृष्ट फल, जो यूनिवर्सल नहीं है, कर्म सिद्धांत द्वारा नियंत्रित नहीं होते। कर्मफल केवल आत्मा और जीवित मैटर के गुणों की पर्याय में परिवर्तन करते हैं। कर्मफल न केवल कर्म पर निर्भर करता है, बल्कि कर्म के फलन के निमित्त कारण, यानी क्रिया पर भी। क्रिया की प्रकृति क्रिया के मूल और गौण साधन द्वारा निर्धारित होती है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा क्रिया के साधन चुनने में सक्षम हैं।

संदर्भ :

१. Jain, Subhash C., Rebirth of the Karma Doctrin, Hindi Granth Karyalay, Mumbai, 2010.
२. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)
३. जैन, ब्र. कल्पना, सागर, गोम्मटसार कर्मकाण्ड (प्रथम अध्याय विवेचिका), शांत्याशा प्रकाशन, जयपुर, २००४

कहकोसु में वर्णित सामाजिक चिंतन

- डॉ० दर्शना जैन

भूमिका :

कहकोसु एक जैन कथाग्रंथ है तथा भगवती आराधना पर आधारित है, इसमें विभिन्न कथाओं का वर्णन किया गया है।

कहकोसु नामक ग्रंथ के रचयिता मुनि श्रीचन्द्र हैं। कवि श्रीचन्द्र ने अपना यह कथा ग्रंथ मूलराज नरेश के राज्यकाल में अणहिल्लपुर पाटन में समाप्त किया था। मूलराज सोलंकी ने सं० ९९८ में चावड़ा वंशीय अपने मामा सामन्तसिंह को मारकर राज्यछीन लिया था और स्वयं गुजरात पाटन अणहिलवाड़े की गद्दी पर बैठ गया।

मुनि श्रीचन्द्र ने कहकोसु की रचना के पूर्व भगवती आराधना की दो गाथायें उद्धृत की हैं। कथाओं का प्रारंभिक परिचय एवं शीर्षक के बाद प्रायः भगवती आराधना की गाथाओं का भाग दिया है। डॉ. ए० एन० उपाध्ये ने कथाकोश अथवा कहकोसु की प्रस्तावना में एक तालिका दी है,^१ जिसमें यह दृष्टव्य है कि किस प्रकार विभिन्न कथायें क्रमशः भगवती आराधना की गाथाओं से संबन्धित हैं। कई कथाओं में श्रीचन्द्र ने कहकोसु में भगवती आराधना का अनुशरण किया है। इस कहकोसु में ५३ संधियाँ हैं, जिनमें विविध व्रतों के अनुष्ठान द्वारा फल प्राप्त करने वालों की कथाओं का रोचक ढंग से संकलन किया गया है। कथाएँ सुन्दर और सुखद हैं। इस ग्रंथ की प्रत्येक सन्धि में कम से कम एक कथा अवश्य आई है। ये सभी कथाएँ धार्मिक और उपदेशप्रद हैं। कथाओं का उद्देश्य मनुष्य के हृदय में निर्वेग भाव जागृत कर वैराग्य की ओर अग्रसर करना है। कथाकोश में आई हुई कथाएँ तीर्थंकर महावीर के काल से गुरुपरम्परा द्वारा निरन्तर चलती आ रही हैं।

अतः कहकोसु कथाग्रंथ में मुनि श्रीचन्द्र ने भगवती आराधना तथा बृहत्कथा कोश से कथावस्तु ली है इसीलिए सामाजिक चित्रण में पौराणिक समाज का प्रभाव आंशिक रूप से प्रतिबिम्बित होता है। कवि ने अपने समय में प्रचलित सामाजिक मान्यताओं, प्रथाओं तथा संस्थाओं को अल्प ही चित्रित

किया है लेकिन इसके अनुशीलन से कुछ झलक तो अवश्य ही पाई जाती है। कहकोसु में चित्रित सामाजिक जीवन की झांकी निम्न रूप में हैं।

समाज के घटक तत्त्व :

वर्ण व्यवस्था -

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' (वृज् वरणे) धातु से मानी गई है, जिसका अर्थ होता है चयन या चुनाव करना। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने जिस व्यवसाय का चुनाव करता है, उसी के अनुसार उसका वर्ण निर्धारित होता है। राज्य एवं समाज के रूप में समन्वय लाने के लिए कार्यगत प्रवीणता एवं कुशलता हेतु वर्ण व्यवस्था का जन्म हुआ। वर्ण व्यवस्था की संस्थापना वृत्ति और आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिए थी न कि उच्चता व नीचता के कारण।

जैन परम्परा के अनुसार यौगलिकों के समय वर्ण व्यवस्था नहीं थी। राजा नाभिराज ने प्रजा की आजीविका की समस्या का समाधान करने के लिए राजा आदिनाथ को आदेश दिया तथा राजा आदिनाथ ने क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना कर कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात किया।¹ क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों का प्रमुख कर्म असि, मषि, कृषि, शिल्प, विद्या तथा वाणिज्य निश्चित किया गया। लेकिन कालान्तर में शिक्षा प्रदान करने तथा धार्मिक क्रियाकाण्ड व अनुष्ठान को संपन्न करने के लिए पृथक् वर्ग की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, इसके फलस्वरूप भरत चक्रवर्ती ने ऋषभदेव के केवलज्ञानोपरान्त ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की।² कहकोसु में चारों वर्णों का उल्लेख प्राप्त होता है। तथा वैश्य वर्ण में हरिदत्त वैश्य, सोमदत्त मुनि का गृहस्थ अवस्था का कुल वैश्य था। शूद्र वर्ण में यमपाल चाण्डाल का कथानक, तथा ब्राह्मण वर्ण में विष्णुकुमार मुनि कथा में चार ब्राह्मण मंत्रियों का कथानक दृष्टव्य है।

क्षत्रिय -

क्षति से बचाने वाला वर्ण ही 'क्षत्रिय' इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध हुआ। राज्य एवं समाज की रक्षा का भार क्षत्रिय वर्ण पर था। उनका वर्णगत गुण शासन और सैन्य कर्म था। न्याय की स्थापना तथा अधर्मियों को दण्ड देना क्षत्रियों के कर्तव्य क्षेत्र में सम्मिलित था। क्षत्रिय वर्ण का प्रमुख कर्तव्य भुजा में शस्त्र धारण करना था। शस्त्र धारण करने का प्रमुख उद्देश्य निर्दोष जीवों को क्षति न पहुँचा शरणागत रक्षण था। कहकोसु की दस संधियों में

क्षत्रिय धर्म के दर्शन वारिषेण मुनि के कथानक में राजा श्रेणिक द्वारा चोरी के अपराध में वारिषेण को बिना पुत्र मोह के मृत्यु दण्ड देना है। द्वितीय दृष्टांत अंजनचोर के कथानक में अंजन चोर का सैनिकों के द्वारा पीछा किया गया तथा तृतीय दृष्टांत में हरिषेण चक्रवर्ती का युद्ध वर्णन प्राप्त होता है जिसमें वह क्षत्रिय धर्म का पालन करता हुआ दुष्टों पर विजय प्राप्त कर सज्जनों की रक्षा करता है। चतुर्थ कथानक में विष्णुकुमार मुनि कथा में राजा द्वारा चार मंत्रियों को नगर से निकाले जाने की सजा सुनाना है। इस प्रकार कहकोसु में क्षत्रिय धर्म का वर्णन प्राप्त होता है।^{१५}

वैश्य -

वैश्य अपने उदर की पूर्ति के साथ-साथ समाज की अर्थव्यवस्था एवं भरण-पोषण का भार वहन करते थे। वैश्य वर्ण के द्वारा ही राज्य को आर्थिक सुदृढ़ता प्राप्त होती थी। एक स्थान से दूसरे स्थान को वस्तुओं का आयात निर्यात कर प्रजा के जीवन में सुख का संचार करना चाहिए। जो व्यक्ति प्रस्तुत कार्य के लिए सन्नद्ध हुए वह वैश्य की संज्ञा से अभिहीत किए गए।^{१६} कहकोसु से सोमदत्त मुनि की कथा में वैश्य वर्ण के दिग्दर्शन होते हैं। जहाँ पर सोमदत्त से व्यापार के लिए कुछ धन उधार माँगा था तथा मुनि बनने के बाद सोमदत्त मुनि से हरिदत्त अपना धन वापस करने को कहता है। अन्य बहुत से स्थानों पर वैश्य वर्ण का उल्लेख मिलता है। सूरमित्र की कथा में दोनों वणिक पुत्रों का महारत्न के लिए विदेश गमन का वर्णन वैश्य कुल की द्योतक है।^{१७}

शूद्र -

श्री ऋषभदेव ने मानवों को यह प्रेरणा दी कि कर्म युग में एक दूसरे के सहयोग के बिना कार्य नहीं हो सकता। अतः सेवाभावी व्यक्ति शूद्र कहलाया।^{१८} जिस प्रकार शरीर का सारा भार पैरों पर होता है उसी प्रकार शूद्र वर्ण पर समाज की सेवा का पूरा-पूरा भार होता था।^{१९} कहकोसु में श्रुतविनय के आख्यान में विद्याधर युगल के द्वारा मातंग का वेष धारण करना, विष्णु पद्गुम्न कथानक में चाण्डान का कथन^{२०}, उस समय जाति के सद्भाव का द्योतक है।

ब्राह्मण -

वैदिक संस्कृति ब्राह्मण वर्ण को प्रथमतः स्वीकार करती है लेकिन श्रमण संस्कृति में सर्वप्रथम क्षत्रिय वर्ण को माना गया। भरत के राज्यकाल में

श्रावक कर्म उत्पन्न होने पर ब्राह्मण अर्थात् माहण की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मण से त्याग, कर्तव्यपरायणता, साधना तथा बौद्धिक श्रेष्ठता की अपेक्षा की जाती थी। वह राज्य तथा समाज के हित के लिए धार्मिक क्रियाओं को संपन्न करता था तथा साधना और तपश्चर्या द्वारा समाज का मार्ग निर्देशन करता था।^{१०} यह वर्ण अत्यन्त सरल स्वभावी तथा धर्मप्रेमी था इसलिए जब किसी को मारते पीटते देखते तो कहते थे मा हण तभी से ये माहण ब्राह्मण भी कहे जाने लगे।^{११} ब्राह्मण वर्ण यज्ञोपवीत धारण करता था^{१२} तथा गर्भान्वय, कर्मान्वय तथा दीक्षान्वय क्रियाओं को करने वाला था। कहकोसु में ब्राह्मण वर्ण को पुरोहित के रूप में भी स्वीकार किया है। जिसमें कल्लासमित्र की कथा में शिवभूति पुरोहित नाम आता है।

मित्र प्रेम व गुरुभक्ति -

मित्र का महत्व जीवन में असन्दिग्ध है। 'सत्संगति कथय किं न करोति पुंसामः।' मित्र वह होता है जो गुणों को तो प्रकट है तथा दोषों को छिपाता है। अच्छे मित्र की संगति बुद्धि, यश, धन, सत्य, प्रसिद्धि हृदय में प्रसन्नता इत्यादि गुणों को प्रकट करती है। कहकोसु में मित्रता के लिए वारिषेण राजकुमार और उनका मित्र पुष्पडाल का नाम आता है तथा सोमदत्त मुनि और हरिदत्त की मित्रता तथा दुष्ट मित्रता के उदाहरण में बलि, प्रह्लाद, नमुचि, बृहस्पति इन चार मंत्रियों का नामोल्लेख किया है जिसमें यह चारों सभी प्रकार के निंदनीय कार्य साथ में करते हैं।

स्त्रीवर्ग में भी अंतरंग सखियाँ होती थी तथा एक सखी से अपने हृदय में स्थित सभी प्रकार की गूढ़ से गूढ़ बात कर मन का बोझ हलका कर लेती थी। श्रीचंद्र मुनि ने इसका वर्णन दस संधियों के अतिरिक्त संधियों में किया है। उसमें सेठ सुदर्शन की कथा का वर्णन आता है जिसमें रानी की सखी का उल्लेख प्राप्त होता है।^{१३}

गुरु भक्ति -

गुरु चिरकाल से ही पूजनीय रहे हैं। जैन परम्परा में गुरुओं का नाम देवशास्त्र के बाद लिया जाता है। अतः मुनि श्रीचंद्र ने भी गुरुओं का आख्यान किया है। गुरुओं के संबंध में कहकोसु में जो कथानक आये हैं उनसे यह ध्वनित होता है कि मुनि श्रीचंद्र ने दो प्रकार के गुरुओं का नाम दिया है, प्रथम दीक्षा गुरु अर्थात् निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु तथा दूसरे शिक्षा गुरु जो राजमहलों में राजकुमारों की शिक्षा पूर्ण करते थे। प्रथम निर्ग्रन्थ गुरुओं के कथानक में रेवती

रानी के आख्यान में मुनिगुप्त ने दक्षिण मथुरा से विद्याधर श्रावक के साथ रेवती रानी को आशीर्वाद भेजा। तथा उसी कथानक में दूसरी ओर भवसेन मुनि जो ग्यारह अंग के धारी थे परन्तु मिथ्यादृष्टि थे उनके वंदना भी नहीं की। इससे यह भी प्रतीत होता है कि सद्गुरुओं का आदर जग में सभी जगह होता है तथा सद्गुरु भी सम्यग्दृष्टि को सदैव आशीर्वाद आदि उपेक्षित दिया करते हैं तथा मिथ्यादृष्टियों को सम्मान भी नहीं देते हैं। दूसरे कथानक में विशाख मुनि की रानी चेलना के द्वारा वैयावृत्ति सद्गुरु का आदर है। वारिषेण मुनि का नाम भी सच्चे गुरु की श्रेणी में गिना जाता है। विष्णुकुमार मुनि ने तो सच्चे गुरु होने का प्रमाण जग के सामने दर्पण के समान प्रतिबिम्बित किया है। जिसमें उन्होंने अपने गुरु महापद्म से आज्ञा लेकर अंकपनाचार्य आदि ७०० साधुओं का उपसर्ग दूर किया। साधु भी उपसर्ग दूर करने में समर्थ होते हैं। तृतीय उदाहरण में वज्रकुमार ने धर्म की प्रभावना कराकर सच्चे गुरु होने का संकेत दिया है। सोमदत्त मुनि ने मुनि के अट्ठाईस मूलगुणों का विस्तृत वर्णन करके गुरु के महत्त्व को प्रदर्शित किया है। गुरुनिहव में जहाँ कालसंदीप मुनि को गौरसंदीप मुनि का गुरु बताया है वहीं पूर्व गृहस्थ अवस्था में कालसंदीप को चंदप्रद्योत का गुरु कहा है यहाँ पर गौर संदीप के दीक्षा वह शिक्षा गुरु के रूप में कालसंदीप का वर्णन है वहीं पर कालसंदीप को चंदप्रद्योत राजा का शिक्षा गुरु होने का सम्मान भी दिया गया है। इसी प्रकार उपधान कथा, ज्ञान बहुमान कथा, व्यंजनहीन कथा, अर्थहीन कथा, व्यंजन अर्थहीन कथा, व्यंजन अर्थ-उभय शुद्धि कथा में शिक्षा गुरु का नामोल्लेख किया है जो राजकुमारों को पढ़ाने के लिए राजमहलों में जाया करते थे तथा राजमहलों में उन्हें पूरा सम्मान प्राप्त होता है। इस प्रकार गुरु को राजगुरु होने का गौरव भी प्राप्त होता था। कहकोसु में दीक्षा गुरु और शिक्षा के अतिरिक्त विद्या गुरु का भी आख्यान प्राप्त होता है। विद्याधर युगल का चाण्डाल के रूप में सुप्रतिष्ठित साधु को विद्या देना तथा अपने को गुरु के सम्मान के रूप में स्वीकार करने की शर्त रखना। विद्यागुरु होने के संकेत देते हैं।^{१४}

मनोरंजन एवं धार्मिक उत्सव -

प्रकृति के अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य की आमोद-प्रमोद में अधिक रुचि होती है। प्राचीन समय का मानव आज की तरह व्यस्त नहीं था वह मनोरंजन के लिए अनेक प्रकार की कलाएं सीखता था, तथा स्वयं भी अनेक कलाओं का विकास करता था। इसके अतिरिक्त निरंतर कार्य करने

से श्रान्त मानव क्रीड़ाविनोद द्वारा ही नई शक्ति तथा स्फूर्ति का संचय करता था तथा भावी जीवन में सफलता प्राप्त करता था। आदिपुराण में स्पष्ट कहा गया है कि “उन्मार्ग कं न पीड्यते”, “अत्यन्तरसि कानादौ पर्यन्ते प्राणहारिणः”^{१५} अर्थात् सर्वथा विनोद और क्रीडाओं का सेवन करने वाला व्यक्ति उन्मार्गगामी है। कहकोसु की दस संधियों में मनोरंजनार्थ नागक्रीड़ा, वनक्रीड़ा का उल्लेख प्राप्त होता है।

वनक्रीड़ा -

कहकोसु में कवि मुनि श्रीचंद ने वनक्रीड़ा का वर्णन प्रस्तुत किया है। वनक्रीड़ा के वर्णन में वज्रकुमार राजकुमार का कथानक आता है। जब वह ह्रीमंत पर्वत पर प्रकृति की शोभा देखने को गया। इसी प्रकार का कथानक वनमहोत्सव के रूप में मदिरा व्यवसायी पूर्णचन्द्र ने वन में घी, शर्करा के मिष्ठान्न का आयोजन किया^{१६} इस प्रकार वन में क्रीड़ा करने की परंपरा प्राचीन समय से चली आ रही है।

नागक्रीड़ा -

कहकोसु में मुनि श्रीचंद ने वनक्रीड़ा के अतिरिक्त नागक्रीड़ा का वर्णन भी किया है। इसमें नागदत्त राजकुमार नागों से खेलने का शौकीन होता है जिसको वैराग्य दिलाने के लिए उसका पूर्व भव का मित्र देव आता है और दो भयंकर नागों से खेलने के लिए नागदत्त को प्रेरित करता है नागदत्त उसकी प्रेरणा को चुनौती समझकर नागों से खेलने लगता है। बातों बातों में नाग नागदत्त को डस लेता है और नागदत्त मूर्छित हो जाता है। नागदत्त को जीवित करने के लिए देव ने नागदत्त के पिता राजा से नागदत्त को मुनि की शर्त रखी। इस प्रकार नागक्रीड़ा का वर्णन प्राप्त होता है।^{१७}

आष्टाहिक महोत्सव -

यह पर्व कार्तिक, फाल्गुन, आषाढ मास के अन्त के आठ दिनों में मनाया जाता है। जैन मान्यतानुसार इस पृथ्वी पर आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है। उस द्वीप में ५२ जिनालय बने हुए हैं। उनकी पूजा करने के लिए स्वर्ग से देवता उक्त दिनों में जाते हैं चूँकि मनुष्य वहाँ नहीं जा सकते, इसलिए वे उक्त दिनों में पर्व मनाकर यहीं पूजा कर लेते हैं जो व्यक्ति इसे भाव सहित तीन वर्षों तक करता है उसे स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है।^{१८} कहकोसु में दो स्थानों पर आष्टाहिक पर्व का उल्लेख आता है राजा पृथ्वीमुख की रानी ओर्विला प्रतिवर्ष अपने नगर में जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा निकालती थी। द्वितीय उदाहरण में

हरिषेण चक्री अपनी माता के अष्टाह्निन पर्व पर रथयात्रा निकाले के संकल्प को पूरा करता है।^{१९} इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में धर्म के पर्वों में भी उत्सव मनाया जाता था।

राज्याभिषेकोत्सव -

राजा राज्य सुख भोगने के पश्चात् तप और ध्यान के लिए दीक्षा ग्रहण करता था। उससे पूर्व वह राज्य का उत्तरदायित्व अपने सुयोग्य तथा समर्थ पुत्र को सौंपता था और इस हेतु पुत्र का राज्याभिषेक किया जाता था। कहकोसु में मुनि श्रीधर के पुनः राज्य स्वीकार करने पर मंत्रीवर्ग ने उनका राज्याभिषेक किया।^{२०} इससे यह भी ध्वनित होता है कि पूर्व काल में मुनि भी अपने राज्य की रक्षा के लिए मुनि पद का त्याग पुनः अपना राज्य स्वीकार कर लेते थे परन्तु यह मार्ग अपवाद मार्ग है।

विवाह संस्कार -

शास्त्रकारों ने विवाह की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है- सद्देवस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते अर्थात् सातावेदनीय और चारित्रमोहनीय के उदय से विवहन, कन्यावरण करना विवाह कहा जाता है। अग्नि, देव और द्विज की साक्षी पूर्वक पाणिग्रहण क्रिया का संपन्न होना विवाह है।

सोमदत्त तथा यज्ञदत्ता के विवाह संबन्ध के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि बुआ तथा मामा के पुत्र व पुत्री का विवाह संबन्ध स्वीकार था। कहकोसु में बहुविवाह की प्रथा का समर्थन भी प्राप्त होता है यथा- हरिषेण ९६००० कन्याओं से विवाह कर उन्हें अपनी रानी बनाया। रानी चेलना के पुत्र वारिषेण का विवाह ३२ सुंदर कन्याओं के साथ हुआ। राजकुमार वज्रकुमार ने मदनवेगा राजकुमारी के साथ विवाह किया। कल्लासमित्र की कथा में मदिरा व्यापारी पूर्णचंद्र अपने पुत्री का विवाह बड़े उत्सव के रूप में करता है तथा उसने पुत्री का विवाह के उपलक्ष्य में पूरे नगर को भोजन दिया था।

कहकोसु में विजातीय विवाह के संबंध में उल्लेख प्राप्त होता है। कहकोसु में बुद्धदासी के कथा में राजा जैनधर्म का अनुयायी और क्षत्रिय था तथा बुद्धदासी रानी वैश्य और बुद्धदासी को देखकर प्रेम हो जाने के कारण राजा ने धर्म परिवर्तन कर बुद्धदासी से विवाह कर लिया। इसे प्रेम विवाह भी कह सकते हैं। वहीं दूसरे कथानक में राजा विशाखादत्त ने अपने नगर में रहने

वाले चित्रकार विचित्र की पुत्री बुद्धिमती से विवाह किया। जो शिल्प का कार्य करने वाले चित्रकार की पुत्री थी। प्राचीन समय में कर्म के अनुसार वर्णों का विभाजन होता था उसमें चित्र आदि शिल्प का कार्य करने वाले व्यक्ति को शूद्र की श्रेणी में रखते थे। अतः राजा विशाखदत्त ने क्षत्रिय वंश के होते हुए भी शूद्र की कन्या से विवाह किया। इससे यह भी ध्वनित होता है कि प्रेम के वशीभूत होकर राजा भी विजातीय विवाह कर लेता था।

पुरातन काल में वयस्क होने पर कन्याओं के विवाह हुआ करते थे, जिससे वे अपने वर के लिए कुछ शर्तें भी रखती थी। तथा अपने पति से गूढ़ प्रश्न भी पूछती थी तथा कुछ अलौकिक ज्ञान तथा तपस्वी आदि करने में महारत हासिल करती थी। वज्रकुमार की पति मदनवेगा ने वन में जाकर तपस्या की यह उसकी वयस्का होने का प्रतीक है। हरिषेण ने लावण्ययुक्त मदनावती से विवाह किया लावण्यता उसकी वयस्का होने का कारण है। बुद्धिमती अत्यधिक चतुर थी तथा उसके अंगों से सुंदरता तथा लावण्यता झलक रही थी। यह भी उसकी वयस्का होने का संकेत है।^{१९} इससे यह ज्ञात होता है कि वयस्क कन्या का ही विवाह होता था, अवयस्क कन्या को विवाह के योग्य नहीं समझा जाता था।

प्राचीन समय में विद्याधरों की कन्याओं के साथ युवकों के विवाह हुआ करते थे। हरिषेण ने ३२००० विद्याधन कन्याओं से विवाह किया।^{२०}

कहकोसु में एक ऐसा उदाहरण भी जिसमें कन्या दान के लिए धन देना पड़ता था। तथा कन्या का पिता अपनी पुत्री का विवाह धन लेकर करता था। यथा-टक्क देश में बलदेवपुर नाम का नगर है। वहाँ का राजा बलभद्र है। उसके राज्य में धनदत्त नाम का सेठ रहता था। जिसकी धनवती नाम की एक पुत्री थी। उसी नगर में पूर्णभद्र नाम का अन्य वणिक निवास करता था। जिसके पूर्णचन्द्र नाम का पुत्र था। पूर्णचन्द्र ने अपने पुत्र के लिए धनदत्त की पुत्री धनवती की याचना की। तब धनदत्त ने पूर्णभद्र से धन लेकर अपनी कन्या का दान दी।^{२१} यह उदाहरण यह भी प्रस्तुत करता है कि कन्या के जगह धन का आदान-प्रदान भी इस काल में प्रचलित था।

शिक्षा -

शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानोद्भव का आधार तत्त्व शास्त्र और विवेक माना गया है। समाज में दो प्रकार के लोग रहते हैं एक तो

वे जो प्रत्येक कार्य को समझकर अथवा ज्ञान से करते हैं। दूसरे वे जो बिना समझे अथवा अज्ञान से करते हैं। जो कर्म समझकर ज्ञान से किए जाते हैं, वे कर्म शक्तिशाली तथा सफल होते हैं। अतः शिक्षा का महत्व स्वयंसिद्ध है।

शिक्षा की समुचित व्यवस्था पर ही सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा वैज्ञानिक प्रगति संभव है। संपूर्ण जीवन शिक्षा के लिए है तथा शिक्षा संपूर्ण जीवन के लिए। इस विधान के साथ-साथ प्राचीन समय में प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य को विशेष रूप से शिक्षा का काल घोषित किया गया था। कहकोसु कालीन समाज पूर्ण रूप से शिक्षा समाज था। माता-पिता अपनी संतान को शिक्षा प्रदान करने में कोई कमी नहीं रखते थे।

इस काल में शिक्षा उच्चकुल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझी जाती थी। राजा अपने राजकुमार को अवश्य शिक्षा देता था। कोई भी पिता अपने गुरु को जो उसके पद अथवा व्यापार का उत्तराधिकारी है, उसे शिक्षा देना अनिवार्य मानता था। कहकोसु की व्यंजनहीन कथा राजा वीरसेन ने अपने पुत्र सिंहस्थ के अध्ययन के अपने राज्य व्यवस्था संबंधी पत्र में एक वाक्य लिखा - सिंहो अध्यापयितव्यः अर्थात् सिंहस्थ की अध्ययन की व्यवस्था की जाए। तथा अर्थहीन कथा में राजा वसुपाल ने अपने पुत्र वसुमित्र के अध्ययन के लिए गर्ग नामक एक विद्वान नियुक्त किया था।¹⁸ इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय अध्ययन कितना आवश्यक था कि राजा युद्ध क्षेत्र से भी अपने पुत्र के अध्ययन के लिए व्यवस्था किया करते थे।

- संदर्भ : १. कहकोसु, प्रस्तावना, पृष्ठ-११ २. पुरुदेवचम्पू ७/१४ ३. पुरुदेवचम्पू १०/४५
 ४. कहकोसु, संधि-३, २, ८ ५. महापुराण २४४/१६/३६८, ऋषभदेव एक परिशीलन पृ. ८६
 ६. कहकोसु, संधि- ५, ७ ७. महापुराण, २४५/१६/३६८ ८. पुरुदेवचम्पू ७/२७
 ९. कहकोसु, संधि- ६, ९ १०. पुरुदेवचम्पू १०/४५
 ११. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृष्ठ २२३ १२. पुरुदेवचम्पू १०/४२
 १३. कहकोसु, संधि-२२ १४. कहकोसु, संधि-२, ३, ४, ५, ६
 १५. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २३९ १६. कहकोसु, संधि- ४, ७ १७. कहकोसु, संधि- ७
 १८. जैन व्रत कथा संग्रह, पृ० १२९ १९. कहकोसु, संधि- ४, ८
 २०. कहकोसु, संधि- १० २१. कहकोसु, संधि- ४, ५, ८ २२. कहकोसु, संधि- ८
 २३. कहकोसु, संधि- ७ २४. कहकोसु, संधि- ६

- पालम गांव, नई दिल्ली-११००७५

AHIMSA AND PEACE

- Prof. Harishanker Pandey

1. Proem:

Ahimsa is the constitute of shanti and shanti is the perennial source of the non-violence. Violence generates from the evil mind or taints. Affliction, love, hate delusion and anger are regarded as taints (कषाय) When the mind become free from all taints is tranquil. Taintless is called placidity. The placidity or tranquillity is the primordial source of Ahimsa, So, the tranquillity (शांति) is comprehensively is being discussing in this context.

शांति (peace)

1. Overview

The term 'peace' is very attractive, earnest and profound word of Indian intelligentsia and culture both. It is perennial source of all goodness and beatitude. All beings wish mental peace environmental tranquillity, socio-cultural harmony, personal placidity and beautiful life. The शांति is the giver of all merits, the abode of benevolence and non-violence, the storehouse of pity. The dwelling of generous and tenderness of feelings and treasure of all sober attributes. It removes all evil and ferocious feelings and illumines the inner-luster.

2. Derivation and Etymology of the word "शांति"

It derives from the root "शमु-उपशमे" of divâdigana with suffix क्तिन्. शमनं प्रशमनं मनः प्रसादनं च शान्तिः i.e. tranquillity, placidity and happiness of mind is sânti. कामक्रोधादिप्रशमः शान्तिः, i.e. pacification of passion, lust, anger etc is sânti. चित्तोपशमः शान्तिः, i.e. tranquillity of activating mind is called sânti or peace. विषयेभ्यः इन्द्रियोपरमः, i.e. restraining the sense-organs from their objects is called sânti. The total establishment of sense-organs in inner-self is recognized as 'शांति'।

3. Cognate terms-

There are many lexicons presented the cognate terms or synonyms of the term शान्तिः। The oldest lexicon Amarkosha renders cognate terms- शमथ, शमः शान्तिः (अमर. ३.२.३)

There five cognate terms of 'शान्तिः' are presented by Acharya Hemachandra in the अभिधानचिन्तामणि:-

शमः शान्तिः शमथोपशमावपि तृष्णाक्षयः (अभिधान. २.२१८)

The शमथः derives from the root शमु उपशमे to tranquil, with suffix अथच्. It denotes meanings 'tranquillity' quiet, absence of passion etc. (Sanskrit English Dic. page 1054)

The शमः originates from above-mentioned root with suffix घञ् (अ). It presents meanings tranquillity, calmness, rest, equanimity. Some lexicographers its define- विषयेभ्य इन्द्रियोपरमणं शमः; i.e. abstraction of sense organs from their objects. According to the Vedantasara the 'शम' is essential for all, who eager to attain the self-knowledge i.e. शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। the 'शम' is defined as thus by Sri Yogindra सदानन्द-शमस्तावत् श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयेभ्यो मनसो निग्रहः (वेदान्तसार, पृ. ६०) i.e., obstruction of the mind from objects distinct from श्रवण hearing of the praises मनन reflection on the attributes of the God निदिध्यासन profound and repeated meditation.

The उपशमः originates from the शमु उपशमे with suffix घञ् and prefix उप. It presents various meanings the becoming quiet, assuagement, alleviation, cessation, tranquility of mind, calmness and patience etc. The term उपशम renders a tranquil state of mind, where passions, aversion, anger, deceit etc. have been totally stopped. The eternal tranquillity of mind is उपशमः, Cessation of all desires and mundane wishes. उपशमः 'तृष्णाक्षयः उपशमः' -

4. Meaning of शान्ति- There many lexicons, which refer various meanings-

Tranquillity, peace, quiet, calmness of mind, absence of passion, awaiting of pain, indifference to objects of pleasure and pain, alleviation, apause, breach, interruption, any expiatory or

propitiatory, rite for averting evil or calamity, welfare, prosperity, good fortune, ease, comfort, happiness, bliss.

4. The word santi in the vedic literature- The Indian culture comprises of the three streams, i.e. Vedic, Jain and Baudha traditions. The Vedic culture is depicted in Vedic Sanskrit literature, which is very comprehensive, vast, alluring, pellucid and endowed with elevated state. The word santi is very inherent and congenital attribute of the Vedic literature.

Sarve bhavantu sukhinah sarve santu niramayah

Sarve bhadrani pasyantu ma kascita dukhahbhagabhavet.

The Bhavisya Purana 3.2.15-14

i.e., may all be happy, may all be free from illness (disease) may all realize what is good, may none be subject to misery.

This verse is very pious, compendious and penetrated illustration of Indian values. The preceptor of Vedic culture and tradition wishes auspicious life for all animates and non-animates and chants this melodious verse in very sonorous sound-

***Svasti prajabhyah paripalayatam nyayenamargena maahim mahisah
godrahmanebhyah subhamastu nityam lokah samastah sukhino
bhavantu.*** **The Bhagavatmahapuranam-**

i.e., may the good for all animates, may the sovereign ruler the earth, following the righteous path. May be unerring auspicious to all respected beings. May the world be prosperous and happy.

All rituals of the Vedic tradition start from the wishing happiness and placidity for all beings. The prophet of this tradition or a all knowing personality that is called Rishi chants a mantra (शांतिमंत्र) in the very scintillating and sonorous sound, which is being sung is the very starting time of all rituals or sacrifices or ceremonies.

**Om dauh santirantariksam santih prithavi santirapah
santih rosadhayah santih vanaspatayah santih visvedevah**

santih brahmah santis sarvam santih santi reva santi sama santiredhih.

i.e., Om may there be happiness in heaven, may there be peace in the sky, may there be tranquillity in the earth, may there be happiness in the water, may there be peace in the plants, may there be peace in the trees. May there be calmness in the gods, may there be peace in Brahman, and May there be happiness in all. May that peace, real peace be mine.

Srimad Bhagvatgita and sânti-

The Srimad BhagavatGita is very celebrated and unique volume of Indian wisdom as well as universal understanding. It is the gracious abode of ambrosia, bestower of beatitude and happiness and giver of all desired things like wish-yielding tree. It destructs the cycle of birth and death and showers of the nectar of Advaita and directly emanated from the lower lip of the Lord Srikrishna.

The word sânti is used at many times in the meaning of peace, restraint and goodness of mind. It shows a mental state, which is free from all types of desires, wants and attachments. It confers unlimited happiness and root cause of all type of good nesses.

The word sânti is selfrestraint or Restraining of sense organs from their objects is called sânti. The unmeditated or fickle mind never can attain the state of 'शान्ति'. Therefore, it is stated that the 'शान्ति' is the primordial cause and perennial source of all happiness and pleasures. Sri Bhagawana Srikrishna says-

नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्यभावना।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ (गीता. २-६६)

No knowledge of the self has the unsteady, Nor has he meditation. To the unmeditative there is no peace, and how can one without peace have happiness.

The word शान्तिः is used in the meaning of the emancipation. The total cessation of all sense organs, materials and fetters (like

anger, aversion, deceit etc.) is respected in the happy state of the शांतिः. Here the word शांति is used as the cognate terms of मोक्ष or निर्वाण. Bhagavan Srikrishnan says that the शांति is the supreme bliss in which a muni totally abandoning his all desires and afflictions obtains, the supreme state, i.e., the 'शांति' mentioned in Gita.

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
(गी. २.७०)

As into the ocean brimful and still, flow the waters, even so the muni into whom enter all desires, he, and not the desire of desires, attains to peace.

He is a restrained muni like the ocean. The ocean is not at all affected by the waters flowing into it from all sides, like so muni who is self restrained never afflicted by any desire. He attains the supreme peace.

Some attributes of who are described who eager to attain the शांति. The Geeta says-

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गी. २.७१)

i.e., The man who lives devoid of longing, abandoning all desires, without the sense of I and mine, he attains to peace.

There are various means, which are required to attain 'शांति', as below mentioned-

1. Desirlessness.
2. Work without hankering of fruits or action without any desideratum.
3. Removal of proud and vanity.
4. Cessation of all type of aversion and attachment.
5. Equanimity, equality, passion and endurance.
6. Admiration and good faith upon spiritual doctrine.
7. Self-restraint, tranquillity of mind and purity of action.
8. Self-knowledge and knowledge of doctrine and dogma.

In further chapters the Srimad Bhagavata Gita delineates to word 'शांति' in the sense of the supreme happiness, the excellent tranquillity, the emancipation and the eternal beatitude.

Here the three word "शांतिम्", "निर्वाण" and "मत्संस्थाम्" are depicted as cognate terms but interrelated. The शांति is similar to निर्वाणपरमाम् the supreme good or beatitude and the supreme good or the highest peace is residing in the supreme Lord Srikrishna. So, the 'शांति' is the root cause of the supreme bliss.

Once the word 'शांति' is used in the sense of the supreme goal (i.e., परागति) one who is engaged his duty, pious, pure and righteous attains to the eternal peace- 'शत् शांतिम्।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शुद्धान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भद्रः प्रणश्यति॥ (गी. ९.३१)

i.e., soon does he become righteous and attain eternal peace, O! Son of Kunti boldly canst thou proclaim that my devotee is never destroyed.

The supreme peace is equal to the eternal abode. By the grace of the supreme Lord can may be attain. The Srimad Bhagavata Gita says-

तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाक्तम्॥ (गी. १८.६२)

i.e., take refuge in him with all thy heart, O! Bharata by His grace halt thou attain supreme peace and the eternal abode.

It is summarized that the word 'शांति' is very comprehensively described in the Srimad Bhagavata Gita and other Indian scriptures It is a state of tranquil mind, the unparallel abode of all type of goodness, and the perennial source of non-violence. Without peace non-violence never alive and without non-violence peace never flourished.

- Dean: Sramana Vidya Sankaya,
Sampoornanand Sanskrit University,
Varanasi (U.P.)

गतांक से आगे....

पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' स्मृति व्याख्यानमाला २२ दिस. २०१३ में दिया गया व्याख्यान -

आचार्य समन्तभद्र का आप्त मीमांसा

प्रो. श्रीयांश कुमार सिंघई, जयपुर

अष्टम परिच्छेद :

इस में चार कारिकाओं द्वारा आचार्य समन्तभद्र ने अर्थसिद्धि के लिए दैव (भाग्य) और पुरुषार्थ की भूमिका पर विचार किया है। उनके अनुसार न तो मात्र दैव से ही अर्थ की सिद्धि होती है और न ही केवल पुरुषार्थ से ही अर्थसिद्धि मानी जा सकती है। क्योंकि दैव भी पुरुषार्थ सापेक्ष होता है और पुरुषार्थ भी दैव सापेक्ष होता है। दैव की सिद्धि पुरुषार्थ से ही तो होती है और पुरुषार्थ भी दैव की छत्रच्छाया में किया जाता है। यदि सर्वथा ही दैव और पुरुषार्थ को कार्यसिद्धि या अर्थसिद्धि का कारण मानेंगे तो क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य समन्तभद्र ने यहाँ दिया है -

‘दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम्।

देवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत्॥”

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम्।

दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत्॥^{६७}

इन कारिकाओं से स्पष्ट होता है कि यदि दैव यानि भाग्य से ही अर्थसिद्धि स्वीकार करेंगे तो पुरुषार्थ (पौरुष) से भाग्य की सिद्धि होती है, यह क्यों माना जाता है ? पुरुषार्थ जैसा होता है दैव या भाग्य (प्रारब्ध) भी वैसा ही होता है। दैवेकान्तपक्ष के दुराग्रह से यदि दैव से ही दैव की सिद्धि मानेंगे तो पुरुषार्थ निष्फल हो जायेगा और अनिर्मोक्ष अर्थात् मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जायेगा।

यदि पौरुष या पुरुषार्थ यानि प्रयत्न से अर्थसिद्धि मानी जाये तो दैव अर्थात् भाग्य या प्रारब्ध के कारण से पुरुषार्थ क्यों होता है ? अथवा पुरुषार्थ के होने में दैव को कारण क्यों माना जाता है ? अनुकूल प्रतिकूल दैव से

पुरुषार्थ की नियामकता या निमित्त-नैमित्तिकता तो होती ही है। अगर पुरुषार्थ (पौरुष) से ही पुरुषार्थ की सिद्धि मानेंगे तो सभी प्राणियों में पुरुषार्थ का होना अमोघ-अपरिहार्य या अचूक हो जायेगा तथा पुरुषार्थ कभी भी निष्फल नहीं हो सकेगा।

इसी प्रकार सर्वथा दैवैकान्त और सर्वथा पुरुषार्थैकान्त दोनों से भी अर्थसिद्धि नहीं मानी जा सकती है क्योंकि सर्वथा दैवैकान्त और पुरुषार्थैकान्त की एकात्मता उनमें परस्पर विरोध होने से नहीं हो सकती है तथा यह भी नहीं कहा जा सकता है। अर्थसिद्धि का कारण अवाच्य है अर्थात् कहा नहीं जा सकता है यह अवाच्यतैकान्त भी सही नहीं है क्योंकि 'वाच्य नहीं है' इस उक्ति से वह वाच्य हो जाता है।^{६८}

कथञ्चित् दैव और कथञ्चित् पुरुषार्थ से इष्टानिष्ट अर्थ की सिद्धि होती है। अपेक्षा से दोनों की ही भूमिका कार्यसिद्धि में समझी जाती है यह स्पष्ट करते हुये वे लिखते हैं -

“अबुद्धिपूर्वपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।

बुद्धि पूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्॥”^{६९}

अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कार्य होने की अपेक्षा होने पर इष्ट या अनिष्ट अर्थ की सिद्धि होती है, वह अपने दैव से होती है और बुद्धिपूर्वक कार्य होने की अपेक्षा होने पर इष्ट अनिष्ट अर्थ की सिद्धि होती है, वह स्वपुरुषार्थ से होती है। यहाँ बुद्धि पूर्वक कार्य करने में प्रयत्न या पुरुषार्थ मुख्य है और दैव या भाग्य गौण है। तथा अबुद्धि पूर्वक कार्य होने की स्थिति में दैव मुख्य है और पौरुष या पुरुषार्थ गौण है - यह समझना चाहिये।

नवम परिच्छेद -

इस परिच्छेद में चार कारिकाओं से आचार्य समन्तभद्र ने पुण्य और पाप बंध की अवधारणा को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि यदि सर्वथा ही यह मान लिया जाये कि दूसरों में दुख होने से उसमें निमित्त बनने वाले को तथा सुख होने से उसमें निमित्त बनने वाले को पुण्य का बंध होता है तो अचेतन पदार्थ एवं कषाय रहित मुनि जन दूसरों के सुखी होने में या दुखी होने में निमित्त बनते हैं तो उन दोनों को भी पुण्य पाप का बंध होना चाहिये।

इसी प्रकार यदि स्वयं को दुःखी करने से निश्चित ही पुण्य बंधता है

और स्वयं को सुखी करने से नियमतः पाप बंधती है तो वीतरागी और विद्वान् मुनि को भी बंध होना चाहिये क्योंकि वीतरागी और विद्वान् मुनि स्वयं को दुःख देने में निमित्त बनता है। अतः उसे पुण्य का बंध होना चाहिये। तथा अपने को सुखी करने में निमित्त मिलाता है और स्वयं भी सुखी होने का प्रयत्न करता है और उसे पाप बंधना चाहिये।

वास्तव में पुण्य पाप के बंध के लिये उपर्युक्त को सर्वथा कारण नहीं माना जा सकता है। कथञ्चित् ही उन्हें बंध हेतु माना जा सकता है। तथा उपर्युक्त दोनों को सर्वथा पुण्य पाप में हेतु मानने पर विरोध खड़ा हो जाता है और उनकी एकता स्वरूप उभयैकान्त बन नहीं सकता। अतः वह भी ठीक नहीं है। तथा अवाच्य है ऐसा कहकर भी बचा नहीं जा सकता है। अतः सर्वथा अवाच्यतैकान्त भी समीचीन नहीं हो सकता है।

यथार्थतः प्रतिपत्ति यह है कि स्व और पर सम्बन्धी सुख-दुःख यदि विशुद्धि और संक्लेश परिणामों के अंग या निमित्त बनते हैं तो विशुद्धि से पुण्य का आस्रव होता है और संक्लेश परिणामों से पाप का आस्रव होता है। पूर्वोक्त प्रवृत्तियों में भी विशुद्धि और संक्लेश परिणामों की भूमिका पुण्य पाप बंध में है। सुख दुःख में निमित्त बनने की क्रिया या प्रवृत्ति मात्र नहीं। यहाँ समन्तभद्र की कारिकायें इस प्रकार हैं -

“पाप ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यञ्च सुखतो यदि।

अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः॥

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि।

वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्जन्निमित्ततः॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।

अवाच्यतैकान्ते प्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥

विशुद्धिसंक्लेशांगञ्चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम्।

पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्वयर्थस्तवार्हतः॥”^{१७०}

दशम परिच्छेद :

इस परिच्छेद में १९ कारिकायें अवतरित हुई हैं। प्रारंभ में तीन कारिकाओं में अज्ञान मात्र से बंध होता है और अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, इन दो ऐकान्तिक मान्यताओं का खण्डनकर मोह रसहित अज्ञान से बंध होता है

तथा मोह रहित अल्प ज्ञान से मोक्ष होता है, को सिद्ध करके कथञ्चित् अज्ञान से बंध और कथञ्चित् अल्पज्ञान से मुक्ति होती है, को प्रतिष्ठित किया है। पुनश्च दो कारिकाओं में जीवों के संसार को सहेतुक पुरस्कृत कर दिया है। फिर दो कारिकाओं में प्रमाण और प्रमाणफल का उल्लेख है। तदन्तर ११ कारिकाओं में स्याद्वाद की सारगर्भित मीमांसा द्रष्टव्य है। अंतिम कारिका में आप्त मीमांसा करने का उद्देश्य सूचित किया गया है।

समन्तभद्र पूर्व एवं उत्तर पक्ष प्रस्तुत करने की चिंता किये बिना सारगर्भित कथन से अपना लक्ष्य हासिल कर लेते हैं। निम्न कारिकाओं में उनकी प्रतिभा को इस प्रकार देखा जा सकता है -

“अनाज्ञाच्चेद् ध्रुवो बन्धो ज्ञेयाऽनन्त्यान्न केवली।

ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा॥”

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युच्यते॥

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाऽज्ञानाद्वीतमोहतः।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा॥^{७९}

यहाँ स्पष्ट प्रतिपत्ति होती है कि यदि अज्ञान से निश्चित ही बंध होता है- यह मान लिया जाये तो संसार में प्राणियों के अज्ञान होने के कारण बंध होता ही रहेगा क्योंकि विद्यमान अनंत ज्ञेय पदार्थों को न जान पाने से जीव का अज्ञान जीव को बंध कराता रहेगा और वह कभी केवली (केवलज्ञानी, सर्वज्ञ) नहीं हो सकेगा।

इसका समाधान करने के लिये कोई कहे कि अल्पज्ञान से भी मोक्ष होता है। तो समन्तभद्र कहते हैं कि अल्पज्ञान से यदि मोक्ष होता है तो बहुत अज्ञान से बहुत बंध भी होना चाहिये अन्यथा कोई नियम नहीं रहेगा।

अज्ञान से नियमतः बन्ध होता है तथा अल्प ज्ञान से मोक्ष होता है, इन दोनों में परस्पर विरोध है क्योंकि जिसके अल्पज्ञान है उसके अज्ञान बहुत होगा ही फिर बहुत अज्ञान से बन्ध होता ही रहेगा। अतः अल्पज्ञान वाले के बन्धाभाव स्वरूप मोक्ष कैसे संभव है ? अतः सर्वविध अज्ञान से बंध और अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, यह उभयैकान्त भी सही नहीं माना जा सकता है।

जो अज्ञान है वह सर्वथा बन्ध को हेतु नहीं है किन्तु मोही के मोह

सहित अज्ञान बन्ध का हेतु है, उससे बंध है। किन्तु मोही का मोह बीत जाये तो मोहरहित अज्ञान बंध का हेतु नहीं है उससे बंध नहीं होता है। अतः अज्ञान कथञ्चित् बंध का हेतु है कथञ्चित् नहीं। किसी प्रकार मोह रहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है। मोह सहित अल्पज्ञान से तो बंध ही होता है। अतः अल्पज्ञान कथञ्चित् मोक्ष का हेतु है और कथञ्चित् बंध का हेतु भी है। यह सिद्ध हो जाता है।

संसार में प्राणियों की विचित्रता का उल्लेख करते हुये आचार्य समन्तभद्र बहुत महत्वपूर्ण और गंभीर उपदेश देते हैं -

“कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।

तच्च कर्मस्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः॥

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तित्वत्।

साद्यानन्दी तयोर्व्यक्ति स्वभावोऽतर्कगोचरः॥”^{७२}

संसार है। जहाँ जीवों का जन्म-मरण आदि के लिये गमनागमन रूप व्यवहार अच्छी तरह से अर्थात् निर्वाध रूप से हो सके वह संसार (सम्यक् सरणम् संसारः) है। अथवा जिसके कारण जीव यह संसरण करते हैं, वह संसार है। संसार में नाना जीव हैं और उनमें जो विचित्रता है वह अकारण नहीं है। आचार्य समन्तभद्र ने इंगित कर दिया है कि जीवों में जो कामादि वासनाओं या व्यवहारों, क्रियाकलापों की विचित्रता है वह उनके द्वारा बांधे गये कर्मों के अनुसार ही है। कर्मबंध भी जीवों को अकारण नहीं होता है। अपने योग अर्थात् योग्य कारणों के मिलने से ही जीव में कर्म का बंध होता है। जिन मोह और योग्य अर्थात् योग्य कारणों के मिलने से ही जीव में कर्म का बंध होता है। जिन मोह और योग्य जन्य परिणामों से जीव कर्मों से बंधता है उन्हें जीव ही करता है। जीव में वे परिणाम शुद्धि और अशुद्धि के कारण माने जा सकते हैं अर्थात् जीव जब अपनी शुद्धि का अभाव जानकर या उसे भूलकर या उससे अनजान रहकर अशुद्धि स्वरूप अशुद्ध योग और उपयोग को करता है अर्थात् मोह रागादिक परिणामों और मन-वचन-काय की क्रियाओं को करता है तो उसके इस अपने कारण से उसे कर्म का बंध होता रहता है। यहाँ शुद्धि को योग्यता एवं अशुद्धि को अयोग्यता या विकृत योग्यता (विकारी परिणाम) माना जा सकता है। अथवा शुद्धि को हम यहाँ उपादान मूलक योग्यता की मुख्यता से

कह सकते हैं। तथा अशुद्धि को निमित्त मूलक योग्यता की मुख्यता से कहा जाना संभव है। इससे कर्मबंध के लिये अपेक्षित कारणों की प्रादुर्भूति जीवों में उनके शुद्धयशुद्धि रूप हेतु से संभव हो जायेगी।

आचार्य समन्तभद्र स्वयं शुद्धि और अशुद्धि को शक्ति यानि योग्यता से परिभाषित करना चाहते हैं। उनके अनुसार शुद्धि और अशुद्धि की योग्यता रूप शक्ति उनकी अपनी है जैसे मूंग आदि में पकने या न पकने की शक्ति स्वयं की ही होती है। आचार्य समन्तभद्र इन दोनों शक्तियों को सादि और अनादि बताकर उनकी त्रैकालिक एवं किञ्चित् कालस्थिति को भी सूचित कर रहे हैं। कर्मबंध के लिये आत्मा में दोनों ही शक्तियों की व्यक्तियाँ अर्थात् परिणतियाँ स्वभावयोग्यता से उपादान एवं निमित्त कारणों की समग्रता में होती रहती हैं। यही प्रत्येक जीव की स्वभाव योग्यता है। स्वभाव को तर्क का विषय नहीं बनाया जा सकता है (स्वभावोऽतर्कगोचरः)।

इतनी गंभीर और महत्त्वपूर्ण प्ररूपणा करने के उपरांत स्तोत्रकार कहने लगते हैं। कि हे भगवन् ! आपका तत्त्वज्ञान यानि वास्तविक या वस्तुमूलक यथार्थ ज्ञान अथवा सबको युगपत् जानने वाला केवलज्ञान यहाँ प्रमाण है। उस केवलज्ञान के सहचर में हुये उपदेश को सुनकर गणधरों द्वारा प्रज्ञापित द्रव्यश्रुत को या तत्सहचर से जायमान क्रमवर्ति श्रुतज्ञान को प्रमाण कहते हैं। यह स्याद्वाद गर्भित नयों से संस्कारित है। इसी श्रुतज्ञान के बल से मैंने उपर्युक्त कथन किया है।

यहाँ केवलज्ञान रूप प्रमाण का फल तो उदासीनता या वीतरागता से जानने रूप उपेक्षा है तथा शेष का यानि तत्त्वज्ञान रूप श्रुतज्ञान का फल पदार्थों को जानकर उनके ग्रहण त्याग की बुद्धि बनाना है अर्थात् कौन पदार्थ या क्रिया ग्रहण योग्य है अथवा त्याग योग्य है, यह जानना है। तथा श्रुत ज्ञान का फल उपेक्षा भी है। अज्ञाननाश तो सभी प्रमाणों का साक्षात् फल है ही। कारिकायें इस प्रकार हैं -

“तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।

क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥

उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।

पूर्वा वाऽज्ञाननाशे वास सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे॥”^{१७३}

केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाण तथा श्रुतज्ञान द्रव्यश्रुत के रूप में आगम प्रमाण माना गया है। यह स्याद्वादनय से संस्कृत होता है अर्थात् द्रव्यश्रुत को समझने के लिये स्याद्वाद की विवेचना करना स्तोत्रकार को अभीष्ट हुई।

ग्रन्थकार ने स्याद्वाद की महत्ता का द्योतन करने के लिये ही स्याद्वाद और सर्वतत्त्व का प्रकाशन करने वाले केवल ज्ञान को प्रमाण की दृष्टि से पूर्ण प्रामाणिक कहा है। और दोनों में केवल साक्षात् (प्रत्यक्ष) और असाक्षात् (परोक्ष) का ही भेद बताया है तथा यह भी कह दिया है कि जो इन दोनों में किसी का भी विषय नहीं है, उसे अवस्तु ही समझना चाहिये।

समानधर्मा सपक्ष से साध्य का साधर्म्य होने से विवक्षित साध्य की सिद्धि के लिये वस्तु के किसी धर्म या अर्थ को स्याद्वाद से विभाजित करके प्ररूपित करने वाले अभिव्यञ्जक हेतु या अभिप्राय को हम नय कहते हैं। नयों उपनयों द्वारा त्रिकाल संबन्धी अनेक धर्मों का समुच्चय जहाँ हैं वहाँ उन धर्मों से अविभ्राड् सम्बन्ध (तादात्म्य सम्बन्ध) वाला द्रव्य एक भी है और अनेक भी कहा जा सकता है।

नयों, उपनयों के विषय भूत एकान्त रूप धर्म वस्तुगत अर्थात् द्रव्य के अंश ही माने गये हैं। प्रत्येक एकान्त मिथ्या नहीं होता है किन्तु वस्तु निरपेक्ष एकान्त मिथ्या होता है। मिथ्या एकान्तों का समूह तो मिथ्या वस्तु ही है और मिथ्यैकान्तता हम नयवादियों या स्याद्वादियों की नहीं है। वस्तु सापेक्ष एकान्त ही सम्यक् एकान्त है और उनके समूह रूप वस्तु को ही स्याद्वादियों ने स्वीकार किया है तथा उसे सही अर्थक्रियाकारी माना है।

स्याद्वाद में अनेकान्तात्मक अर्थ या वस्तु का नियमन विधिनिषेध वाक्यों से किया जाता है। इसलिये पदार्थ को विधि (तथात्व) और निषेध (अन्यथात्व) रूप में अवश्य जानना चाहिये अन्यथा वस्तुओं का अपना कोई विशेषत्व नहीं रहेगा और सारी वस्तुयें एक या एकरूप हो जायेंगी।

इसलिये यह स्याद्वाद वाणी तदतद् स्वरूप वाली वस्तु को विधि निषेध वाक्यों से प्ररूपित करने वाली है। किन्तु मृषा वाक्यों से वस्तु तत् स्वरूप या अतत् स्वरूप वाली ही है, ऐसा प्ररूपण करने वाली वाणी सत्य नहीं मानी जा सकती है। मिथ्या वाक् या असत्त्यार्थ वचनों से तत्त्वार्थ की

देशना कैसे संभव है ? अर्थात् नहीं है।

वाणी का स्वभाव होता है कि वह अपने सामान्य अर्थ का प्रतिपादन तथा अन्य वागर्थ के प्रतिषेध में निरंकुश होता है अर्थात् अपने विषय का प्ररूपण करता है और तदन्य विषय का निराकरण करता है। यदि वचन सर्वथा अन्यापोह रूप अर्थ का ज्ञापन करें अर्थात् सर्वथा निषेध ही करे तो वह आकाश कुसुम के समान ही होगा। अर्थात् वह अवस्तु ही कहलायेगा।

‘वस्तु’ है इत्यादि सामान्य वचन अन्यापोह रूप विशेष के कथन में प्रवृत्त होते हैं, यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि अन्यापोह शब्द का वाच्य-अर्थ उपलब्ध नहीं होता है। इसलिये अन्यापोह के प्ररूपक शब्द मिथ्या हैं। इसलिये अभिप्रेत अर्थ विशेष की प्राप्ति के लिये स्यात्कार से मुद्रांकित और सत्य के लाञ्छन से चिह्नित स्याद्वाद ही माना गया है।

वस्तुतः वही विधेयवाक्यस्वरूप वाद (वचन व्यवहार) अभीष्ट अर्थ को द्योतित करने में कारण हो सकता है, जो प्रतिषेध्य का अविरोधी होता है। विधेय को प्रतिषेध्य का अविरोधी मानने पर ही वस्तु में आदेयत्व और हेयत्व सिद्ध होता है जिससे वह वस्तु उपादेय या हेय स्वीकृत हो जाती है। इस प्रकार स्याद्वाद संस्थिति ग्रंथकार ने यहाँ की है।

अन्त में समापन करते हुए ग्रंथकार कहते हैं- इस प्रकार यह आप्तमीमांसा ग्रंथकार के द्वारा हित चाहने वाले जिज्ञासुजनों के लिये सम्यक् और मिथ्या उपदेश और अर्थ में विशेष (भेद) ख्यापित करने के लिये की गयी है। यथा -

“इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।

सम्यङ्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये॥”^{७४}

संदर्भ :

६७. तदेव ८८-८७

७०. तदेव ९२-९५

७३. तदेव १०१-१०२

६८. तदेव ९०

७१. तदेव ९६-९८

७४. तदेव ११४

६९. तदेव ९१

७२. तदेव ९९-१००

- अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग,
रा० संस्कृत संस्थान, जयपुर
(राजस्थान)

ज्ञाताधर्मकथांग का सांस्कृतिक अवदान

डॉ. योगेश कुमार जैन, सहायक आचार्य

जैन धर्म दर्शन एवं संस्कृति विशेषकर आचार-विचार का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए आगम ग्रन्थों का आलोड़न-विलोड़न करना अपरिहार्य है, अतएव उनका महत्व स्वतः सिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी जैन धर्म-दर्शन का प्राचीनतम स्वरूप एवं सांस्कृतिक विरासत आगमों में ही उपलब्ध होता है।

आगम शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसका अर्थ :

‘आड्र’ उपसर्ग-पूर्वक भ्वादिगणीय ‘गम्लृ-गतौ’ धातु से अच् प्रत्यय करने पर अथवा इसी धातु के करण अर्थ में ‘घञ्’ प्रत्यय करने पर आगम शब्द निष्पन्न होता है।^१ प्रामाणनयतत्त्वालोक- आप्त वचन ही आगम है।^२ अर्थ ज्ञान जिससे हो, वह भी आगम है।^३ प्रामाणनयतत्त्वालोकालंकारकार की दृष्टि से आप्त-पुरुष की वाणी से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह आगम है।^४ जहाँ तक आप्त-पुरुष की वाणी का सम्बन्ध है, तीर्थकर, गणधर, चतुर्दसपूर्वधारी, दसपूर्व-धारी तथा प्रत्येक बुद्ध की वाणी को जैन दर्शन में आगम माना है। आचार्यों ने पूर्वापर दोष रहित सम्पूर्ण पदार्थों के द्योतक आप्त वचन को बताया है।^५ अर्हत् भगवान् अर्थ रूप में तत्त्वों और सत्य का यथार्थ निरूपण करते हैं तथा गणधर उसे शासनहित में उन्हें सूत्र रूप में गुम्फित करते हैं।^६ इसी कारण जैन आगम तीर्थकर प्रणीत कहे जाते हैं।^७ आप्त वचनादि से होने वाले ज्ञान को आगम कहते हैं।^८

आगम एवं श्रुत केवली भगवान के द्वारा जो कहा गया है तथा गणधर के द्वारा जो धारण किया गया है उसे श्रुत कहते हैं।^९ आचार्य उमास्वाति ने श्रुत के पर्यायवाची शब्द के रूप में आगम शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिहा, आमनाय, प्रवचन और जिनवचन को श्रुत के पर्यायवाची शब्द के रूप में स्वीकार किया है।^{१०} वस्तुतः यहाँ श्रुत शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतएव आचार्य परम्परा से जो श्रुत

ज्ञान आया है, वह ही आगम कहलाता है।^{१२}

आगमों की भाषा :

जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी है। भगवान महावीर अर्धमागधी भाषा में धर्म का व्याख्यान करते थे। अर्धमागधी प्राकृत भाषा का ही एक रूप है। इस भाषा को देव भाषा कहा गया है अर्थात् देवता अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं। प्रज्ञापना में इस भाषा का प्रयोग करने वाले को भाषार्य कहा गया है। यह मगध के आधे भाग में बोली जाती थी तथा इसमें अठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं। इसमें मागधी शब्द के साथ-साथ देश्य शब्दों की भी प्रचुरता है। इसलिए यह अर्धमागधी कहलाती है।

आगम के कर्ता :

जैन परम्परा के अनुसार आगम पौरुषेय है। मीमांसक जिस प्रकार वेद को अपौरुषेय मानता है, जैन की मान्यता उसमें सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार कोई ग्रंथ अपौरुषेय हो ही नहीं सकता है तथा ऐसे किसी भी ग्रंथ का प्रामाण्य भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। जितने भी ग्रंथ हैं उनके कर्ता अवश्य हैं। जैन परंपरा में तीर्थंकर सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक पुरुष है उनके द्वारा अभिव्यक्त प्रत्येक शब्द स्वतः प्रमाण है। वर्तमान में उपलब्ध संपूर्ण जैन आगम अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर से जुड़ा हुआ है। अर्थागम के कर्ता तीर्थंकर हैं एवं सूत्रागम के कर्ता गणधर एवं स्थविर हैं। अर्थ का प्रकटीकरण तीर्थंकरों द्वारा होता है। गणधर उसे शासन के हित के लिए सूत्र रूप में गुम्फित कर लेते हैं। गणधर केवल द्वादशांग की रचना करते हैं। अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं। वे गणधरकृत आगम से ही निर्यूहण करते हैं। स्थविर दो प्रकार के होते हैं- १. चतुर्दशपूर्वी २. दर्शपूर्वी। ये सदा निर्ग्रन्थ प्रवचन को आगे करके चलते हैं। एतदर्थ उनके द्वारा रचित ग्रंथों में द्वादशांगी से विरुद्ध तथ्यों की संभावना नहीं होती। अतः इनको भी जैन परम्परा आगम के कर्ता के रूप में स्वीकार करती है।

ज्ञाताधर्मकथांग और संस्कृति के तत्त्व :

अंग साहित्य में ज्ञाताधर्मकथांग का छठा स्थान है। इसके दो श्रुत स्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में ज्ञात अर्थात् उदाहरण और द्वितीय श्रुतस्कंध में धर्मकथाएं हैं। यही कारण है कि इस आगम को “णायाधम्मकहाओ” भी

कहा जाता है। इस ग्रंथ में मुख्यतः उदाहरणों, कथाओं के माध्यम से आत्म उन्नति का मार्ग, मार्ग में समागत व्यवधान तथा व्यवधानों का उचित समाधानों की सांगोपांग व्याख्या की गई है। जीवन में उत्थान के लिए व्याख्यायित इन कथाओं में तत्कालीन संस्कृति के अनुभव का अमृत समाहित है।

ज्ञाताधर्मकथांग में तत्कालीन संस्कृति की महक मौजूद है। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित सामाजिक-जीवन, राजव्यवस्था, धार्मिक मत-मतान्तर, आर्थिक जीवन, भौगोलिक स्थिति, शिक्षा, कला तथा विज्ञान आदि विषयों का विवेचन किया गया है। ज्ञाताधर्मकथांग में जहाँ सुखी पारिवारिक जीवन के सूत्र मिलते हैं, वहीं उत्तरदायी शासन व्यवस्था का उत्कर्ष भी दृष्टिगोचर होता है। समाज सेवा के विविध प्रसंग तत्कालीन संस्कृति को 'परहित सरसि धर्म नहीं भाई' की भावना के समीपस्थ प्रस्तुत करते हैं। कथाओं के माध्यम से जैनधर्म और दर्शन के विविध पहलुओं के साथ-साथ अन्य धर्मों एवं मतों के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त जानकारी दी गई है। श्रेणिक, मेघकुमार, धन्यवार्थवाह, थावच्चागाथापत्नी, राजा जितशत्रु, दुपद राजा व काली रानी आदि के अपार वैभव से तत्कालीन आर्थिक स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इन कथाओं से स्पष्ट है कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध तत्कालीन संस्कृति का उज्ज्वल पक्ष था। शिक्षा केवल सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक भी थी।

ज्ञाताधर्मकथांग में भौगोलिक स्थिति :

शिक्षा, अर्थव्यवस्था, राजनैतिक व सामाजिक स्थिति आदि संस्कृति को प्रभावित करने वाले विभिन्न घटक भौगोलिक परिवेश से अप्रभावित नहीं रह सकते। तत्कालीन भौगोलिक स्थिति से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं तथा संसार, नरक, अधोलोक, जम्बूद्वीप, रत्नद्वीप, घातकीखण्ड, नन्दीश्वर द्वीप, कालिक द्वीप, महाविदेह व पूर्वविदेह आदि तथा द्वीप, नगर, पर्वत, नदियाँ, ग्राम, उद्यान, वन, वनस्पति आदि भौगोलिक विश्लेषण का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में विविध अध्यायों में किया गया है।

द्रोणमुख, पट्टन, पुटभेदन, कर्वट, खेट, मटम्ब, आकर, संवाह, आश्रम, निगम व सन्निवेश आदि विभिन्न प्रकार के नगरों का संक्षिप्त विवेचन करते हुए राजगृह, चम्पा आदि महत्वपूर्ण नगरों की भौगोलिक स्थिति का वर्णन भी

इसमें किया गया है। द्रोणमुख, पट्टन, कर्वट, खेट, मटम्ब, आश्रम, निगम आदि विभिन्न प्रकार के नगरों का संक्षिप्त विवेचन के साथ राजगृह, चमपा आदि महत्त्वपूर्ण नगरों का इसमें वर्णन है। इसमें विभिन्न राजमहलों का भी उल्लेख आया है। उन्हीं संदर्भ में भवन निर्माण कला का वर्णन करते हुए भवन के विभिन्न प्रमुख अंगों-द्वार, स्तम्भ, गर्भगृह, अगासी, अट्टालिका, प्रमदवन, मण्डप, उपस्थानशाला, अन्तःपुर, शयनागार, भोजनशाला, प्रसूतिगृह, भाण्डागार, श्रीगृह व चारकशाला आदि की स्थिति व्यक्त की गई है।

ज्ञाताधर्मकथांग में सामाजिक जीवन :

ज्ञाताधर्मकथांग में सामाजिक स्थिति से जुड़े विभिन्न पहलुओं को उजागर किया है। यहाँ बतलाया गया है कि तत्कालीन परिवार में पति-पत्नी के अलावा माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि रहते थे। परिवार मुखिया वयोवृद्ध सदस्य या पिता होता था और सब परिजन उसकी आज्ञा का पालन करते थे।¹² सामाजिक शिष्टाचार में अतिथि-सत्कार को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त विविध संस्कारों का विधान भारतीय संस्कृति में रहा है। जन्म, नामकरण, राज्याभिषेक, विवाह व दीक्षा आदि संस्कारों का वर्णन भी यहां प्राप्त होता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित नारी जहाँ एक ओर अपने शीलाचार और सतीत्व के कारण पुरुष तो क्या देवताओं तक की आराध्य है वहीं दूसरी तरफ वह व्यभिचारिणी स्त्री के रूप में प्रकट हुई है। वह साध्वी के रूप में मानव को आत्मकल्याण का पथ दिखलाती है तो गणिका के रूप में जनमानस के बीच कला की उपासिका बनकर उभरती है।¹³

समाज अप्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त था। बहुपत्नीकवाद, वेश्यावृत्ति, देहजप्रथा, दासप्रथा, हत्या, अपहरण, लूटपाट आदि बुराइयाँ समाज के भाल पर कलंक थीं, वहीं दूसरी ओर समाज में प्रचलित आश्रम-व्यवस्था व्यक्ति को चरम लक्ष्य-मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए अभिप्रेरित करती थी।

ज्ञाताधर्मकथांग और अर्थव्यवस्था :

‘अर्थ’ जीवन रक्त के समाज है, इसके बिना सांस्कृतिक अभ्युत्थान की कल्पना नहीं की जा सकती है। अर्थव्यवस्था की दिशा और दशा का

विश्लेषण भी इसमें किया गया है। कृषि अर्थव्यवस्था की धुरी थी। कृषि पूर्णतः वैज्ञानिक ढंग से की जाती थी लेकिन किसी प्रकार के रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग नहीं किया जाता था, जो स्वास्थ्य के प्रति उनकी जागरूकता का प्रमाण है। सिंचाई के साधन के रूप में पुष्करिणी, तालाब, सरोवर, बावड़ी आदि थे। चावल, सरसों, उड़द आदि मुख्य फसलें थी। कृषि, दूध, यातायात, चमड़ा और मांस के लिए पशु पाले जाते थे। अप्रत्यक्ष रूप में वस्त्र, धातु, बर्तन, काष्ठ, चर्म, मद्य व प्रसाधन आदि उद्योगों का उल्लेख मिलता है। लोग शिल्पादि विभिन्न कलाओं के द्वारा भी अर्थोपार्जन करते थे। तत्कालीन समृद्धि के शिखर पुरुष-श्रेणिक, मेघ, जितशत्रुराजा, धन्यसार्थवाह, नन्दमणिकार आदि आधुनिक आर्थिक जगत् के आदर्श बन सकते हैं। आधुनिक वित्त-व्यवसाय की भांति उस समय भी पूंजी के लेन-देन का व्यवसाय प्रचलन में था। देशी-व्यापार स्थलमार्ग से और विदेशी-व्यापार जलमार्ग से होता था।^{१४} परिवार के विभिन्न साधन-रथ, बैलगाड़ी, हाथी, घोड़ा, नौका, पोत, जलयान आदि थे।^{१५} माप-तौल की प्रणालियों के रूप में गणिम, धरिम, मेय और परिच्छ प्रचलन में थी। सिक्कों का चलन सीमित था।^{१६} अधिकांश लेन-देन वस्तु-विनिमय के माध्यम से होते थे।

ज्ञाताधर्मकथांग और राज्यव्यवस्था :

राज्य के सप्तांग के रूप में राज्य, राष्ट्रकोश, कोठार, बल (सेना), वाहन, पुर (नगर) और अन्तःपुर का नामोल्लेख मिलता है। राजा राज्य का सर्वोपरि होता था। राजा राज्योचित-गुण संपन्न थे। उनमें क्षत्रियोचित सभी गुण विद्यमान थे। राजा वंश परम्परा से ही बनते थे। राज्याभिषेक समारोह अत्यन्त भव्यता से मनाया जाता था। सामान्यतः ज्येष्ठ पुत्र को राजा बनाया जाता था और कनिष्ठ पुत्र को युवराज बना दिया जाता था। यद्यपि राजव्यवस्था विकेन्द्रित नहीं थी, लेकिन राज्य का संचालन करने के लिए राजा अपने अनुचरों के रूप में अमात्य, सेनापति, श्रेष्ठी, लेखवाह, नगररक्षक, तलवार, दूत, कौटुम्बिक पुरुष, दास-दासियां व द्वारपाल आदि रखता था। राजा और राज्य का अस्तित्व सैन्य संगठन के हाथे में सुरक्षित रहता है। चतुरंगिनी सेना, सेनापति, सारथी और वीर योद्धा युद्ध में मुख्य भूमिका निभाते थे। धनुष, तलवार, भाला, मूसल आदि हथियार प्रचलन में थे। राज्य के आय-स्रोत के रूप में चुंगी, कर, जुर्माना,

ऋण आदि प्रचलन में थे। राज्य द्वारा अर्जित अधिकांश भाग राजकोश में जमा रहता था और कुछ धन सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर व्यय कर दिया जाता था।

ज्ञाताधर्मकथांग और शिक्षा व्यवस्था :

प्राचीन कालीन से मानव जीवन में शिक्षा का स्थान सर्वोपरि रहा है। बालक को आठ वर्ष का होने पर ज्ञानार्जन के लिए गुरु के पास भेजा जाता था जहाँ वह बहत्तर कलाओं की शिक्षा प्राप्त करता था। शिक्षा के विषय मुख्यतः अध्यात्म केन्द्रित थे।¹⁰ इनके अलावा वास्तुशास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र, संगीत, चित्रकला, वाणिज्यशास्त्र आदि विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी।

गुरु शिष्य के सम्बन्धों पर ही सफल शिक्षण व्यवस्था की नींव आधारित होती है। महावीर-मेघ और शैलक-पंथक जैसे प्रसंग क्रमशः वात्सल्य व समर्पण के प्रतिमान हैं। जहाँ एक ओर गुरु शिष्य को डूबने से बचाता है, वहीं दूसरी ओर शिष्य गुरु को अपनी गरिमा का भान करवाता है।

ज्ञाताधर्मकथांग और कला :

ज्ञाताधर्मकथांग में बहत्तर कलाओं का विवेचन किया गया है। उत्सव-महोत्सव आदि के अवसर पर नर-नारी अपनी कलाओं का प्रदर्शनकर लोगों का मनोरंजन करते थे। लोग सौंदर्य प्रेमी थे, अतः प्रसाधन से जुड़ी विभिन्न कलाएं भी प्रचलन में थीं। पुष्करिणी, प्रसाद, चित्रसभा, भोजनशाला, मार्ग, नगर आदि का उल्लेख वास्तुकला के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। उस समय के लोग युद्ध कला में भी पारंगत थे। देवदत्ता गणिका चौंसठ कलाओं में निपुण थी। तत्कालीन कलाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृति में कलाओं की प्रधानता थी। लोगों का जीवन कलाओं से अनुप्रमाणित होने के कारण सरस था।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, शैक्षिक, कला, भौगोलिक तथा आर्थिक अवदानों को स्पष्ट करने वाले इस छोटे अंग आगम का अध्ययन हमें हमारी पुरातन धरोहर अर्थात् सांस्कृतिक विरासत का ज्ञान कराने वाला होने से अत्यन्त उपयोगी है।

संदर्भ :

१. (क) शब्द भा. १, पृ. १६५ (ख) वाच. भा. - १, पृ. १६४
२. (क) आप्त वचन वा। अनु. सू., पृ. ३८ (ख) जै. आ. द., पृ. २३
३. जै. आ. द., पृ. २३ ४. आप्तवचनादिविर्भूतमर्थसंवेदनामः - प्र. नय. त., ४/१
५. सुतं गणधरकधिद तहेव पत्तेयबुद्धकधिकदं च।
सुदकेवलिणाकधिदं अभिण्णदसपुव्विं- कथिदं च॥ - मूला. ५/८०
६. (क) पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपतो दोषसंहतेः।
द्योतक सर्वभावानामाप्तव्याहतरागमः॥ जै. सि. को. पृ.-२३७ (ख) नियम., गाथा-८
७. आप्त वचनादि अत्थं भासइ अरहा सुतं गन्थन्ति गणहरा निउणं सासणस्स हियट्ठाए तो
सुतं पवत्तइ॥ आ. नि., गाथा-१९२ ८. नंदीसू., ४०
९. (क) आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। - जै.सि.को., पृ. २३७
(ख) परीक्षा, ३/९५
१०. तदुपदिष्टं बुद्धचातिषयद्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम्। - जै.सि.को., पृ. २३८
११. श्रुतमाप्तवचनं आगम उपदेश ऐतिह्यमाम्नायः प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम्।
सभाष्यतत्त्वार्थातिगमसूत्र, १/२०
१२. ज्ञाताधर्मकथांग, १/७/४ १३. ज्ञाताधर्मकथांग, १/१३/१२-१८
१४. ज्ञाताधर्मकथांग, १/८/५३-५५ १५. ज्ञाताधर्मकथांग, १/२/६, १/५/६, १/३/६ आदि।
१६. ज्ञाताधर्मकथांग, १/१/१३८, १७. ज्ञाताधर्मकथांग, १/१/९८, १/५/६

- जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राजस्थान)

प्राकृतभाषा का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय

- मनोज कुमार, शोध छात्र

भारतीय आर्य भाषा :

मानव जन्म के साथ भाषा का विस्तार एवं विकास अवश्य ही हुआ है। इसी क्रम में भाषा के अनेक परिवार विकसित हुए हैं। उन परिवारों में भारोपीय परिवार प्राकृत भाषा से सम्बन्धित है। भाषा के १. ईरानी २. दरद ३. आर्य परिवार हैं। इन परिवारों में से प्राकृत भाषा आर्य परिवार से सम्बन्ध रखती है। भारतीय आर्य भाषा परिवार के तीन भाग हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा परिवार (१६०० ई. पू. से ६०० ई. पू. तक) मध्यकालीन आर्य भाषा काल (६०० ई. पू. से १०० ई. पू. तक)^१ वर्तमान आर्य भाषा काल (१०० ई. पू. से वर्तमान समय तक) प्राकृत भाषा का इन तीनों कालों से किसी न किसी रूप से सम्बन्ध बना हुआ है।

भाषा परिवर्तन :

शब्द ध्वनि, वाक्य और अर्थ को आधार मानकर भाषा में परिवर्तन होता है। श्रुति सुख और वचन सुख को ध्यान में रखकर कहीं ध्वनि परिवर्तन और कहीं शब्द परिवर्तन होता है उदाहरण के लिये वह मेरे साथ ही है, इस वाक्य में हम वचन सुख एवं श्रुति सुख दोनों को ध्यान में रखते हुये कहते हैं, वह मेरा साथी है।

प्राचीन आर्य भाषा :

वैदिक भाषा प्राचीन आर्य भाषा है। प्राचीन आर्य भाषा का स्वरूप ऋग्वेद की ऋचाओं में सुरक्षित है।^२ वेद आर्यों के प्रमुख ग्रन्थ हैं। वेद ग्रन्थों में लोक भाषा की विशेषता जो भी प्राप्त होती है वे भी भाषा की पुरातनता को सिद्ध करती है। ध्वान्यात्मक और व्याकरणात्मक सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्राकृत भाषा लम्बे समय तक जन सामान्य के बोल चाल की भाषा रही है। महावीर, बुद्ध तथा उनके चारों ओर दूर-दूर तक के विशाल जन समूह को मातृभाषा के रूप में प्राकृत ही उपलब्ध हुई। जिस प्रकार वैदिक भाषा को आर्य संस्कृति की भाषा होने का गौरव प्राप्त है, उसी प्रकार प्राकृत भाषा को आगम

भाषा एवं आर्य भाषा होने की प्रतिष्ठा प्राप्त है। वह लोक के साथ-साथ साहित्य के धरातल को भी स्पर्श करने लगी। इस लिए उसे राज्याश्रय और स्थायित्व प्राप्त हुआ।³ प्राकृत भाषा के इस जनाकर्ष के कारण कालिदास आदि महाकवियों ने अपने नाटक ग्रन्थों में प्राकृत भाषा बोलने वाले पात्रों को प्रमुख स्थान दिया। *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* की ऋषिकन्या शकुन्तला, नाटककार भास की राजकुमारी वासवदत्ता, शूद्रक की नगरवधू वसन्तसेना तथा प्रायः सभी नाटकों के राजा के मित्र, कर्मचारी आदि पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत जन समुदाय की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। अथर्ववेद में जन भाषा के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। महाभारत, रामायण आदि काव्यों के बाद प्राकृत एवं पाली भाषा जो अध्यात्म और साहित्य में प्रयुक्त हुई। जिसके केन्द्र बिन्दु आगम, त्रिपिटक एवं प्राकृत शिलालेख आदि हैं। अतः वैदिक युग से महावीर एवं बुद्ध पर्यन्त प्राकृत भाषा का विकास हुआ।

प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति :

प्राक्+कृत् पद से प्राकृत है। प्राक्+कृत् शब्द का अर्थ पूर्वकृत् लोगों के व्याकरण आदि संस्कार रहित सहज/स्वाभाविक वचन व्यवहार प्रकृति है, इससे उत्पन्न जो है वह प्राकृत है। जो भाषा प्रकृति से, स्वभाव से, स्वयं ही सिद्ध है, उसे प्राकृत कहते हैं।⁴

प्राकृत के भाषा प्रयोग एवं काल दृष्टि से तीन भेद किये जा सकते हैं-

१. आदि युग २. मध्य युग ३. अपभ्रंश युग

आदि युग : प्राकृत भाषा जन भाषा थी। इस प्राकृत के प्रमुख पांच रूप प्राप्त होते हैं।

आर्ष प्राकृत शिलालेखी प्राकृत निया प्राकृत
धम्मपद की प्राकृत अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत⁴

१. आर्ष प्राकृत-

आचार्य हेमचन्द्र ने आर्ष प्राकृत को ऋषि भाषित कहा है। भगवान् महावीर और बुद्ध के पश्चात् आर्ष पुरुषों, महापुरुषों और ऋषिगणों की जो भाषा थी, वह भाषा आर्ष भाषा है। महावीर और बुद्ध के वचनों को आर्ष वचन भी कहा जाता है क्योंकि उनके द्वारा जन भाषा का आश्रय लेकर लोक कल्याण के लिए उपदेश दिये गये। जिसके अर्थ को उनके शिष्यों के द्वारा सूत्रबद्ध किया गया। आचार्यों, महापुरुषों और काव्य साहित्य में प्रवीण जनों

के द्वारा काव्य सृजन करके आर्ष भाषा के विकास में अत्याधिक योगदान दिया। आगमों की भाषा को आर्ष प्राकृत कहना उचित है। आर्ष प्राकृत के तीन प्रकार हैं- i. पालि ii. अर्धमागधी iii. शौरसेनी।

i. पालि -

भगवान् बुद्ध के वचनों का संग्रह जिन ग्रन्थों में हुआ है, उन्हें त्रिपिटक कहते हैं। इन ग्रन्थों की भाषा को पालि कहा गया है। पालि का अर्थ है, पंक्ति, परिधि या सीमा। यह पालि भाषा आर्ष है। पालि मूलतः मगध की भाषा थी। पालि को प्राकृत भाषा का ही एक प्राचीन रूप स्वीकार किया जाता है। पालि भाषा बुद्ध के उपदेशों तथा तत्सम्बन्धी साहित्य तक ही सीमित हो गयी थी। इसी कारण पालि भाषा का आगे चलकर अन्य भाषाओं की तरह विकास नहीं हुआ, यद्यपि प्राकृत की सन्तति निरंतर बढ़ती रही। पालि का साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। अतः प्राचीन भारतीय भाषाओं को समझने के लिये पालि भाषा का ज्ञान आवश्यक है।

ii. अर्धमागधी-

यह मान्यता है कि महावीर ने अर्धमागधी भाषा में उपदेश दिये थे।^६ उन उपदेशों को अर्धमागधी और शौरसेनी प्राकृत में संकलित किया गया है।^७ कुछ विद्वान् इस भाषा को अर्धमागधी इसलिये कहते हैं कि इसमें आधे लक्षण मागधी प्राकृत के और आधे अन्य प्राकृत के पाये जाते हैं।^८

iii. शौरसेनी-

शूरसेन प्रदेश में प्रयुक्त होने वाली जनभाषा को शौरसेनी प्राकृत के नाम से जाना गया है। अशोक के शिलालेखों में भी इसका प्रयोग है। प्राचीन आचार्यों षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों की रचना शौरसेनी प्राकृत में की है और आगे भी अनेक आचार्यों ने शताब्दियों तक इस भाषा में ग्रंथ लिखे जाते रहे हैं। नाटकों में पात्र शौरसेनी भाषा का प्रयोग करते हैं। इसका प्रचार मध्यप्रदेश में अधिक था।

2. शिलालेखी प्राकृत-

शिलालेखी प्राकृत के प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। जन समुदाय में प्राकृत भाषा बहु प्रचलित थी और राजकाज में भी उसका प्रयोग होता था। अशोक के शिलालेख प्राकृत भाषा की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं ही, साथ ही वे तत्कालीन संस्कृति के जीते जागते प्रमाण भी हैं।

खारवेल का हाथी गुफा शिलालेख, उदयगिरि एवं खण्डगिरि के शिलालेख तथा आन्ध्र राजाओं के प्राकृत शिलालेख का साहित्यिक और इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान हैं। प्राकृत भाषा के अनेक रूप इन में उपलब्ध हैं।¹⁸ खारवेल के शिलालेख में उपलब्ध नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं पंक्ति में प्राकृत के नमस्कार मंत्र का प्राचीन रूप प्राप्त होता है।

३. निया प्राकृत -

प्राकृत भाषा का प्रयोग भारत के पड़ौसी प्रान्तों में भी बढ़ गया था। इस बात का पता, निय प्रदेश (चीनी, तुर्किस्तान) से प्राप्त लेखों की भाषा से चलता है, जो प्राकृत भाषा से समानता रखती है। इन लेखों की प्राकृत भाषा का सम्बन्ध दरदी वर्ग की तोखारी भाषा के साथ है। अतः प्राकृत भाषा में इतनी लोच और सरलता है कि वह देश विदेश की किसी भाषा से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकती है।¹⁹

४. धम्मपद की प्राकृत भाषा-

जिस प्रकार पालिभाषा में लिखा धम्मपद उपलब्ध होता है उसी तरह प्राकृत भाषा में भी लिखा गया प्राकृत-धम्मपद उपलब्ध होता है, प्रो. एन. एच. साम्ताणी, वाराणसी ने पालि एवं प्राकृत धम्मपद का तुलनात्मक अध्ययन किया है जो तिब्बती उच्च शिक्षण संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित हुआ है। प्राकृत धम्मपद को बी.एम. बरूआ और एस. मित्र ने सन् १९२१ में कलकत्ता से प्रकाशित किया है। यह खरोष्ठी लिपि में लिखा गया था।²⁰

५. अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत-

अश्वघोष के नाटकों में अर्धमागधी, शौरसेनी और मागधी भाषा की विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। अश्वघोष का शारिपुत्र-प्रकरण ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। नाटकों में मागधी का प्रयोग आदिवासी भील शवर आदि करते हैं। शौरसेनी भाषा का प्रयोग स्त्रीपात्र और रविदूषक करते हैं। तपस्वी, योगी, साधक अर्धमागधी भाषा बोलते हैं।²¹ इसलिये इन नाटकों की भाषाओं का अपना महत्वपूर्ण स्थान है।

मध्य युग :

प्राकृत भाषा का यह युग समस्त विधाओं से समृद्ध था। इस युग में काव्यों की बहुलता थी। इसी युग में कथा, चरित, पुराण एवं महाकाव्य आदि को पुष्पित और फलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्राकृत के इस साहित्यिक स्वरूप को महाराष्ट्री प्राकृत कहा गया है। इसी युग में गुणादय ने बृहत्कथा

नामक कथा ग्रंथ प्राकृत में लिखा, जिसकी भाषा पैशाची कही गयी है। इस तरह इस युग के साहित्य में प्रमुख रूप से जिन तीन प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है वे हैं- i. महाराष्ट्री ii. मागधी iii. पैशाची।

i. महाराष्ट्री प्राकृत -

महाराष्ट्र प्रान्त की जनबोली से विकसित प्राकृत का नाम महाराष्ट्री प्रचलित हुआ है। इसने मराठी भाषा के विकास में भी योगदान किया है। महाराष्ट्री प्राकृत के वर्ण अधिक कोमल और मधुर प्रतीत होते हैं, अतः विशेष रूप से यह प्राकृत काव्यों की भाषा बनकर हमारे सम्मुख आई।^{१३}

ii. मागधी -

मगध प्रदेश की जनभाषा को सामान्य तौर पर मागधी प्राकृत कहा गया है। मागधी राज भाषा थी, अतः इसका सम्पर्क भारत की अनेक बोलियों के साथ हुआ। इसलिसे पालि, अर्धमागधी आदि प्राकृतों के विकास में मागधी प्राकृत को मूल माना जाता है। इसमें अनेक लोक भाषाओं का समावेश है। मागधी का प्रयोग अशोक के शिलालेखों में हुआ है और नाटककारों ने अपने नाटकों में इसका प्रयोग किया है।^{१४}

iii. पैशाची प्राकृत -

देश के उत्तर-पश्चिम प्रान्तों के कुछ भाग को पैशाच देश कहा जाता था। वहाँ पर विकसित इस जनभाषा को पैशाची कहा गया है। प्राकृत भाषा से समानता होने के कारण पैशाची को भी प्राकृत का एक भेद मान लिया गया है। इस भाषा में बृहत्कथा को लिखा गया, किन्तु वह मूल रूप से प्राप्त नहीं है। उसके रूपान्तर प्राप्त हैं, जिस से मूल ग्रन्थ का महत्त्व सिद्ध होता है।^{१५}

इस प्रकार मध्ययुग में प्राकृत भाषा का जितना विकास हुआ, उतनी ही उसमें विविधता आयी। प्राकृत के वैयाकरणों ने साहित्य के प्रयोगों के आधार पर महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण के कुछ नियम निश्चित कर दिये। उन्हीं के अनुसार कवियों ने अपने ग्रन्थों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया। उसका जन जीवन से सम्बन्ध घटता चला गया और वह साहित्य की भाषा बन कर रह गयी।

अपभ्रंश युग :

प्राकृत एवं अपभ्रंश इन दोनों भाषाओं का क्षेत्र प्रायः एक जैसा था। दोनों भाषाएं जनबोलियों से विकसित हुई हैं। दोनों ही स्वतन्त्र भाषाएं हैं। दोनों का अपना पृथक् अस्तित्व है। प्राकृत में सरलता की दृष्टि से जो बाधा रह गयी

थी, उसे अपभ्रंश भाषा ने दूर करने का प्रयत्न किया। कारको विभक्तियों, प्रत्ययों के प्रयोग में अपभ्रंश निरन्तर प्राकृत से सरल होती गयी है।

अपभ्रंश प्राकृत, हिन्दी भाषा को जोड़ने वाली कड़ी है। महाकवि स्वयंभू अपभ्रंश का आदिकवि कहा जा सकता है। इसके बाद महाकवि रङ्गधू तक कई महाकवियों ने इस भाषा को समृद्ध किया।^{१६}

अर्धमागधी प्राकृत का स्थान आदि युग की प्राकृत में है। इस प्राकृत की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। भगवान महावीर ने अपना व्याख्यान अर्धमागधी प्राकृत भाषा में ही दिया था, आगम इस बात का उल्लेख करते हैं। इस समय यह भाषा लोक भाषा के रूप में प्रचलित थी। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगम जिन का कि पूर्व उल्लेख किया जा चुका है वे इसी भाषा में हैं।

समीक्षा :

किसी भी भाषा के व्याकरण को समझने के लिये उसके व्याकरण पक्ष का ज्ञान होना भी अति आवश्यक होता है। व्याकरण के अन्तर्गत स्वर का ज्ञान, व्यंजन का ज्ञान, स्वर परिवर्तन, व्यंजन परिवर्तन, संज्ञा विधान, संधि, समास, शब्द रूप, धातु रूप इन सब का ज्ञान होना अति आवश्यक है, इनके ज्ञान के बिना आगम शास्त्र की विशेषता को समझा नहीं जा सकता। जब उस शास्त्र की भाषा की विशेषता को नहीं समझा जा सकता, तब उसके अंदर निहित तत्त्व का ज्ञान कैसे किया जा सकता है।

संदर्भ :

१. प्राकृत स्वयं शिक्षक, पृ. १
२. प्राकृत हिन्दी शब्द कोश भाग-१
३. प्राकृत स्वयं शिक्षक, पृ. ३
४. प्राकृत हिन्दी शब्द कोष, भाग-१, पृ. १७
५. प्राकृत हिन्दी शब्द कोष, भाग-१, पृ. १९
६. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्मं आइक्खइ-समवायांगसूत्र पृ.९८
७. महहद्ध विसयभासानिबद्धं अद्धमागही, निशीथसूत्र
८. प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास, पृ. ३५
९. प्राकृत स्वयं शिक्षक पृ. १०
१०. वही, पृ. १०
११. प्राकृत हिन्दी शब्द कोश, पृ. १०
१२. प्रा. हि. श. कोश, पृ. ३३
१३. वही, पृ. १२
१४. प्राकृत स्वयं शिक्षक, पृ. १२
१५. प्राकृत स्वयं शिक्षक, पृ. १३
१६. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

- गुरु गोविंद सिंह रेलीजिएस स्टडीज विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला-१४७००२ पंजाब

पुस्तक समीक्षा

(१) पुस्तक - 'आत्मवृत्तम्' (स्वयं लेखक का काव्यमय जीवन वृत्त) रचयिता- पं. लालचंद जैन 'राकेश' प्रकाशक- माँ भगवतीदेवी जैन स्मृति एवं पारमार्थिक न्यास भोपाल (म०प्र०), प्रथमावृत्ति- १०००, प्रकाशन वर्ष २०१४, मूल्य ५००. पृष्ठ-१५०

भाग-१ में विद्वान-मनीषी प्रो. डॉ. रतनचन्द्र भोपाल, प्रा० पं. निहालचंद जैन (बीना), इन्जी. अनिल जैन आदि के आत्मवृत्तम् पर समीक्षात्मक लेख हैं जबकि भाग-२ में पं. लालचंद जी ने लगभग २० उपशीर्षकों में स्वयं का पद्यात्मक- जीवनवृत्त लिखा है। भाग ३ में पारिवारिक परिचय है। आत्मकथा लिखना और यथार्थता से साझा करना बहुत मुश्किल होता है। लेखक पं. लालचंद 'राकेश' की साहित्य सपर्या में लगभग ६० कृतियों का सृजन का ब्यौरा है।

(२) पुस्तक - जिन- गुणानुवाद - मंजरी (काव्य संग्रह), रचयिता- पं० लालचंद जैन 'राकेश', प्रकाशक- दि० जैन महिला समाज-अयोध्या नगर, भोपाल (म०प्र०), प्रथमावृत्ति- १०००, वर्ष २०१४, मूल्य: ५००., पृष्ठ-१८२, प्रस्तावना- रमेशचन्द्र मनयाँ, इतवारा, भोपाल।

१११ विविध विषयों पर काव्याञ्जलि का एक सुन्दर-सर्वग्राही संग्रह इसे भक्ति का अमृत कलश कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

(३) चारु वसंता : 'कन्नड़-हिन्दी का साहित्यिक-सांस्कृतिक सेतु'

चारु वसंता मूलतः कन्नड़ भाषा में लिखित, पुराकथानक पर आधारित एक प्रेरक रचना है। रचनाकार हैं कवि प्रो० हंपा नागराजय्या जो साहित्य जगत के आदर्श उदाहरण हैं। चारु वसंता - नायक चारुदत्त एवं नायिका वसंततिलका नामक गणिका की प्रेमकथा है। इसे पाँच काण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम काण्ड- कथा काण्ड है। द्वितीय- सुन्दर काण्ड, तृतीय-

‘उन्मुख काण्ड’ चतुर्थ- ‘उद्योग काण्ड एवं पाँचवाँ द्वावाकाण्ड है। हिन्दी अनुवादक- श्री एच. वी. रामचन्द्र राव। प्रकाशक- कहं प्रकाशन, राजाजिनगर बेंगलूर, प्रकाशन वर्ष-२०१३, पृष्ठ-३४०, मूल्य : २५०रु.।

अनुवादक ने ‘परकाया प्रवेश’ की साधना करते हुए ऐसा मूलवत् अनुवाद किया कि वह अनुवाद प्रतीत नहीं होता। रचना- पाठक को डूबते रहने की प्रेरणा देती है।

(४) कवि पण्डित दौलतराम कृत - छहढाला का हिन्दी गद्य और कवितानुवाद- डॉ. जयकुमार ‘जलज’, प्रकाशक- हिन्दी ग्रंथ कार्यालय ९ हीराबाग, सी.पी. टैंक, मुम्बई-४००००४। प्रथम संस्करण-२०१४, मूल्य: रु. १००, पृष्ठ-८८

डॉ. जयकुमार जैन ‘जलज’ ने अपने प्राक्कथन में लिखा- पण्डित दौलतराम की कविता में अनुभूति की आर्द्रता के साथ जैन सिद्धान्त और जैन विचारों की दृढ़ जमीन है। छहढाला की प्रत्येक ढाल का अपना एक अलग छन्द है। छहढाला का कवितानुवाद (गद्य-गीत में) प्रथम बार प्रकाशित हुआ है, जो डॉ. ‘जलज’ जैसे भाषा विज्ञानी कवि का सफल/सार्थक प्रयास है। आत्म को हित है सुख.....तीसरी ढाल छंद ३३ का कवितानुवाद की बानगी देखें- “आत्मा तलासती सुख/ सुख ही आत्मा का हित सुख आकुलता का नहीं/ निराकुलता की सन्तति/ सिर्फ मोक्ष ही ऐसी सत्ता/ जहाँ निराकुलता बसती है। लेकिन उस तक जाते हैं व्यवहार मार्ग से/ जो निश्चय का पहुँच मार्ग है। इस ताकतवर और प्रवाहपूर्ण कवितानुवाद ने छहढाला को एक अभिनव चिन्तन का द्वार खोल दिया है। यद्यपि द्वितीय संस्करण प्रेस में है फिर भी क्या प्रकाशक ने इसका मूल्य अधिक रखकर इसकी लोकप्रियता को बाधित नहीं किया है ? डॉ० जलज जी अभी हाल में ‘हिन्दी साहित्य सम्मेलन’ प्रयाग के सर्वसम्मति से राष्ट्रीय अध्यक्ष मनोनीत हुए हैं।

(५) बुन्देलखण्ड जैन तीर्थ दर्शन एवं तीर्थ वन्दना की डीवीडी
संकल्पना- शैलेन्द्र जैन, अलीगढ़ (०९४१२२७२५७७)
प्राप्ति स्थान- आस्था, १९५, आवास विकास सासनी गेट, अलीगढ़ (उ.प्र.)
पुस्तिका एवं डीवीडी - निःशुल्क

पुस्तिका में बुन्देलखण्ड के ३२ प्रमुख तीर्थों का सचित्र एवं संक्षिप्त वर्णन है। प्रत्येक तीर्थ के लिए सम्पर्क सूत्र, मूलनायक विवरण, मन्दिरों की संख्या तथा निकटवर्ती क्षेत्र का विवरण दिया गया है। आर्ट पेपर पर रंगीन प्रिंटिंग एवं आकर्षक गेट-अप है। डीवीडी में २० तीर्थ क्षेत्रों का मनोहारी दर्शन दर्शाए गये हैं। दोनों उपयोगी एवं संग्रहणीय हैं।

(६) आचार्य देवसेन की कृतियों में दार्शनिक दृष्टि (शोध प्रबन्ध)

शोध प्रबन्ध लेखक- डॉ. आलोक कुमार जैन, उपनिदेशक वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-११०००२

उक्त शोध प्रबन्ध ६ अध्यायों में विभक्त है। परिशिष्ट के अन्तर्गत स्थविर कल्प एवं जिनकल्प साधुओं के स्वरूप का उल्लेख किया गया है तथा इसके दूसरे भाग में विभिन्न संघों की उत्पत्ति का संक्षिप्त वर्णन है।

शोध प्रबन्ध की विशेषता यह है कि प्रत्येक अध्याय का समापन उसके सारांश द्वारा किया गया है। प्रत्येक अध्याय के वर्ण्य विषय निम्न हैं-

१. आचार्य देवसेन की कृतियों में तात्त्विक दृष्टि
२. आचार्य देवसेन की कृतियों में नयात्मक दृष्टि
३. आचार्य देवसेन की कृतियों में गुणस्थान विवेचन
४. आचार्य देवसेन की कृतियों में साधनापरक दृष्टि
५. आचार्य देवसेन की कृतियों में अन्य मतों की समीक्षा
६. आचार्य देवसेन की कृतियों में अध्यात्मपरक दृष्टि

यदि इसका पुस्तकाकार प्रकाशन हो जाय तो आचार्य देवसेन पर एक विस्तृत एवं विहंगम दृष्टि विद्वानों एवं समाज को प्राप्त हो सकेगी।

समीक्षक - पं. निहालचंद जैन, निदेशक
वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, नई दिल्ली

पाठकों के पत्र.....

‘अनेकान्त’ का मैं नियमित पाठक हूँ। पिछले कुछ वर्षों से ‘अनेकान्त’ में जो सुधार देखने में आ रहा है, उसमें नई ऊर्जा एवं नवीन शोधकर्ताओं को स्थान देकर उनका उत्साहवर्धन कर रहे हैं। भिन्न-भिन्न विषयों पर नई सोच के साथ समाज को अवगत कराने में आपकी पत्रिका का योगदान अवश्य ही सराहनीय है। लेखों के चयन आदि के लिए संपादक/सम्पादक मण्डल को मेरा साधुवाद।

समाज में श्रावकों/ श्रमणों के प्रति किसी शिथिलता को महसूस कर, प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर आगाह करने में आपकी पैनी नजर से विसंगतियों के प्रति समाज में जागरूकता लाना भी प्रशंसनीय है।

- अनिल जैन, राजधानी पेपर डिस्ट्रीब्यूटर्स,
१०९, प्रकाश महल, दरियागंज, नई दिल्ली-०२

शोध जैन पत्रिकाओं में ‘अनेकान्त’ का स्थान वरीयता को प्राप्त है। जैनदर्शन के विभिन्न विषयों के अलावा धर्मिक-अनुष्ठान संबन्धी आलेख (सन्दर्भ अंक ६७/३) प्रकाशित होते रहते हैं। पंचकल्याणक की विभिन्न क्रियाओं में आ रहीं विसंगतियों पर पं. विनोदकुमार रजवाँवास का लेख पठनीय है। वीरसेवामन्दिर की सकारात्मक गतिविधियों में ‘अनेकान्त’ का प्रकाशन स्तुत्य है। सम्पादक एवं प्रकाशकगण बधाई के पात्र हैं।

- पं. संतोषकुमार जैन, व्याख्याता
राज. सीनियर सेकण्डरी स्कूल, सीकर (राज०)

अनेकान्त का जुलाई-सितम्बर २०१४ का अंक प्राप्त हुआ। डॉ. जयकुमार जैन का ‘पुरातत्त्व एवं नवनिर्माण’ पर सम्पादकीय लेख पढ़ा। लेख बहुत अच्छा है। देहरादून की जैन धर्मशाला की स्थिति के बारे में लिखा। वर्तमान में जैन धर्मशालाओं की स्थिति दयनीय होती जा रही है जिस पर समाज को ध्यान देना चाहिए। मुखपृष्ठ पर वीर सेवा मन्दिर का लोगो नयनाभिराम लगा। प्रायः सभी शोधलेख स्तरीय एवं प्रामाणिक लगे।

- सचिन जैन, एकाउण्टेंट, बड़ौत (उ.प्र.)

वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

क्रं.	पुस्तक ग्रंथ का नाम	लेखक/टीकाकार का नाम	मूल्य
१.	उपासना तत्त्व तथा उपासना का ढंग	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	५ रु.
२.	जैन लक्षणावलि भाग-२,३	पं. बालचंद सिद्धांत चक्रवर्ती	१५०० रु.
३.	युगवीर निबंधावली प्रथम खण्ड	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	२१० रु.
४.	जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भाग-२	पं. परमानंद शास्त्री	१५० रु.
५.	मेरी भावना अंग्रेजी सहित	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	स्वाध्याय
६.	महावीर जिन पूजा	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	१० रु.
७.	स्तुति विद्या	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	७० रु.
८.	श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	२० रु.
९.	समंतभद्र विचार दीपिका	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	३० रु.
१०.	ध्यान शतक तथा ध्यान स्तव	पं. बालचंद सिद्धांतशास्त्री	१०० रु.
११.	दिगम्बरत्व की खोज	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	१०० रु.
१२.	परम दिगंबर गोम्पटेश्वर	नीरज जैन, सतना	७५ रु.
१३.	Jain Bibliography I&II	Chhotelal Jain	१५०० रु.
१४.	निष्कम्प दीप शिखा	पं. पद्मचंद शास्त्री	१२० रु.
१५.	हम दुःखी क्यों हैं	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	१० रु.
१६.	Basic Tenets of Jainism	Sh. Dashrath Jain	१० रु.
१७.	समयपाहुड	रूपचंद कटारिया	स्वाध्याय
१८.	वारसाणुवेक्खा	आ.कुंदकुंद (संकलित)	स्वाध्याय
१९.	महावीर का सर्वोदय तीर्थ	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	१० रु.
२०.	अनेकान्त त्रैमासिक शोध पत्रिका	डॉ. जयकुमार जैन	८० रु. वार्षिक
२१.	तत्त्वानुशासन	आचार्य रामसेन	१०० रु.
२२.	समीचीन धर्मशास्त्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	१५० रु.
२३.	Pure Thoughts	Acharya Amitgati	५० रु.
२४.	सर्वधर्म समन्वय असहमत संगम	बैरिस्टर चम्पतराय जैन	१२५ रु.

नोट :- उक्त सभी ग्रन्थ ४० प्रतिशत कमीशन पर वीर सेवा मंदिर में विक्रय हेतु उपलब्ध हैं। धनराशि चैक/ड्राफ्ट अथवा मनीआर्डर द्वारा भेजी जा सकती है। वी.पी.पी. से भेजने का प्रावधान नहीं है, पोस्टेज खर्च अतिरिक्त देय होगा।

- महामंत्री